संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास

[बी० ए० एवं शास्त्री परीक्षा के पाठ्यक्रमानुसार]

लेखक

आचार्य श्री बलदेव उपाध्याय

प्राप्तावकाश सञ्चालक, अनुसंधान-संस्थान

वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय,

वाराणसी

शारदा संस्थान, वाराणसी-५

प्रकाशक | शारदा संस्थान
रवीन्द्रपुरी, दुर्गाकुण्ड
वाराणसी-५

मूल्य | सात रुपये

विभिन्न विश्वविद्यालयों के बी० ए०, आचार्य एवं शास्त्री
परीक्षाओं के लिए स्वीकृत पाठ्य ग्रन्थ

मुद्रक | सुदर्शन मुद्रक, ६३/४२ बेनिया, वाराणसी

वक्तव्य

संस्कृत साहित्य के इतिहास का यह छात्रोपयोगी संस्करण प्रस्तुत करते हुए मुझे विशेष हर्ष हो रहा है। संस्कृत भाषा में निबद्ध साहित्य इतना विशाल है कि उसे एक छोटे से कठघरे में बेखटके बन्द नहीं किया जा सकता। परन्तु साधारण छात्रों तथा जिज्ञासुओं के निमित्त यह दूभर काज करना ही पड़ रहा है। संस्कृत साहित्य से परिचय रखना प्रत्येक शिक्षित का कर्तव्य है—अधिक नहीं तो थोड़ा ही सही; परन्तु परिचय यह नितान्त आवश्यक है। संस्कृत साहित्य के मर्मस्थलों के जिज्ञासु जनों को दृष्टि में रखकर ही यह छोटा ग्रन्थ प्रस्तुत किया गया है।

इसमें केवल ललित साहित्य—काव्य तथा नाटक—का ही विश्लेषण किया गया है। इस साहित्य की प्रेरणाप्रद पृष्ठभूमि के रूप में भारत के राष्ट्रीय महाकाव्य, कविजनों में आदर्श तथा सर्जन के लिए उपजीव्य रामायण तथा महाभारत का वर्णन संक्षेप में किया गया है। अन्त में इस साहित्य के परखने वाले आचार्यों की आलोचना के सिद्धान्तों का भी विवरण विषय की पूर्णता के निमित्त किया गया है। यह कोई नीरस इतिहास ही नहीं है जो केवल ग्रन्थ और ग्रन्थकारों का विवरण प्रस्तुत करने वाला शुष्क हुआ करता है; प्रत्युत कवियों के चुने हुये सरस श्लोकों का विवेचनात्मक मंजुल उदाहरण उपन्यस्त करने वाला सहज रस से आवर्जित ग्रन्थ है। तत्तत् काव्य-प्रकारों के उदय तथा अभ्युदय, उत्पत्ति तथा विकास दिखलाने का यहाँ पूर्ण प्रयत्न किया गया है जिससे यह केवल ग्रन्थों की विस्तृत सारणी न होकर तथ्य-संवलित वास्तव इतिहास की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत करता है। विषय-विस्तार के जिज्ञासुओं को मेरी एतद्विषयक अन्य रचनायें 'भारतीय साहित्य' और 'संस्कृत आलोचना'—का अध्ययन अपेक्षित है।

परिशिष्ट में उच्च परीक्षाओं के एतद्विषयक प्रश्नपत्र भी संकलित किये गये हैं। यथार्थता के निमित्त ये अपने मौलिक रूप में ही विन्यस्त हैं। ये प्रश्नपत्र विभिन्न विश्वविद्यालयों के हैं। एम०ए० तथा बी० ए० परीक्षाओं

के अतिरिक्त 'भारतीय शासन सेवा' (इन्डियन एडमिनिस्ट्रेटिभ सरविस) से भी सम्बन्ध रखते हैं। ये केवल छात्रों के ही लिए उपयोगी नहीं हैं, प्रत्युत उचित दिशा दर्शाने के लिए अध्यापकों के लिए भी नितान्त महत्त्वपूर्ण हैं। ग्रन्थ को सुचारु रूप देने के लिए पं० परमेश्वर पाण्डेय, आचार्य (साहित्य एवं पालि) एवं चि० रवीन्द्र कुमार दुबे बी० एस्-सी० (धातु-विज्ञान) आशीर्वाद के पात्र हैं।

"विद्या-विलास"
दीपावली, २०२६
६ नवम्बर १९६९,

—बलदेव उपाध्याय

विषयानुक्रमणिका

प्रथम परिच्छेद

द्वितीय परिच्छेद

तृतीय परिच्छेद

चतुर्थ परिच्छेद

पञ्चम परिच्छेद

षष्ठ परिच्छेद

विभिन्न कथा-साहित्य

सप्तम परिच्छेद

नाटकों का अभ्युदय—

अष्टम परिच्छेद

संस्कृत वाङ्मय

प्रथम परिच्छेद

संस्कृत भाषा और साहित्य

हमारी संस्कृत भाषा संसार भर की भाषाओं में श्रेष्ठ है। हमारा संस्कृत साहित्य समग्र सभ्य साहित्यों से प्राचीनता, व्यापकता तथा अभिरामता में बढ़कर है। यदि इस भूमि-वलय पर कोई भी भाषा सबसे प्राचीन होने की अधिकारिणी है, तो यही हमारी संस्कृत-भाषा ही है। अपनी ऊँची सभ्यता पर गर्व करने वाली जातियाँ जब जंगलों में घूम-घूम कर केवल संकेतमात्र से अपने मनोगत भावों को प्रकट किया करती थीं, उस समय अथवा उससे भी बहुत पहले हमारे पूजनीय पूर्वज आर्य लोग इसी देववाणी के द्वारा सरस्वती के किनारे भगवान् की विभूतियों की पूजा में रहस्यमयी ऋचाओं का उच्चारण तथा सरस सामों का गायन किया करते थे। उसी समय उन्होंने आध्यात्मिक जगत् की समस्याओं को सुलझाकर अपने उन्नत मस्तिष्क का परिचय दिया था। संसार में सबसे प्राचीन ग्रन्थ और हमारे धर्म-सर्वस्व वेद भगवान् इसी गौरवमयी गीर्वाण-वाणी में आराधनीय ऋषियों के द्वारा परमात्मा की आन्तरिक प्रेरणा से दृष्ट हुए हैं। अध्यात्म की गुत्थियों को सुलझानेवाले तथा मानव मस्तिष्क के चरम विकास को प्रकट करने वाले उपनिषद् भी इसी भाषा में अभिव्यक्त किये गये हैं। पृथिवी की उत्पत्ति से लेकर प्रलय तक का विस्तृत तथा विविध इतिहास प्रस्तुत करनेवाले पुराणों की रचना इसी सुन्दर भाषा में की गई है। आर्यों की प्राचीन रीतियों, रूढ़ियों और परम्पराओं का

प्रशस्त तथा सर्वाङ्गीण वर्णन उपस्थित करनेवाले धर्मशास्त्रों की निर्मिति भी इसी भाषा में हुई है। सारांश यह है कि लौकिक अभ्युदय तथा पारलौकिक निःश्रेयस की सिद्धि के साधक जितने ज्ञान और विज्ञान हैं, जितने कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड हैं, जितने शास्त्र और पुराण हैं, उन सबको अवगत करने का उपाय इसी संस्कृत भाषा के द्वारा है। एक वाक्य में हम कह सकते हैं कि हमारा साहित्य परा तथा अपरा विद्याओं का मनोरम भाण्डागार है, जिसके रहस्यों का पता संस्कृत भाषा के ज्ञान से ही किया जा सकता है। इन्हीं सब कारणों से हमारी संस्कृत भाषा परम महनीया, विद्वज्जनमाननीया तथा सौभाग्यशोभनीया है।

संस्कृत साहित्य का महत्त्व

साहित्य का अर्थ

'साहित्य' शब्द और अर्थ के मंजुल सामंजस्य का सूचक है। इसकी व्युत्पत्ति 'सहितस्य भावः साहित्यम्' अर्थात् सहित शब्द तथा अर्थ का भाव। इस मौलिक अर्थ में इस शब्द का प्रयोग हमारे काव्य ग्रन्थ तथा अलङ्कार ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर दीख पड़ता है। महाकवि भर्तृहरि ने संगीत तथा साहित्य से विहीन पुरुष को जब पशु कहा, तब उनका अभिप्राय साहित्य से उन कोमल काव्यों से है जिनमें शब्द और अर्थ का अनुरूप सन्निवेश हो। शास्त्र और साहित्य का अन्तर यही है कि शास्त्र में अर्थप्रतीति के लिये ही शब्द का प्रयोग किया जाता है, परन्तु काव्य में शब्द और अर्थ दोनों एक ही कोटि के होते हैं, न तो कोई घटकर रहता है, न बढ़कर। इसी अर्थ को दृष्टि में रखकर राजशेखर ने साहित्य विद्या को पञ्चमी विद्या कहा है, जो मुख्य चार विद्याओं का (पुराण, न्याय दर्शन, मीमांसा, धर्मशास्त्र) सारभूत है। बिल्हण ने अपने 'विक्रमाङ्कदेवचरित' में काव्यरूपी अमृत को साहित्य-समुद्र के मन्थन से उत्पन्न होने वाला बतलाया है। इस प्रकार साहित्य शब्द का प्रयोग संकुचित अर्थ में काव्य, नाटक आदि के लिये होता है, परन्तु इधर साहित्य शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में होने लगा है। साहित्य से अभिप्राय उन ग्रन्थों से है जो किसी भाषा विशेष में निबद्ध किये गए हों। इस अर्थ में 'वाङ्मय' शब्द का प्रयोग उचित प्रतीत होता है। अंगरेजी भाषा में प्रयुक्त 'लिटरेचर' शब्द के लिये ही साहित्य का प्रयोग इधर होने लगा है। इस ग्रन्थ में साहित्य का प्रयोग केवल संकुचित अर्थ में ही नहीं किया गया है, यद्यपि अधिक लोकप्रिय होने के कारण काव्य, नाटक का वर्णन कुछ विस्तार के साथ किया गया है।

संस्कृत साहित्य की प्राचीनता

संस्कृत साहित्य की महत्ता को प्रदर्शित करने वाले अनेक कारण विद्यमान हैं। सर्वप्रथम प्राचीनता की दृष्टि में यह साहित्य बेजोड़ है। इतना प्राचीन साहित्य कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। पश्चिमी विद्वानों की दृष्टि में मिश्रदेश का साहित्य सबसे प्राचीन माना जाता है, परन्तु वह भी कितना प्राचीन है? विक्रम से केवल चार हजार वर्ष पूर्व। हमारे यहाँ ऋग्वेद की रचना के समय के विषय में पर्याप्त मतभेद है। कुछ विद्वान् लोग ऋग्वेद की रचना हजारों वर्ष पूर्व मानते हैं। यदि उस मत को अयुक्तिपूर्ण होने से हम मानने के लिये प्रस्तुत न भी हों तो भी उस मत में तो हमें आस्था रखनी ही पड़ेगी, जिसे लोकमान्य बालगङ्गाधर तिलक ने अकाट्य गणित के प्रमाण के ऊपर निर्धारित किया है। उनका कहना है कि ऋग्वेद के अनेक सूक्तों की रचना विक्रम से कम से कम छः हजार वर्ष पूर्व अवश्य हुई थी। यही मत आजकल का प्रामाणिक मत है। इसके अनुसार संस्कृत साहित्य के सर्वप्रथम ग्रन्थ का निर्माण आज से लगभग आठ हजार वर्ष पहले हुआ था। कोई भी साहित्य इतना प्राचीन नहीं है। साहित्य की तबसे जो धारा प्रवाहित हुई वह आज तक अविराम गति से चली आ रही है। अन्य साहित्यों का इतिहास देखने से प्रतीत होता है कि वह साहित्य अनुकूल परिस्थितियों में पनपता है, प्रवाह कुछ दिन तक अवश्य जारी रहता है; परन्तु विषम परिस्थिति के उपस्थित होते ही वह प्रवाह बिल्कुल धीमा हो जाता है, परन्तु संस्कृत साहित्य में यह दोष नहीं दीख पड़ता। वेदों की मन्त्रसंहिताओं की रचना के अनन्तर उनकी व्याख्या का काल आता है। उस समय जो ग्रन्थ रचे गये उन्हें 'ब्राह्मण' नाम से पुकारते हैं। ब्राह्मणों के अनन्तर आरण्यकों की रचना हुई, तदनन्तर उपनिषदों की; पीछे रामायण, महाभारत और पुराणों का युग आता है। इसके बाद काव्य, नाटक, गद्य, पद्य, कथा, आख्यायिका, स्मृति और तन्त्र के निर्माण का समय आता है, जो मध्ययुग से पहले साहित्यप्रेमी भारतीय नरेशों की छत्रछाया में खूब ही पनपा। इस प्रकार संस्कृत साहित्य की अविच्छिन्न परम्परा आठ अजार वर्षों से निरन्तर चली आ रही है। प्राचीनता की दृष्टि से यदि विचार किया जाय अथवा अविच्छिन्नता की कसौटी पर इसे कसा जाय तो यह साहित्य नितान्त महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है।

संस्कृत साहित्य की व्यापकता

संस्कृत साहित्य सर्वाङ्गीण है। यह सब अङ्गों से परिपूर्ण है। मानव जीवन के लिये चार ही पुरुषार्थ हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। संस्कृत साहित्य में इन चारों पुरुषार्थों का विवेचन बड़े विस्तार तथा विचार के साथ किया गया है। साधारण लोगों की यह धारणा बनी हुई है कि संस्कृत साहित्य में केवल धर्मग्रन्थों का ही बाहुल्य है, परन्तु बात कुछ दूसरी है। प्राचीन ग्रन्थकारों ने भौतिक जगत् के साधनभूत अर्थशास्त्र और कामशास्त्र के वर्णन की ओर भी अपनी दृष्टि फेरी है। कौटिल्य का अर्थशास्त्र तो प्रसिद्ध ही है। इस एक ग्रन्थ के ही अध्ययन से हम संस्कृत साहित्य में लिखे गये राजनीति-शास्त्र से भली-भाँति सर्वाङ्गीण परिचय प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु इसके सिवाय भी एक विशाल साहित्य अर्थशास्त्र के सम्बन्ध में है। कामशास्त्र भी हमारी उपेक्षा का विषय कभी नहीं था। जिस विषय के ज्ञान के ऊपर मानव-जीवन का सौख्य निर्भर है, भला उस विषय का चिन्तन कभी उपेक्षा का विषय हो सकता है? वात्स्यायन मुनि ने कामसूत्र में गार्हस्थ्य जीवन के लिये उपादेय साधनों का वर्णन थोड़े में बड़े अच्छे ढंग से किया है। इसी सूत्र को आधार मान कर अनेक ग्रन्थों की रचना कालान्तर में की गई। विज्ञान, ज्योतिष, वैद्यक, स्थापत्य, पशु-पक्षी सम्बन्धी लक्षण-ग्रन्थ संस्कृत साहित्य में प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं। धर्म और मोक्ष सम्बन्धी रचनाओं के विषय में तो चर्चा करना ही व्यर्थ है। सच तो यह है कि यहाँ प्रेयःशास्त्र तथा श्रेयःशास्त्र उभय शास्त्रों के अध्ययन की ओर प्राचीन काल से विद्वानों की प्रवृत्ति रही है। प्रेयःशास्त्र वह है जिसमें संसार में सुख देने वाली विद्याओं का वर्णन हो और श्रेयःशास्त्र वह है जिसमें इस प्रपञ्च के दुःखों को दूर करने वाले मोक्षोपयोगी विषयों का विवेचन हो। इन दोनों प्रकार के शास्त्रों की रचना संस्कृत साहित्य में उपलब्ध हो रही है। अन्य साहित्यों की ऐसी दशा नहीं। मिश्रदेश के साहित्य में है क्या? जीवन को सुखमय बनाने वाली विद्याओं का तो अत्यधिक वर्णन है, परन्तु हृदय को विकसित करने वाली कला का न तो कहीं पता है और न अध्यात्मविषयक विवेचन की कहीं चर्चा है। जिस देश में ऊँचे-ऊँचे महलों के बनाने वाले तथा उसे सुसज्जित करने वाले इंजीनियर ही परम पूजा के आस्पद हों, भला उस देश के साहित्य में सर्वाङ्गीणता कहाँ से आ सकती है? पश्चिमी विद्वानों का कहना है कि संस्कृत साहित्य का जो अंश छपकर प्रकाशित हुआ है वह भी ग्रीक और लैटिन साहित्यों के ग्रन्थों से दुगुना है। जो अभी तक

हस्तलिखित ग्रन्थ के रूप में पड़ा हुआ है या किसी प्रकार नष्ट हो गया है उसकी गणना ही अलग है।

संस्कृत साहित्य की धार्मिक दृष्टि

धार्मिक दृष्टि से भी संस्कृत साहित्य विशेष गौरव रखता है। जो व्यक्ति आर्यों के मूल धर्म के स्वरूप को जानने का इच्छुक हो, उसे वेदों का पढ़ना बहुत जरूरी है। वेदों में आर्य-धर्म का विशुद्ध रूप उपलब्ध होता है। भारतीय धर्म तथा दर्शन की भिन्न-भिन्न शाखाएँ कालान्तर में उत्पन्न हुईं तथा नवीन मतों का भी प्रचार हुआ। परन्तु इनके यथार्थ रूप को जानने के लिये वेदों का अध्ययन आवश्यक सा है। वेद वह मूल स्रोत है जहाँ से नाना प्रकार की धार्मिक धाराएँ निकल कर मानव-हृदय तथा मस्तिष्क को सदा से आप्यायित करती आई हैं। हम भारतवासियों के लिये ही नहीं, प्रत्युत अन्य देशों के लिये भी संस्कृत साहित्य का अनुशीलन धार्मिक दृष्टि को लक्ष्य में रखकर विशेष उपादेय है। वेदों के अनुशीलन का ही फल है कि पश्चिमी विद्वानों ने तुलनात्मक पुराण-शास्त्र (Comparative Mythology) जैसे नवीन शास्त्र को ढूंढ़ निकाला है। इस शास्त्र से पता चलता है कि प्राचीन काल में देवताओं के सम्बन्ध में लोगों के क्या विचार थे, तथा किन-किन उपासना के प्रकारों से वे उनकी कृपा प्राप्त करने में सफल होते थे।

संस्कृत साहित्य की सांस्कृतिक दृष्टि

सांस्कृतिक दृष्टि से संस्कृत साहित्य का गौरव और भी विशेष रूप से दीख पड़ता है। इतिहास के पृष्ठों में यह बात प्रमाणित हो चुकी है कि भारतीय लोग अन्य देशों में अपने प्रभुत्व को, अपनी सभ्यता को, अपनी संस्कृति को फैलाने के लिए सदा से उद्योगशील रहे हैं। उन्होंने प्रशान्त महासागर के द्वीप समूहों में जाकर अपने उपनिवेश स्थापित किये थे। भारतवर्ष और चीन के बीच में जो विशाल प्रायद्वीप है उसे आज 'हिन्द चीन' (इण्डो चीन) कहते हैं। इससे सूचित होता है कि उसका आधा अंश हिन्द का और आधा अंश चीन का है। परन्तु १२ वीं और १४ वीं शताब्दी से पहले इसमें चीन का कुछ भी अंश न था। यह बिलकुल 'हिन्द' ही था। बहुत पहले यहाँ जंगली जातियाँ रहती थीं, परन्तु सुवर्ण की खान होने के कारण जिन भारतीय नाविकों ने इन स्थानों का पता लगाया उन्होंने इसे 'सुवर्णभूमि' तथा द्वीपों को 'सुवर्णद्वीप' नाम दिया। अशोक के समय यहाँ

भी बुद्ध का उपदेश पहुँचाया गया। विक्रम के आरम्भ से लेकर १४ वीं शताब्दी तक अनेक भारतीय राज्य यहाँ बने रहे, जिनमें संस्कृत राजभाषा के रूप में व्यवहृत होती थी। कम्बोज में मनु की धार्मिक व्यवस्था के अनुसार राज्य-प्रबन्ध किया जाता था। आर्यावर्ती वर्णमाला और वाङ्मय के संसर्ग से यहाँ की स्थानीय बोलियाँ लिखित भाषाएँ बन गईं और धीरे-धीरे साहित्य का विकास होने लगा। यहाँ जो वाङ्मय विकसित हुआ वह सम्पूर्ण रूप से भारतीय था। इस प्रकार कम्बोज की 'ख्मेर' भाषा,' चम्पा की (आजकल का फ्रांसीसी हिन्द चीन) 'चम्म' भाषा तथा जावा की 'कवि' भाषा आर्यावर्त की वर्णमाला में लिखी गई तथा संस्कृत साहित्य से आवश्यक उपादान ग्रहण कर सुन्दर तथा कल्याणकारी साहित्य का निर्माण किया गया। जावा की 'कवि' भाषा में रामायण और महाभारत के व्याख्यान विद्यमान हैं, भारत-वासियों के समान ही यहाँ के निवासी रामलीला तथा अर्जुनलीला देखकर आज भी अपना चित्तविनोद किया करते हैं। बाली द्वीप की सभ्यता तथा धर्म पूर्णरूपेण भारतीय है। यहाँ का धर्म तन्त्र-प्रधान है। वैदिक मन्त्र का उच्चारण तथा संध्या-वन्दन आज भी यहाँ विकृत रूप में ही सही, परन्तु विद्यमान तो है। मंगोलिया की मरुभूमि में भी संस्कृत साहित्य पहुँचा था। वहाँ भारतीय ग्रन्थ तो उपलब्ध हुए ही हैं, साथ ही साथ वहाँ की भाषा में महाभारत से सम्बद्ध अनेक नाटक भी उपलब्ध हुए हैं, जिनमें 'हिडिम्बा-वध' मुख्य है।

संस्कृत साहित्य की कलात्मक दृष्टि

इस प्रकार प्राचीनता, अविच्छिन्नता, व्यापकता, धार्मिकता तथा सभ्यता की दृष्टि से परीक्षा करने पर हमारा संस्कृत साहित्य नितान्त महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है। प्रत्येक भारतीय का यह परम कर्तव्य है कि वह इस साहित्य का अध्ययन करे। इनके अतिरिक्त विशुद्ध कला की दृष्टि से भी यह साहित्य उपेक्षणीय नहीं है। जिस साहित्य में कालिदास जैसे कमनीय कविता लिखने वाले कवि हुए, भवभूति जैसे नाटककार हुए जिनकी वशवर्तिनी बनकर सरस्वती ने अपूर्व लास्य दिखलाया, बाणभट्ट जैसे गद्य लेखक हुए, जिन्होंने अपने सरस मसृण काव्य से त्रिलोकसुन्दरी कादम्बरी की कमनीय कथा सुना-सुनाकर श्रोताओं को मत्त बनाया, जयदेव जैसे गीतिकाव्य के लेखक विद्यमान थे जिन्होंने अपनी 'मधुर कोमल कान्त पदावली' के द्वारा विदग्धों के चित्त में मधुर रस की वर्षा की, श्रीहर्ष जैसे पण्डित कवि हुए जिन्होंने काव्य और दर्शन

का अपूर्व सम्मिलन प्रस्तुत किया उस साहित्य की महिमा का वर्णन समुचित शब्दों में कैसे किया जा सकता है ?

संस्कृत भाषा का परिचय

यह साहित्य जिस भाषा में निबद्ध किया गया है उसका नाम है 'संस्कृत भाषा', देववाणी या भारती। संसार की समस्त परिष्कृत भाषाओं में संस्कृत ही प्राचीनतम है, इस विषय में विद्वानों में किसी प्रकार का मतभेद नहीं। भाषा-विज्ञान की दृष्टि में संसार की भाषाओं में दो ही भाषाएं ऐसी हैं जिसके बोलने वालों ने संस्कृति तथा सभ्यता का निर्माण किया है। एक है 'आर्यभाषा' और दूसरी है सामी, 'सेमेटिक-भाषा'। आर्यभाषा के अन्तर्गत दो विशिष्ट शाखाएँ हैं—पश्चिमी और पूर्वी। पश्चिमी शाखा के अन्तर्गत योरप की सभी प्राचीन तथा आधुनिक भाषाएं सम्मिलित हैं—ग्रीक, लैटिन, ट्यूटानिक, फ्रेञ्च, जर्मन, इंग्लिश आदि—ये सब भाषाएं मूल आर्य-भाषा से ही उत्पन्न हुई हैं। पूर्वी शाखा में दो प्रधान विभाग हैं—ईरानी और भारतीय। ईरानी भाषा का नाम 'जेन्द अवेस्ता' है जिसमें पारसियों के मूल धार्मिक ग्रन्थ लिखे गये हैं। भारतीय शाखा में संस्कृत ही सर्वस्व है। आर्य भाषाओं में यही सबसे प्राचीन है। आर्य-भाषा के मूलरूप को जानने के लिये जितना साधन यहाँ है उतना कहीं नहीं है। आजकल भारत की समस्त प्रान्तीय-भाषाएं (द्राविड़ी भाषाओं को छोड़कर) संस्कृत भाषा से ही निकली हैं।

संस्कृत शब्द 'सम्' पूर्वक 'कृ' धातु से बना हुआ है जिसका मौलिक अर्थ हुआ—संस्कार की गई भाषा। भाषा के अर्थ में 'संस्कृत' का प्रयोग वाल्मीकीय रामायण में पहले पहल मिलता है। सुन्दरकाण्ड में सीता जी से किस भाषा में वार्तालाप किया जाय, इसका विचार करते हुए हनुमान जी ने कहा कि यदि द्विज के समान मैं संस्कृतवाणी बोलूंगा तो सीता मुझे रावण समझकर डर जायगी[1]। यास्क और पाणिनि[2] के ग्रन्थों में लोक-व्यवहार में आनेवाली बोली का नाम 'भाषा' है। 'संस्कृत' शब्द इस अर्थ में प्रयुक्त नहीं लिलता। जब 'भाषा' का सर्वसाधारण में प्रचार कम

---

१. यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम्।
रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति ॥
—(सुन्दर-काण्ड ५-१८)

२. भाषायामन्वध्यायश्च। निरुक्त १।४।
भाषायां सदवसश्रुवः। अष्टा० ३।२।१०८।

होने लगा, पाली तथा प्राकृत भाषाएँ बोल-चाल की भाषाएँ बन गईं, तब जान पड़ता है कि विद्वानों ने प्राकृत भाषा से भेद दिखलाने के लिये इसका नाम संस्कृत भाषा दे दिया। महाकवि दण्डी ने इसका समर्थन किया है।

लौकिक और वैदिक संस्कृत में अन्तर

संस्कृत भाषा के दो रूप हमारे सामने प्रस्तुत है—वैदिकी तथा लौकिकी, वेदभाषा तथा लोकभाषा। वैदिकी भाषा में संहिता तथा ब्राह्मणों की रचना हुई है। लौकिक संस्कृत में वाल्मीकि रामायण, महाभारत आदि की रचना है। इन दोनों भाषाओं के शब्दरूपों में पर्याप्त अन्तर है, जिसका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

(१) अकारान्त पुंलिंग शब्दों का प्रथमा बहुवचन रूप असस् और अस् दो प्रत्ययों के जोड़ने से बनता है। जैसे, ब्राह्मणासः तथा ब्राह्मणाः। लौकिक संस्कृत में केवल अन्तिम रूप ग्राह्य है।

(२) अकारान्त शब्दों का तृतीया बहुवचन दो प्रकार का होता है—देवेभिः तथा देवैः। लौकिक संस्कृत में अन्तिम रूप ग्राह्य है।

(३) अकारान्त शब्दों का प्रथमा द्विवचन 'आ' प्रत्यय के योग से, ईकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों का तृतीया एकवचन 'ई' प्रत्यय के योग से बनता है जैसे—अश्विना, (आश्विनौ), सुष्टुती (सुष्टुत्या)।

(४) सप्तमी का एकवचन अनेक जगहों में लुप्त हो जाता है, जैसे परमे व्योमन्। लौकिक संस्कृत व्योम्नि या व्योमनि।

(५) अकारान्त नपुंसक शब्दों का बहुवचन 'आ' तथा 'आनि' दो प्रत्ययों के योग से बनता है, जैसे 'विश्वानि अद्भुता'; लौकिक संस्कृत में अद्भुतानि होगा।

(६) क्रियापदों में उत्तम पुरुष बहुवचन (वर्तमान काल) 'मसि' प्रत्यय के योग से बनता है। मिनीमसि द्यवि द्यवि। लौकिक संस्कृत 'मिनीमः'।

(७) 'लोट्' लकार (आज्ञा) मध्यमपुरुष बहुवचन के प्रत्यय हैं—त, तन्, थन्, तात्। जैसे शृणोत, सुनोतन, यतिष्ठन, कृणुतात।

(८) लौकिक संस्कृत में 'लिये' के अर्थ में 'तुमुन्' का प्रयोग होता है, जैसे—गन्तुम् (जाने के लिए), कर्तुम् (करने के लिए) आदि। परन्तु वेद में इस अर्थ में आठ या दस प्रत्यय होते हैं। जैसे से, असे, वसे, कसे,

अध्यै, शध्यै आदि। जैसे, जीवसे (जीवितुम्), पिबध्यै (पातुम्), दातवै (दातुम्), कर्तवे (कर्तुम्)।

(६) वैदिकभाषा में आज्ञा तथा सम्भावना दिखलाने के लिये एक नये लकार की ही योजना है, जिसे लेट् लकार कहते हैं। परन्तु यह लौकिक संस्कृत में बिलकुल ही नहीं है। इसके कुछ उदाहरण ये हैं—प्र ण आयूंषि तारिषत् (हे वरुण हमारे उम्र को बढ़ाओ); यहाँ 'तारिषत्' लेट् लकार का है। लौकिक भाषा में इसकी जगह पर 'तारय' कहेंगे।

ब्राह्मणों की भाषा लौकिक एवं वैदिक युग के मध्यकालीन समय की भाषा है। उसमें कुछ प्रयोग तो संहिताओं के समान मिलते हैं और कुछ प्रयोग लौकिक संस्कृत के। निरुक्त की भाषा भी इसी काल की है। पाणिनि संस्कृत साहित्य के सब से श्रेष्ठ वैयाकरण हैं। उन्होंने संस्कृत भाषा को सदा विशुद्ध तथा व्यवस्थित बनाए रखने के लिये प्रसिद्ध व्याकरण बनाया, जो आठ अध्यायों में विभक्त होने के कारण 'अष्टाध्यायी' कहलाता है। संस्कृत भाषा में जो एकरूपता और व्यवस्था दीख पड़ती है, वह सब पाणिनि की ही अनुकम्पा का फल है। कुछ लोग पाणिनि पर यह दोष लगाते हैं कि उन्होंने भाषा को जकड़ कर अस्वाभाविक बना दिया, परन्तु बात ऐसी नहीं है। यदि पाणिनि-व्याकरण न रहता तो संस्कृत भाषा का जो रूपान्तर होता उसे हम पहचान भी नहीं सकते। अष्टाध्यायी के ऊपर 'कात्यायन' ने वार्तिक लिखा, जिसमें उन्होंने नये शब्दों की व्युत्पत्ति दिखलाई। विक्रमपूर्व द्वितीय शतक में पतञ्जलि ने 'अष्टाध्यायी' के ऊपर 'भाष्य' लिखा, जो इतना सुन्दर, उपादेय तथा प्रामाणिक है कि उसे 'महाभाष्य' के नाम से पुकारते हैं। लौकिक संस्कृत के कर्त्ता धर्त्ता ये ही तीन मुनि हैं, जिनके कारण व्याकरण 'त्रिमुनि' के नाम से विख्यात है। पिछले युग में संस्कृत व्याकरण के ऊपर जो कुछ लिखा गया वह केवल इस 'मुनित्रय' के ग्रन्थों की व्याख्यामात्र है। कुछ लोगों का कथन है कि इस 'मुनित्रय' के द्वारा व्याख्यात तथा विवृत होने के कारण ही यह देववाणी 'संस्कृत' नाम से अभिहित की जाती है[1]।

संस्कृत: बोल-चाल की भाषा

संस्कृत के स्वरूप का विचार करते समय यह जानना जरूरी है कि लोक-व्यवहार में उसका क्या रूप था, वह बोल-चाल की भाषा थी या

---

१. संस्कृतं नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः। दण्डी—काव्यादर्श।

नहीं ? इसके विषय में दो विरोधी मत हैं। कुछ लोगों का कहना है कि प्राकृत ही बोल-चाल की भाषा थी। संस्कृत तो केवल साहित्यिक भाषा है जिसका प्रयोग ग्रन्थों में ही होता था, बोल-चाल में नहीं। इसके विपरीत दूसरा मत यह है कि यह बोल-चाल की भी भाषा रही है। किसी समय में भारतीय जनता अपने भावों को इसी भाषा के द्वारा प्रकट किया करती थी। धीरे-धीरे प्राकृत के उदय होने से इसका व्यवहार-क्षेत्र कम होने लगा, परन्तु फिर भी इसका चलन तथा व्यवहार शिष्ट लोगों में बना ही रहा।

महर्षि यास्क ने निरुक्त नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की है, जिसमें कठिन वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति दिखलाई गई है। इस ग्रन्थ का प्रमाण संस्कृत को बोलचाल की भाषा सिद्ध कर रहा है[1]। वैदिक संस्कृत से भिन्न साधारण जनता की जो बोली थी उसको यास्क ने स्थान-स्थान पर 'भाषा' कहा है। उन्होंने वैदिक कृदन्त शब्दों की व्युत्पत्ति उन धातुओं से की है जो लोकव्यवहार में आते थे। उस समय भिन्न-भिन्न प्रान्तों में संस्कृत शब्दों के जो रूपान्तर तथा विशिष्ट प्रयोग काम में लाये जाते थे उन सब का उल्लेख यास्क ने किया है। उदाहरणार्थ 'शवति' क्रियापद का प्रयोग कम्बोज देश (वर्तमान पञ्जाब का पश्चिमोत्तर प्रान्त) में 'जाने' के अर्थ में किया जाता था, परन्तु इसका संज्ञा पद 'शव' (मुर्दा) का प्रयोग आर्य लोग करते थे। पूर्वी प्रान्तों में (प्राच्य) में 'दाति' क्रियापद का प्रयोग 'काटने' के अर्थ में होता था, परन्तु उत्तर के लोगों में इसी से बने हुये 'दात्र' शब्द का प्रयोग हँसिया के अर्थ में होता था[2]। इससे स्पष्ट है कि यास्क के समय में (विक्रम से लगभग सात सौ वर्ष पूर्व) संस्कृत बोलचाल की भाषा थी।

पाणिनि के समय में (विक्रम पूर्व पाँच सौ वर्ष) संस्कृत का यह रूप बना ही रहा। पाणिनि भी इस बोली को भाषा ही के नाम से पुकारते हैं। दूर से पुकारने के समय तथा प्रत्यभिवादन के अवसर पर पाणिनि ने प्लुत स्वर का विधान बतलाया है। यदि दूर से कृष्ण को पुकारना होगा तो संस्कृत में

---

१. भाषिकेभ्यो धातुभ्यो नैगमा कृतो भाष्यन्ते—निरुक्त २।२।

२. शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते, विकारमस्यार्येषु भाषन्ते शव इति। दातिर्लवनार्थः प्राच्येषु दात्रमुदीच्येषु—निरुक्त, वहीं।

'आगच्छ कृष्ण३' कहना पड़ेगा। यहाँ पाणिनि के अनुसार कृष्ण का अकार प्लुत होगा[1]। उसी प्रकार अभिवादन करने के अनन्तर जो आशीर्वाद दिया जायगा वहाँ पर भी प्लुत करना पड़ेगा। जैसे देवदत्त नामक कोई छात्र गुरु को इस प्रकार प्रणाम करे 'आचार्य देवदत्तोऽहं त्वामभिवादये' (हे गुरु जी! मैं देवदत्त आपको प्रणाम कर रहा हूँ), तो गुरु यह कह कर आशीर्वाद देगा—'आयुष्मान् एधि देवदत्त३' अर्थात् आयुष्मान् बनो हे देवदत्त। इस आशीर्वाद वाक्य में देवदत्त के अन्त का अकार प्लुत हो जायेगा, यह पाणिनि की व्यवस्था है[2]। इन नियमों का प्रयोग तभी होगा जब भाषा वस्तुतः बोली जाती होगी। निरुक्तकार के समान पाणिनि ने भी संस्कृत के उन रूपान्तरों को दिखलाया है जो पूर्वी तथा उत्तरी लोगों में व्यवहृत किये जाते थे। बोलचाल के बहुत से मुहावरे पाणिनि ने अपने ग्रन्थ में किये हैं, जैसे 'दण्डा-दण्डि' (डण्डा डण्डी, लाठा लाठी), केशाकेशि (नोचा नोची, बालों को खैंचकर होने वाला युद्ध), हस्ताहस्ति (हाथा-हाथी या हाथा-पाई), उदरपूरं भुङ्क्ते (पेटभर खाता है) इत्यादि। इतना ही नहीं, पाणिनि ने शब्दों में स्वर-विधान के नियम को बड़े विस्तार के साथ दिया है। इससे स्पष्ट है कि पाणिनि की भाषा बोलचाल की भाषा थी। यदि ग्रन्थ के लिखने में ही उसका उपयोग होता तो पूर्वोल्लिखित नियमों की उपयोगिता किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं होती।

पाणिनि के अनन्तर कात्यायन के समय (विक्रमपूर्व चतुर्थ शतक) में तथा पतञ्जलि के समय (विक्रमपूर्व द्वितीय शतक) में संस्कृत भाषा बढ़ती चली गई। नये-नये शब्द आने लगे; नये-नये मुहावरों का प्रयोग होने लगा। इसी लिये कात्यायन ने वार्त्तिक लिखकर उनकी व्युत्पत्ति और व्यवस्था दिखला दी। पाणिनि ने 'हिमानी' तथा 'अरण्यानी' का प्रयोग केवल स्त्रीलिंग की कल्पना में माना है, परन्तु कात्यायन के समय में महत्त्व के अर्थ में इनका प्रयोग होने लगा[3]। 'अरण्यानी' का अर्थ हुआ बड़ा जंगल। इसी प्रकार कात्यायन के अनुसार 'यवनानी' का प्रयोग यवनों की

---

१. दूराद्धूते च। ८।२।८४।
२. प्रत्यभिवादेऽशूद्रे। ८।२।८३।
३. हिमारण्ययोर्महत्त्वे।

लिपि के अर्थ में होने लगा[1]। पाणिनि के समय में यवन की स्त्री के लिये इसका प्रयोग होता था। पतञ्जलि ने भी अपने महाभाष्य में नये प्रयोगों की प्रक्रिया दिखलाई है। संस्कृत शब्दों के प्रान्तीय रूपान्तरों का उल्लेख उन्होंने भी किया है। जैसे 'चलने' के अर्थ में सौराष्ट्र (कठियावाड़) देश में 'हम्मति' का प्रयोग करते हैं; पूरब देश में 'रंहति' का, आर्य लोगों में (गच्छति) का। पतञ्जलि ने ऐसे लोगों को शिष्ट बतलाया है जो बिना किसी अध्ययन के ही संस्कृत शब्दों का प्रयोग करते थे[2]। इनके जो प्रयोग होते थे वह सर्वसाधारण के लिये प्रमाण-भूत माने जाते थे. इनके 'महाभाष्य' में एक बड़ा रोचक संवाद दिया है जिसमें 'प्राजिता' (चलानेवाला) शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में वैयाकरण तथा सारथि में खूब वाद-विवाद हुआ है। वैयाकरण ने पूछा—इस रथ का 'प्रवेता' कौन है ? सूत—आयुष्मान्, मैं इस रथ का प्राजिता (चलानेवाला) हूँ। वैयाकरण—'प्राजिता' शब्द अपशब्द है। सूत—(देवानां प्रिय) महाशय जी, आप केवल प्राप्तिज्ञ हैं, इष्टिज्ञ (प्रयोग ज्ञाता) नहीं हैं। वैयाकरण—अहो, यह दुष्ट सूत (दुरुत) हमें कष्ट पहुँचा रहा है। सूत—आप का 'दुरुत' प्रयोग ठीक नहीं है। 'सूत' शब्द 'सू' (प्रसव, उत्पन्नकरना) धातु से बना है, 'वेञ्' धातु (बिनना) से नहीं। अतः यदि आप निन्दा करना चाहते हैं तो 'दुःसूत' शब्द का प्रयोग करें। इस वार्तालाप से प्रतीत होता है कि सूत का कथन अधिक उपयुक्त है। वैयाकरण तो केवल सूत्रों को ही जानता है, वास्तव में प्रयुक्त शब्दों की उसे जानकारी नहीं है।

इससे स्पष्ट है कि जिस भाषा को रथ हाँकने वाला समझे और बोले उसे बोलचाल की भाषा न कहना महान् अपराध होगा। मुहावरों से तो महाभाष्य भरा पड़ा है—उन मुहावरों से, जिनका प्रयोग हमारी ग्रामीण बोलियों में आज भी विद्यमान है, चाहे खड़ी बोली में भले न दीख पड़े। जैसे—"पृष्ठं कुरु, पादौ कुरु" की छाया हूबहू बनारसी बोली में इस प्रकार दीख पड़ती है—'गोड़ो कइली मूड़ो कइली, तबु काम ना भइल।' अर्थ स्पष्ट है कि हर प्रकार

---

१. यवनाल्लिप्याम्।

२. एतस्मिन् आर्यावर्ते निवासे ये ब्राह्मणाः कुम्भीधान्या अलोलुपा अगृह्यमाण-कारणाः किञ्चिदन्तरेण कस्याश्चिद् विद्यायाः पारंगताः तत्रभवन्तः शिष्टाः। शिष्टाः शब्देषु प्रमाणम्—६।३।१०९ सूत्र पर भाष्य।

की सेवा करने पर भी हमारा काम नहीं सरा। इन प्रमाणों के आधार पर विक्रम के हजारों वर्ष पूर्व से लेकर विक्रम के उदय तथा बारहवीं शताब्दी तक संस्कृत अवश्य बोलचाल की भाषा थी इसी परिणाम पर हम पहुँचते हैं। भारत के अनेक प्राचीन संस्कृतप्रेमी राजाओं ने यह नियम बना रखा था कि उनके अन्तःपुर में संस्कृत का ही प्रयोग किया जाय। राजशेखर ने विक्रम का नाम इस प्रसङ्ग में निर्दिष्ट किया है। धारा नरेश राजा भोज (११ शतक) के समय में भी संस्कृत का बोलने तथा लिखने के लिये बहुत प्रयोग होता था। हम उस जुलाहे की बात कभी नहीं भुल सकते जिसने संस्कृत में अपना परिचय देते समय कहा था—

काव्यं करोमि नहि चारुतरं करोमि
यत्नात् करोमि यदि, चारुतरं करोमि।
भूपाल - मौलिमणि - मण्डितपादपीठ
हे साहसांक! कवयामि वयामि यामि।

काव्य तो मैं उतना अच्छा नहीं करता, पर यदि यत्न से लिखूँ तो सुन्दर लिख सकता हूँ।

एक साधारण जन की इतनी संस्कृतज्ञता तथा काव्यप्रेम नितान्त श्लाघनीय है।

कालविभाग

संस्कृत साहित्य का इतिहास अनेक काल-विभागों में बाँटा जा सकता है। पहला काल श्रुतिकाल है, जिसमें संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् का निर्माण हुआ। इस काल में वाक्यरचना सरल, संक्षिप्त और क्रियाबहुल हुआ करती थी। दूसरा हुआ स्मृतिकाल, जिसमें रामायण, महाभारत, पुराण तथा वेदाङ्गों की रचना हुई। तीसरा वह है जिस समय पाणिनि के निममों के द्वारा भाषा निनान्त संयत तथा सुव्यवस्थित की गई तथा काव्य-नाटकों की रचना होने लगी। इस काल को हम मोटे तौर से 'लौकिक संस्कृत का काल' कह सकते हैं।

इस अल्पकाय इतिहास में इन तीनों के विस्तृत विवेचन के लिये स्थान नहीं है। अतः तीसरे काल का ही विशेष वर्णन यहाँ रहेगा। पूर्वकाल के साहित्य-रामायण और महाभारत—का सामान्य परिचय देकर ही हमें सन्तोष करना पड़ रहा है।

द्वितीय परिच्छेद

उपजीव्य काव्य

लौकिक संस्कृत में लिखा गया साहित्य विषय, भाषा तथा भाव आदि की दृष्टि से अपना विशिष्ट महत्त्व रखता है। वैदिक भाषा में जो साहित्य निबद्ध हुआ है उससे इसकी तुलना करने पर अनेक नवीन बातें आलोचकों के सामने आती हैं। यह साहित्य वैदिक साहित्य से आकृति, भाषा, विषय तथा अन्तस्तत्त्व की दृष्टि से नितान्त पार्थक्य रखता है।

वैदिक और लौकिक साहित्य का अन्तर

(क) विषय—वैदिक साहित्य मुख्यतया धर्मप्रधान साहित्य है। देवताओं को लक्ष्य कर यज्ञ-याग का विधान तथा उनकी कमनीय स्तुतियाँ इस साहित्य की विशेषताएँ हैं। परन्तु लौकिक संस्कृत साहित्य, जिसका प्रसार प्रत्येक दिशा में दीख पड़ता है, मुख्यतया लोकवृत्त-प्रधान है। पुरुषार्थ के चारों अङ्गों में अर्थ-काम की ओर इसकी प्रवृत्ति विशेष दीख पड़ती है। उपनिषदों के प्रभाव से इस साहित्य के भीतर नैतिक भावना का महान् साम्राज्य है। धर्म का वर्णन भी है, परन्तु यह धर्म वैदिक धर्म पर अवलम्बित होने पर भी कई बातों में कुछ नूतन भी है। ऋग्वेद-काल में जिन देवताओं की प्रमुखता थी अब वे गौणरूप में ही वर्णित पाये जाते हैं। ब्रह्मा, विष्णु और शिव की उपासना पर ही अधिक महत्त्व इस युग में दिया गया। नये देवताओं की उत्पत्ति हुई इस प्रकार प्रतिपाद्य विषय का अन्तर इस साहित्य में स्पष्ट दीख पड़ता है।

(ख) आकृति—लौकिक साहित्य जिस रूप में हमारे सामने आता है वह वैदिक साहित्य के रूप से अनेक अंशों में भिन्नता रखता है। वैदिक साहित्य में गद्य की गरिमा स्वीकृत की गई है। तैत्तिरीय संहिता, काठक संहिता, मैत्रायणी संहिता से ही वैदिक गद्य आरम्भ होता है। ब्राह्मणों में गद्य ही का साम्राज्य है। प्राचीन उपनिषदों में भी उदात्त गद्य का प्रयोग मिलता है। परन्तु न जाने क्यों ? लौकिक साहित्य के उदय होते ही गद्य का ह्रास आरम्भ हो जाता है। वैदिक गद्य में जो प्रसार, जो प्रसाद तथा जो सौन्दर्य दीख पड़ता है वह लौकिक संस्कृत के गद्य में दिखलाई नहीं पड़ता। अब तो गद्य का क्षेत्र केवल व्याकरण और दर्शन शास्त्र ही रह जाता है। परन्तु यह गद्य दुरूह, प्रसादविहीन तथा दुर्बोध है। इस काल में पद्य की प्रभुता इतनी अधिक बढ़ जाती है कि ज्योतिष और वैद्यक जैसे वैज्ञानिक विषयों का भी वर्णन छन्दोमयी वाणी में ही किया गया है। साहित्यिक गद्य केवल कथानक तथा गद्यकाव्यों में ही दीख पड़ता है। परन्तु सीमित होने के कारण यह गद्य वैदिक गद्य की अपेक्षा कई बातों में हीन एवं न्यून प्रतीत होता है। पद्य की रचना जिन छन्दों में की गयी है, वे छन्द भी वैदिक छन्दों से भिन्न ही हैं। पुराणों में तथा रामायण, महाभारत में विशुद्ध श्लोक का ही विशाल साम्राज्य विराजमान है। परन्तु पिछले साहित्य में नाना प्रकार के छोटे बड़े छन्दों का प्रयोग कवियों ने विषय के अनुसार किया है। वेद में जहाँ गायत्री, त्रिष्टुप् तथा जगती का प्रचलन है वहाँ उक्त संस्कृत में उपजाति, वंशस्थ, और वसन्ततिलका विराजती है। लौकिक छन्द वैदिक छन्दों से ही निकले हुए हैं, परन्तु इनमें लघु-गुरु के विन्यास को विशेष महत्त्व दिया गया है।

(ग) भाषा—भाषा की दृष्टि से भी यह साहित्य पूर्वयुग में लिखे गये साहित्य की अपेक्षा भिन्न है। इस युग की भाषा के नियामक तथा शोधक महर्षि पाणिनि हैं, जिनकी अष्टाध्यायी में लौकिक संस्कृत का भव्य विशुद्ध रूप प्रस्तुत किया गया है। लौकिक संस्कृत भाषा की विशेषता का वर्णन प्रथम परिच्छेद में किया जा चुका है। इस युग के आदिम काल में पाणिनि के नियमों की पाबन्दी करना उतना आवश्यक नहीं था, इसीलिए रामायण, महाभारत तथा पुराणों में बहुत से 'आर्ष' प्रयोग मिलते हैं जो पाणिनि के नियमों से ठीक नहीं उतरते। पिछली शताब्दियों में तो पाणिनि तथा उनके अनुयायियों की प्रभुता इतनी जम जाती है कि अपाणिनीय प्रयोग के आते ही भाषा बेतरह खटकने लगती है। 'च्युत-संस्कारता' के नित्य दोष माने जाने का

यही तात्पर्य है। आशय यह है कि वैदिक काल में संस्कृत भाषा व्याकरण के नपे-तुले नियमों से जकड़ी हुई नहीं थी, परन्तु इस युग में व्याकरण के नियमों से बँधकर वह विशेष रूप से संयत कर दी गई।

(घ) अन्तस्तत्त्व—वैदिक साहित्य में रूपक की प्रधानता है। प्रतीक रूप से अनेक अमूर्त्त भावनाओं की मूर्त्त कल्पना प्रस्तुत की गई है। परन्तु लौकिक साहित्य में अतिशयोक्ति की ओर अधिक अभिरुचि दीख पड़ती है। पुराणों के वर्णन में जो अतिशयोक्ति दीख पड़ती है वह पौराणिक शैली की विशेषता है। वैदिक तथा पौराणिक तत्त्वों में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है; शैली का ही भेद है। वैदिक साहित्य में प्रसिद्ध इन्द्र-वृत्र युद्ध अकाल दानव के ऊपर वर्षा के विजय का प्रतिनिधि है। पुराण में भी उसका वही अर्थ है, परन्तु शैली-भेद होने से दोनों में पार्थक्य दीख पड़ता है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त इस युग में वैदिक युग से विकसित होकर अत्यन्त आदरणीय माना जाने लगा। ऐसी अनेक कहानियाँ मिलेंगी जिसके नायक कभी तो पशुयोनि में जन्म लेता है और वही पुण्य के अधिक सञ्चय होने के कारण देवलोक में जा विराजने लगता है। साहित्य मानव समाज का प्रतिविम्ब हुआ करता है। इस सत्य का परिचय लौकिक संस्कृत के साहित्य के अध्ययन से भली-भाँति मिलता है। मानव जीवन से सम्बद्ध तथा उसे सुखद बनाने का शायद ही कोई विषय होगा जो इस साहित्य से अछूता बच गया हो। पूर्वकाल में जहाँ पर नैसर्गिकता का बोलबाला था, वहाँ अब अलंकृति की अभिरुचि विशेष बढ़ने लगी। अलंकारों की प्रधानता का यही कारण है।

संस्कृत काव्य की सरसता तथा अभिरामता सर्वत्र श्लाघनीय है। अन्य विभागों को छोड़ कर यदि हम केवल काव्य की ही ओर अपनी दृष्टि डालें, तो उसकी विशेषता ध्यान में आये बिना नहीं रह सकती। जिस काव्य-वाटिका में कालिदास की रसमयी सूक्तियाँ सरस आम्रमञ्जरी की तरह सहृदयों के हृदय को उल्लासमय बना रही हैं, भवभूति की भावमयी रचनाएँ पवित्र प्रेम की अभिव्यक्ति कर मङ्गलमय आदर्श की सृष्टि कर रही हैं, उस साहित्य के सौन्दर्य पर विदग्धों का रीझना स्वाभाविक ही नहीं, उचित भी है। संस्कृत के कवि प्रकृति के पुजारी होते थे। अतः प्रत्येक ऋतु में प्रकृति अपने रूप का परिवर्तन कर जो आकृति धारण करती है उसका हमारे कवियों ने बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से निरीक्षण किया। प्रकृति के इन रहस्यों से बिना परिचित हुए कोई भी सहृदय संस्कृत साहित्य से पूरा आनन्द नहीं उठा सकता। भारतीय साहित्य

के मार्ग-प्रदर्शक आदिकवि वाल्मीकि तथा महर्षि व्यास हैं। इन दोनों महर्षियों ने जिस काव्यसद्धति को, जिस भावभङ्गी को, अपनाया तथा पहले पहल चलाया उसी का अनुकरण पिछले कवियों ने कविताकामिनी को सजाने के लिए किया। इन महाकवियों के काव्य की आलोचना करने के पहले यह आवश्यक है कि उनके उपजीव्यभूत रामामण तथा महाभारत का अनुशीलन किया जाय। इसीलिये अब इन काव्यों की ओर दृष्टि डालना परम आवश्यक है।

रामायण

सदूषणापि निर्दोषा सखरापि सुकोमला।
नमस्तस्मै कृता येन रम्या रामायणी कथा॥
(त्रिविक्रमभट्ट)

संस्कृत साहित्य में महर्षि वाल्मीकिकृत रामायण 'आदिकाव्य' समझा जाता है, तथा वाल्मीकि 'आदिकवि' माने जाते हैं। कथा प्रसिद्ध है कि जब व्याध के बाण से विधे हुए क्रौञ्च के लिये विलाप करनेवाली क्रौञ्ची का करुण शब्द ऋषि ने सुना, तो उनके मुँह से अकस्मात् यह श्लोक निकल पड़ा[1] जिसका आशय यह है कि हे निषाद ! तुमने काम से मोहित इस क्रौञ्च पक्षी को मारा है। अतः तुम सदा के लिये प्रतिष्ठा प्राप्त न करो। महर्षि की करुणामयी वाणी सुनकर स्वयं ब्रह्मा उपस्थित हुए और उन्होंने रामचरित लिखने के लिये उनसे कहा। रामायण की रचना इसी प्रेरणा का फल है। वाल्मीकि अनुष्टुप् छन्द के आविष्कारक माने जाते हैं। उपनिषदों में भी अनुष्टुप् छन्द है, परन्तु लौकिक संस्कृत में व्यवहृत होने वाले सम अक्षर से युक्त अनुष्टुप् का प्रथम प्रयोग वाल्मीकि ने ही किया, जिसमें लघु-गुरु का निवेश नियमबद्ध था।

बहुत से विद्वान् लोग उत्तरकाण्ड को तथा बालकाण्ड के कतिपय अंश को एकदम प्रक्षिप्त बतलाते हैं। उनका कहना है कि बालकाण्ड के प्रथम और तृतीय सर्ग में जो विषय-सूची दी गई है उसमें उत्तरकाण्ड का निर्देश नहीं है। जर्मन विद्वान् याकोबी मूल रामायण में अयोध्या काण्ड से लेकर युद्धकाण्ड

---

१. मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

तक पाँच ही काण्ड मानते हैं। लङ्काकाण्ड के अन्त में ग्रन्थ के अन्त होने की सूचना सी प्रतीत होती है, इसीलिये उत्तरकाण्ड को पीछे से जोड़ा गया माना जाता है। इस काण्ड में कुछ ऐसे आख्यानों की चर्चा है जिनका संकेत पहले के काण्डों में नहीं मिलता, फिर भी हम यह नहीं कह सकते कि वह बहुत पीछे जोड़ा गया है। बौद्धों में एक प्रसिद्ध जातक है—'दशरथ जातक' जिसमें रामायण का वर्णन संक्षेप रूप में उपलब्ध होता है। इसमें पाली भाषा में रूपान्तरित उत्तर काण्ड से एक श्लोक हूबहू मिलता है। इस जातक का समय विक्रम पूर्व तृतीय शतक माना जाता है। अतः मानना पड़ेगा कि उत्तरकाण्ड की रचना उक्त तृतीय शतक से पहले की है।

इस आदि काव्य को 'चतुर्विंशतिसाहस्री' कहते हैं, अर्थात् इसमें २४ हजार श्लोक हैं— ठीक उतने ही हजार, जितना 'गायत्री' के अक्षर हैं। प्रत्येक हजार श्लोक का पहला अक्षर गायत्री मन्त्र के ही अक्षर से क्रमशः आरम्भ होता है, यह विद्वानों का कहना है। अनुष्टुप् श्लोकों के अतिरिक्त अन्य छन्दों में भी पद्य मिलते हैं। विद्वान् लोग इस ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर क्षेपक भी मानते हैं, परन्तु काव्य में एकता का कहीं भी अभाव नहीं दीख पड़ता। ग्रन्थ में पाठभेद भी कम नहीं हैं। उत्तरी भारत, बङ्गाल तथा कश्मीर में रामायण के जो संस्करण उपलब्ध होते हैं उनमें पाठभेद बहुत ही अधिक हैं। उनमें एक दूसरे से श्लोकों का ही अन्तर नहीं है, प्रत्युत कहीं कहीं तो सर्ग के सर्ग भिन्न दिखाई पड़ते हैं। रामायण के अनेक टीकाकार भी हुए जिनमें नागेशभट्ट की 'तिलक' सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त अन्य टीकाएँ ये हैं—'शृंगारतिलक' (गोविन्दराजकृत), 'रामायणकूट' (रामानन्दतीर्थकृत), 'वाल्मीकितात्पर्यतरणि' (विश्वनाथकृत) तथा 'विवेकतिलक' (वरदराजकृत)। इन सबों से प्राचीन टीका का नाम 'कतक' है, जिसका उल्लेख नागेश ने आदरपूर्वक अपनी टीका में किया है।

संस्करण

रामायण के अनेक संस्करण उपलब्ध होते हैं—(१) बम्बई से प्रकाशित देवनागरी संस्करण। उत्तरी भारत में इसी संस्करण का विशेष प्रचलन है। नागोजी भट्ट की लिखी हुई 'तिलक' टीका इसी संस्करण पर है। (२) बङ्गाल संस्करण (कलकत्ते से प्रकाशित)। इस पर लोकनाथ की प्रसिद्ध टीका है। इस संस्करण का अनुवाद डाक्टर गोरेशियो ने अनेक उपयोगी टिप्पणियों के साथ किया है। (३) काश्मीर संस्करण, जिसका प्रचलन

उत्तर-पश्चिमीय भारत में विशेष रूप से था। (४) दक्षिण भारत संस्करण (मद्रास से प्रकाशित)। इसमें और देवनागरी संस्करण में विशेष भेद नहीं है। आरम्भ के तीनों संस्करणों में पर्याप्त भिन्नता है। बाल्मीकि का मूल रामायण कौन सा था? इसका निर्णय करना नितान्त कठिन है। कुछ विद्वान् बङ्गाल संस्करण को अधिक पुराना तथा विशुद्ध मानते हैं, तो कुछ देवनागरी संस्करण को। इस विषय के लिये इन संस्करणों का विशेष मन्थन तथा अनुशीलन अपेक्षित है।

रचना-काल

वाल्मीकीय रामायण के निर्माण का समय बाहरी तथा भीतरी प्रमाणों के आधार पर निश्चित किया जा सकता है। राम वैदिक, बौद्ध तथा जैन धर्मों में समभाव से मर्यादा-पुरुष माने जाते हैं। बौद्ध साहित्य में तथा जैन साहित्य में रामकथा का निर्देश स्पष्टतया किया गया है। बौद्ध कवि कुमारलात (१०० ई०) की 'कल्पनामण्डतिका' में रामायण के सर्वसाधारण में वाचन का उल्लेख है। जैन कवि विमलसूरि ने रामकथा को 'पउम-चरिय' नामक प्राकृत भाषा के महाकाव्य में निवद्ध किया है। विमलसूरि ने इस काव्य की रचना महावीर की मृत्यु से ५३० वर्ष के अनन्तर (लगभग ६२ ई०) में की है। यह काव्य वाल्मीकीय रामायण को आदर्श मानकर जैनधर्मावलम्बियों को इस मर्यादापुरुष के चरित से परिचय प्राप्त कराने के लिए ही लिखा गया है। महाकवि अश्वघोष (७८ ई०) ने अपने 'बुद्धचरित' में सुन्दरकाण्ड की अनेक रमणीय उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं को निवद्ध किया है। बौद्धों के अनेक जातकों में रामकथा का स्पष्ट निर्देश है। 'दशरथ जातक' तो रामायण का पूरा आख्यान ही है, जिसमें रामपण्डित बुद्ध के ही पूर्वकालीन प्रतिनिधि माने गये हैं। वाल्मीकि रामायण का एक श्लोक भी इस जातक में पालीरूप में उपलब्ध होता है। जातकों का समय-निरूपण झमेले का विषय है। परन्तु तृतीय शतक ई० पूर्व में उनका समय साधारणतया माना जाता है, यद्यपि उनकी कथाएं इससे भी पूर्व इस देश में प्रचलित थीं। इन बाहरी प्रमाणों के आधार पर रामायण तृतीय शतक ईस्वी पूर्व से भी पहले की रचना सिद्ध होता है।

वर्तमान महाभारत रामकथा ही से परिचित नहीं है, अपितु वह वाल्मीकि के रामायण से भी भली-भाँति अवगत है। रामायण में महाभारत के पात्रों का कहीं भी उल्लेख नहीं है, परन्तु वनपर्व का रामोपाख्यान (अध्याय २७३-

९३) वाल्मीकि में दी गई कथा का संक्षिप्त संस्करण है। रामचन्द्र से सम्बद्ध स्थान महाभारत में तीर्थरूप से माने गये हैं। शृंगवेरपुर (सिंगरौर, जि० प्रयाग) तथा गोप्रतार (फैजाबाद में गुप्तार घाट) वनपर्व में तीर्थ माने गये हैं। अतः महाभारत के वर्तमान रूप प्राप्त होने से पहले ही रामायण अवान्तर अंशों के साथ प्राचीन तथा पुराना ग्रन्थ माना जाता था। दोनों ग्रन्थों की तुलना आगे की जायगी। महाभारत को वर्तमान रूप ईस्वी के आरम्भ में प्राप्त हुआ है। अतः रामायण की रचना इससे भी पहले ही अवश्य की गई होगी।

अन्तःप्रमाण

रामायण का अनुशीलन उसकी रचना के समय को भली-भांति प्रकट कर रहा है। रामायण के समय की राजनीतिक अवस्था का परिचय इस महाकाव्य के अध्ययन से भली-भांति मिलता है :—

(१) पाटलिपुत्र नगर की स्थापना ५०० ई० पूर्व में मगध नरेश अजातशत्रु ने की। पहले यह एक साधारण ग्राम था जिसका नाम बौद्धग्रन्थों में 'पाटलिग्राम' दिया गया है। अजातशत्रु ने वज्जि लोगों के आक्रमण से अपनी रक्षा करने के निमित्त गंगा-सोन के संगम पर इस ग्राम में किला बनवाया। इनके पिता बिम्बसार की राजधानी राजगृह (या गिरिव्रज) थी। रामायण में राम शोण और गंगा के संगम से होकर जाते हैं, पर पाटलिपुत्र का उल्लेख नहीं मिलता। इससे स्पष्ट है कि रामायण ५०० ई० पूर्व से पहले लिखा गया।

(२) कोसल जनपद की राजधानी रामायण में अयोध्या बतलाई गई है, परन्तु जैन और बौद्ध ग्रन्थों में अयोध्या को छोड़कर वह 'साकेत' नाम से ही प्रख्यात है। लव ने अपनी राजधानी 'श्रावस्ती' में स्थिर की। रामायण की रचना उस समय की गई होगी, जब अयोध्या को छोड़कर श्रावस्ती में राजधानी नहीं लाई गई थी। बुद्ध के समय में कोशल के राजा प्रसेनजित् 'श्रावस्ती' में ही राज्य करते थे। अतः रामायण की रचना इससे पूर्वकाल में हुई।

(३) रामायण में 'विशाला' और 'मिथिला' दो स्वतंत्र राज्य थे, परन्तु बुद्ध के समय में ये दोनों राज्य वैशाली राज्य के रूप में सम्मिलित कर दिये गये थे। शासन-पद्धति गणतन्त्र राज्य के समान थी। अतः रामायण को बुद्ध से प्राचीन होना चाहिए।

(४) भारत का दक्षिण अंश एक विराट् अरण्यानी के रूप में अंकित किया गया है, जिसमें बन्दर, भालू आदि असभ्य या अर्धसभ्य जातियाँ निवास करती थीं। आर्य-सभ्यता के इन देशों में प्रसार होने से पहले की यही अवस्था थी। अतः दक्षिण भारत को आर्य बनने से पहले ही रामायण का निर्माण हुआ।

(५) उत्तरी भारत आर्य अवश्य था, परन्तु बालकाण्ड से सिद्ध है कि कोशल, अंग, कान्यकुब्ज, मगध, मिथिला आदि अनेक छोटे-छोटे राज्यों में यह बँटा था। यह राजनीतिक अवस्था बुद्ध-पूर्व भारत में ही दृष्टिगोचर होती है।

(६) सारी रामायण में केवल दो पद्यों में ही यवनों का नाम आता है। इसी सामान्य आधार पर जर्मन विद्वान् डाक्टर वेबर ने सिद्ध करने का प्रयत्न किया था कि रामायण पर यूनानी सभ्यता का प्रभाव पड़ा है, पर डा० याकोबी ने इन्हें प्रक्षिप्त सिद्ध किया है। अतः यूनानी आक्रमण के अनन्तर ये पद्य रामायण में मिला दिये गये होंगे।

इन प्रमाणों के आधार पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि रामायण की रचना बुद्ध के जन्म से पहले ही हुई। अर्थात् रामायण को ५०० ई० पू० से पहले की रचना मानना न्यायसंगत है।

रामायण का मुख्य रस

आनन्दवर्धन ने स्पष्टतः 'करुण' को ही रामायण का मुख्य रस कहा है। रामायण का आरम्भ 'करुण' से होता है तथा राम के सामने सीता के पृथ्वी के भीतर अन्तर्धान होने के दृश्य से रामायण का अन्त भी 'करुण' से ही होता है—

रायायणे हि करुणो रसः स्वयमादिकविना सूचितः 'शोकः श्लोकत्वमागतः' इत्येवंवादिना। निर्व्यूढश्च स एवं सीताऽत्यन्तवियोग-पर्यन्तमेव स्वप्रबन्धमुपरचयता।

(ध्वन्यालोक, उद्योत ४, पृ० २३७)।

वाल्मीकि समग्र कविसमाज के उपजीव्य हैं, विशेषतः कालिदास तथा भवभूति के। इन दोनों महाकवियों ने रामायण का गाढ अनुशीलन किया था और इनकी कविता में हमें जो रस मिलता है उसमें रामायण की भक्ति कम सहायक नहीं रही है। कालिदास का शृङ्गार रस सर्वश्रेष्ठ माना जाता है, परन्तु उनका 'करुण' रस कम प्रभावशाली नहीं है। कालिदास ने उभयविध

'करुण' को उपस्थित कर उसे सांगोपांग रूप से दिखलाया है। पत्नी के लिये पति की करुणा का रूप हम रघुवंश के 'अज-विलाप' में पाते हैं और पति के निमित्त पत्नी की करुण परिवेदना 'रति-विलाप' के रूप में हमें रुलाती है। ताप से लोहा भी पिघल उठता है, तब कोमल मानव-चित्त सन्ताप से मृदु बन जायगा—क्या इस विषय में संदेह के लिये स्थान है? 'अभितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैव कथा शरीरिषु?' कालिदास के इन करुण वर्णनों में मानव-हृदय को प्रभावित करने की क्षमता है, परन्तु भवभूति के उत्तर-रामचरित में तो यह अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गया है। यह भवभूति का ही काम था कि उन्होंने सीता के वियोग में राम को रोते देखकर पत्थर को रुलाया है और वज्र के हृदय को भी विदीर्ण होते दिखाया है—

अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्।

भवभूति ने करुण को 'एको रसः'—मुख्य रस, अर्थात् समस्त रसों की प्रकृति माना है और अन्य रसों को उसकी विकृति माना है। 'एको रसः करुण एव निमित्तभेदात्'—इस कथन के मूल को हमें वाल्मीकि के अन्दर खोजना चाहिये।

वाल्मीकि का यह महाकाव्य पृथ्वीतल को विदीर्ण कर उगनेवाले उस विराट् वटवृक्ष के समान है जो अपनी शीतल छाया से भारत के समस्त मानवों को आश्रय देता हुआ प्रकृति की विशिष्ट विभूति के समान अपना मस्तक ऊपर उठाये हुए खड़ा है। महाकाव्य प्रधानतया वीर-रस प्रधान हुआ करते हैं, जिनमें युद्ध का घोष, विजय-दुन्दुभि का गर्जन तथा सैनिकों का तर्जन मानवों के हृदय में उत्साह तथा स्फूर्ति उत्पन्न किया करते हैं, परन्तु रामायण का माहात्म्य वीर-रस के प्रदर्शन में नहीं है। किसी देवचरित के वर्णन में भी रामायण का गौरव नहीं है; क्योंकि महर्षि वाल्मीकि ने जब आदर्श गुणों से मण्डित किसी व्यक्ति का परिचय पूछा, तब नारद जी ने एक मानव को ही उन अनुपम गुणों का भाजन बतलाया—'तैर्युक्तः श्रूयतां नरः' यह नर-चरित्र का ही कीर्तन है। भारतीय गार्हस्थ्य-जीवन का विस्तृत चित्रण रामायण का मुख्य उद्देश्य प्रतीत हो रहा है। आदर्श पिता, आदर्श माता, आदर्श भ्राता, आदर्श पति, आदर्श पत्नी—आदि जितने आदर्शों को इस अनुपम महाकाव्य में आदिकवि की शब्द-तूलिका ने खींचा है वे सब गृहधर्म के पट पर ही चित्रित किये गये हैं। इतना ही क्यों, राम-रावण का वह भयानक युद्ध भी इस काव्य का मुख्य उद्देश्य नहीं

है। वह तो राम-जानकी—पति-पत्नी—की परस्पर विशुद्ध-प्रीति को पुष्ट करने का एक उपकरण-मात्र है और ऐसा होना स्वाभाविक ही है। रामायण को भारतीय सभ्यता ने अपनी अभिव्यक्ति के लिये प्रधान साधन बना रखा है और भारतीय सभ्यता की प्रतिष्ठा गृहस्थाश्रम है। अतः यदि इस गार्हस्थ्य धर्म की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिये आदिकवि ने इस महाकाव्य का प्रणयन किया तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? रामायण तो भारतीय सभ्यता का प्रतीक ठहरा, दोनों में परस्पर उपकार्योपकारक-भाव बना हुआ है। एक को हम दूसरी की सहायता से समझ सकते हैं।

रामचरित्र

आदिकवि ने अपने काव्य-मन्दिर की पीठ पर प्रतिष्ठित किया है—मर्यादा-पुरुषोत्तम महामानव महाराजा रामचन्द्र को। विभिन्न विकट परिस्थितियों के बीच में रहकर व्यक्ति अपने शील के सौन्दर्य की किस प्रकार रक्षा कर सकता है यह हमें वाल्मीकि ने ही सिखलाया है। यदि आदिकवि ने इस चरित्र का चित्रण न किया होता, तो हमें मंजुल गुणों के सामञ्जस्य का परिचय कहाँ से मिलता? भारतवासी किसी मानव के आदर्श चरित्र को सुनने के लिये लालायित थे। वाल्मीकि ने उसी चरित्र को उनके सामने प्रस्तुत किया। यही कारण है कि इस काव्य की मोहकता कभी कम नहीं होती। इसके शब्दों में इतनी माधुरी है, चित्रों में इतनी चमक है कि मानव के कान और नेत्र इसके परिशीलन से एक साथ ही आप्यायित हो उठते हैं। रामायण को जितनी बार पढ़ा जाय, उतनी ही बार उसमें नयी-नयी बातें सूझती हैं। इन सरल परिचित शब्दों में इतना रस-परिपाक हुआ है कि पढ़नेवालों का चित्त आनन्द से गद्गद हो उठता है। सच बात तो यह है कि रामायण के इन अनुष्टुपों को पढ़कर शताब्दियों से भारत का हृदय स्पन्दित होता आ रहा है और भविष्य में भी होता रहेगा।

राम के किन आदर्श गुणों के अंकन में यह लेखनी प्रवृत्त हो? उनकी कृतज्ञता का वर्णन किन शब्दों में किया जाय? राम तो किसी तरह किये गये एक ही उपकार से सन्तुष्ट हो जाते हैं; और अपकार चाहे कोई सैकड़ों ही करे, उनमें से एक का भी स्मरण उन्हें नहीं रहता। अपकारों को भूलने वाला हो तो ऐसा हो। उनके क्रोध तथा प्रसाद दोनों ही अमोघ हैं। अपने अपराधों के कारण हनन-योग्य व्यक्तियों को विना मारे वे नहीं रहते और अवध्य के ऊपर क्रोध के कारण कभी उनकी आँखें भी लाल नहीं होतीं—

नास्य क्रोधः प्रसादो वा निरर्थोऽस्ति कदाचन।
हन्त्येष नियमाद् वध्यानवध्येषु न कुप्यति ॥

(रामायण २२।४।६)

राम का शील कितना मधुर है। वे सदा दान करते हैं, कभी दूसरे से प्रतिग्रह नहीं लेते। वे अप्रिय कभी नहीं बोलते। साधारण स्थिति की बात नहीं, प्राण-संकट उपस्थित होने की विषम दशा में भी सत्य पराक्रम वाले राम इन नियमों का उल्लंघन नहीं करते। अपने कुटुम्बियों के प्रति उनका व्यवहार कितना कोमल तथा सहानुभूतिपूर्ण है! सीता के प्रति राम के प्रेम का वर्णन करते समय आदिकवि ने मानव-तत्त्व का बड़ा ही सूक्ष्म निरीक्षण प्रस्तुत किया है। राम सीता के वियोग में चार कारणों से सन्तप्त हो रहे हैं-- सीता के प्रति उनके परिताप का कारण चतुर्मुखी है। धर्मशास्त्र आपत्ति में स्त्री की रक्षा करने का उपदेश देता है, परन्तु राम से यह न हो सका, अतः वह अबला स्त्री की रक्षा न कर सकने के कारण 'कारुण्य' से सन्तप्त हैं। वन में सीता राम की आश्रिता थीं, परन्तु राम ने अपने आश्रित की रक्षा नहीं की, अतः 'आनृशंस्य'—आश्रित जनों के संरक्षक-स्वभाव से सन्तप्त हैं। सीता उनकी पत्नी सहधर्मिणी ठहरी। उनके नष्ट होने पर श्रीराम के धर्म का पालन क्यों कर हो सकेगा, अतः 'शोक' से। वे उनकी प्रिया, प्रियतमा ठहरीं, परम सुख की साधिका ठहरीं। उस परम लावण्यमयी स्त्री के नाश ने उनके हृदय में अतीत के उस आनन्दमय जीवन की मधुर स्मृति जगा दी है—इस कारण 'प्रेम' से। इन नाना भावों के कारण सीता के वियोग में राम सन्तप्त हो रहे हैं।

वाल्मीकि की दृष्टि में मानव-जीवन में सबसे श्रेष्ठ पदार्थ है चरित्र और इसी चरित्र से युक्त व्यक्ति की खोज करने पर नारद जी ने वाल्मीकि को इक्ष्वाकुवंशीय रामचन्द्र को सबसे श्रेष्ठ आदर्श मानव बतलाया। ब्रह्म को साक्षात् करने वाले, अनुष्टुप् छन्द के प्रथम अवतार के कारणभूत आदिकवि वाल्मीकि की परिणत प्रज्ञा का फल है यह 'वाल्मीकि-रामायण'। मानव-समाज, मानव-व्यवहार तथा मानव-सद्गुणों की पराकाष्ठा का पूर्ण निर्वाह हम राम के जीवन में पाते हैं। राम शारीरिक सुषमा तथा मानसिक सौन्दर्य—दोनों के जीते जागते प्रतीक थे। राम के सौन्दर्य के वर्णन में वाल्मीकि कह रहे हैं :—

न हि तस्मान्मनः कश्चित् चक्षुषी वा नरोत्तमात् ।
नरः शक्नोत्यपाक्रष्टुमतिक्रान्तेऽपि राघवे ॥
(रामा०, अयोध्या० १७।१३)

रामचन्द्र की अलौकिक सुषमा का अनुमान इसी घटना से लगाया जा सकता है कि राम के अत्यन्त दूर चले जाने पर कोई भी मनुष्य न तो अपने मन को उनसे खींच सकता था और न अपने दोनों नेत्रों को। जो राम को नहीं देखता और जिसे राम नहीं देखते—ये दोनों संसार में निन्दा के पात्र बनते हैं। इतना ही नहीं, उनका अपना आत्मा भी उन्हें निन्दा करता है। उनका आत्मा अपने को ही काटता है कि हाय ! हम ऐसे अभागे निकले कि उस राघवेन्दु को अपने नेत्रों से देखकर न तो अपने को धन्य बनवाया, न अपने जीवन को सफल बनाया। सचमुच 'रामदर्शन' के बिना जीवन निष्फल है। सफलता की कुंजी 'रामदर्शन' में ही सन्निहित है।

रामचन्द्र के दिव्य गुणों की यह झाँकी कितनी मधुर तथा सुन्दर है:—

स च नित्यं प्रशान्तात्मा मृदुपूर्वं प्रभाषते ।
उच्यमानोऽपि परुषं नोत्तरं प्रतिपद्यते ॥
बुद्धिमान् मधुराभाषी पूर्वभाषी प्रियंवदः ।
वीर्यवान् न च वीर्येण महता स्वेन विस्मितः ॥
न चानृतकथो विद्वान् वृद्धानां प्रतिपूजकः ।
अनुरक्तः प्रजाभिश्च प्रजाश्चाप्यनुरज्यते ॥
(२।१।१०—१४)

रामचन्द्र सदा शान्त-चित्त रहते थे। वे बड़ी कोमलता तथा मृदुता के साथ बोलते थे, उनसे कोई कितना भी रूखा क्यों न बोले, वे कभी भी कड़ा और रूखा उत्तर नहीं देते थे। किसी प्रकार किये गये एक भी उपकार से वह तुष्ट हो जाते थे, परन्तु सैकड़ों अपकारों को कभी स्मरण तक नहीं करते थे। किसी से भेंट होने पर भी वही पहिले बोलते थे और सदा मीठा बोलते थे। अत्यन्त वीर्यशाली थे, परन्तु इसके कारण उन्हें गर्व छूकर भी नहीं था। वे कभी झूठी बातें नहीं कहते थे। 'रामो द्विर्नाभिभाषते' = राम कभी दो बात नहीं कहते थे, एक बार जो कह दिया सो कह दिया—वह अमिट हो गया और उसका पालन उनके जीवन का व्रत बन जाता था। प्रजाओं के साथ उनका सम्बन्ध बड़ा मीठा था। आसक्ति उभयमार्गी थी। राम का अनुराग प्रजाओं के लिये वैसा ही था जैसा उनका राम के लिये था।

इन गुणों का अनुशीलन किसी भी व्यक्ति को मानवता के ऊँचे पद पर पहुँचाने तथा प्रतिष्ठित कराने के लिए पर्याप्त माना जा सकता है। व्यक्ति के लिये मृदुभाषी होना, सत्य-वचन होना तो आवश्यक है ही, परन्तु राम में वाल्मीकि ने एक विलक्षण गुण की सत्ता बतलाई है; वह है उपकार की स्मृति तथा अपकार की विस्मृति। हम लोग इतने कंजूस हैं, व्यवहार में इतने कृपण हैं कि अपने उपकारी के प्रति कभी भी प्रेम-भावना नहीं रखना चाहते, परन्तु रामचन्द्र के इस उदार हृदय, विशाल चित्त तथा महनीय आशय का पूर्ण परिचय उसी एक वाक्य से चलता है जिसे उन्होंने सीता की सुधि लानेवाले, अलौकिक उपकार करनेवाले हनुमान जी से कहा था।

जनकनन्दिनी का सन्देश सुनकर विह्वलचित्त होकर राम ने यह वचन कहा था—

मय्येव जीर्णतां यातु यत् त्वयोपकृतं हरे।
नरः प्रत्युपकारार्थी विपत्तिमभिकाङ्क्षति॥

हे कपिकुलनन्दन! आपने जो मेरे साथ उपकार किया है वह मेरे में ही जीर्ण हो जाय, गलकर पच जाय, बाहर अभिव्यक्ति का कोई अवसर ही न आवे; क्योंकि प्रत्युपकार करनेवाला व्यक्ति अपने उपकारी के लिये विपत्ति की कामना करता है, जिससे उसे अपने प्रत्युपकार के लिये उचित अवसर मिले। कितनी उदात्त है वाल्मीकि की यह सूक्ति और कितना उदार है राम का हृदय!! वह कभी सोचते भी नहीं कि हनुमान के ऊपर विपत्ति आवे जिससे उनके साथ प्रत्युपकार करने का कभी अवसर मिले।

मित्रधर्म का पूर्ण निर्वाह राम के जीवन में हमें उपलब्ध होता है। एक बार जिसे उन्होंने अपना मित्र बना लिया, उसके लिये सर्वस्व का त्याग भी न्याय्य होता है। राम के वचन हैं:—

आढ्यो वापि दरिद्रो वा दुःखितः सुखितोऽपि वा।
निर्दोषो वा सदोषो वा वयस्यः परमा गतिः॥
धनत्यागः सुखत्यागो देहत्यागोऽपि वा पुनः।
वयस्यार्थे प्रवर्तन्ते स्नेहं दृष्ट्वा तथाविधम्॥
(किष्किन्धा० ८।९-१०)

इसी मित्रता के निर्वाह के लिये राम के चरित्र में एक दोषाभास भी दीखता है जिसे राम-चरित के आलोचकों ने बड़ा ही तूल दिया है। इसका

सम्बन्ध है वालिवध से। वाल्मीकि के अनुसार राम ने सुग्रीव से प्रतिज्ञा की कि मैं आज ही वाली को मारूँगा और सो भी एक ही बाण से।

अमोघाः सूर्य-संकाशा ममैते निशिताः शराः।
तस्मिन् वालिनि दुर्वृत्ते निपतिष्यन्ति वेगिताः॥
तमद्य वालिनं पश्य क्रूरैराशीविषोपमैः।
शरैर्विनिहतं भूमौ विकीर्णमिव पर्वतम्॥
(किष्किन्धा० ५।२०–२९)

यहाँ पर राम ने आज ही वाली को मार डालने की प्रतिज्ञा की और अभी आगे चलकर वे बाणों के विषय में बहुवचन छोड़कर एकवचन पर आ जाते हैं। फलतः एक ही बाण से आज ही वाली का संहार करना राम को अभीष्ट था, कुछ 'उसके साथ लड़ना नहीं था। वाली का पराक्रम रावण की अपेक्षा कहीं अधिक घोर तथा महान् था। जिस रावण के मारने में राम को अनेकों दिन व्यवसाय करना पड़ा, उससे भी अधिक बलशाली वाली का निधन क्या एक दिन में लड़ाई के द्वारा किया जा सकता था? कभी नहीं। इसीलिये राम को वह युक्ति करनी पड़ी जिसके लिये उनका नाम बदनाम किया जाता है।

वस्तुतः मित्रत्व की वेदी पर राम के सर्वस्व त्याग का यह शंखनिदाद है। अध्यात्म-रामायण (किष्किन्धा, अध्याय २) की भी स्पष्ट उक्ति है—

किन्तु लोका वदिष्यन्ति मामेवं रघुनन्दनः।
कृतवान् किं कपीन्द्राय सख्यं कृत्वाग्निसाक्षिकम्॥
इति लोकापवादो मे भविष्यति न संशयः।
तस्मादाह्वय भद्रं ते गत्वा युद्धाय वालिनम्॥
बाणेनैकेन तं हत्वा राज्ये त्वामभिषेचये।

इस प्रकार दोनों रामायणों का अनुशीलन हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि वालिवध की घटना रामचरित्र की एक महनीय घटना है। सच्ची मैत्री का इससे बढ़कर सुन्दर निदर्शन अन्यत्र कहाँ मिल सकता है?

रामचन्द्र की दृष्टि में शौर्य का आदर्श विधान वाल्मीकि ने प्रस्तुत किया है वह वस्तुतः संसार में एक श्लाघनीय वस्तु है। बड़ी खोज तथा घनी प्रतीक्षा के अनन्तर रावण राम के दृष्टिपथ में आया। आते ही राम ने उसकी भर्त्सना करना आरम्भ किया—

मम भार्या जनस्थानादज्ञानाद् राक्षसाधम।
हृता ते विवशा यस्मात् तस्मात् त्वं नासि वीर्यवान् ॥
मया विरहितां दीनां वर्तमानां महावने।
वैदेहीं प्रसभं हृत्वा शूरोऽहमिति मन्यसे ॥
स्त्रीषु शूर विनाथासु परदाराभिमर्शक।
कृत्वा कापुरुषं कर्म शूरोऽहमिति मन्यसे ॥
भिन्नमर्याद निर्लज्ज चारित्रेष्वनवस्थित।
दर्पान्मृत्युमुपादाय शूरोऽहमिति मन्यसे ॥
(युद्ध० १०५।११—१४)

शूरता की यही सच्ची कसौटी है—स्त्रियों का आदर, मर्यादा का पालन, निर्लज्ज कार्य-कलापों से उपराम तथा शुभ चरित्र का व्यवस्थित रूप से पालन। रावण में इन सबका एकदम अभाव था। इसीलिये तो वह अन्याय तथा अधर्म का प्रतीक माना जाता है। पराक्रमी शत्रु से चित्र-विचित्र युद्ध के परिणाम रूप ही राम ने रावण पर विजय पाया। रावण कोई साधारण शत्रु नहीं था। कैलास को उखाड़ने वाला, ब्रह्मा को परास्त करनेवाला तथा देवताओं से भी अपनी सेवा कराने वाला रावण कोई सामान्य मानव नहीं था। जगत् को अपने घोर कार्यों से रुलाने के कारण ही तो वह 'रावण' कहलाता था। ऐसे शत्रु को मारकर राम ने उसके साथ जो सद्व्यवहार किया वह शूर-जगत् की एक अलोकसामान्य घटना है।

रावण की मृत्यु पर शोक करते हुए विभीषण ने ठीक ही कहा—

गतः सेतुः सुनीतानां गतो धर्मस्य विग्रहः।
गतः सत्त्वस्य संक्षेपः प्रस्तावानां गतिर्गता ॥
आदित्यः पतितो भूमौ मग्नस्तमसि चन्द्रमाः।
चित्रभानुः प्रशान्तार्चिर्व्यवसायो निरुद्यमः ॥
अस्मिन् निपतिते भूमौ वीरे शस्त्रभृतां वरे।
(युद्ध० १२२।५-८)

रावण का यह नितान्त यथार्थ चरित्र-चित्रण है। रावण की मृत्यु भूमि पर गिरनेवाले आदित्य, अन्धकार में धँसे हुए चन्द्रमा, शान्त ज्वाला वाले अग्नि तथा उद्यमहीन उत्साह के समान है। राम ने भी रावण की उचित प्रशंसा की

तथा उसमें वर्तमान गुणों के महत्त्व को समझाया। और अन्त में अपने विशाल हृदय की भव्य भावना को बड़े सुन्दर शब्दों में प्रकट किया—

मरणान्तानि वैराणि निवृत्तं नः प्रयोजनम्।
क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येष यथा तव ॥

मरण ही वैर की समाप्ति है। रावण के मर जाने पर हमारा प्रयोजन सम्पन्न हो गया। अब इसका उचित दाह-संस्कार करो। जैसे यह तुम्हारा है, वैसे ही मेरा भी है। शत्रु के प्रति इतनी उदार भावना रखना तथा तदनुसार व्यवहार करना युद्ध के इतिहास में अश्रुतपूर्व घटना है।

सीता-चरित्र

भगवती जनक-नन्दिनी के शील-सौन्दर्य की ज्योत्स्ना किस व्यक्ति के हृदय को शीतलता तथा शान्ति नहीं प्रदान करती? जानकी का चरित्र भारतीय ललना के महान् आदर्श का प्रतीक है। रावण के वारंबार प्रार्थना करने पर भी सीता ने जो अवहेलनासूचक वचन कहा है, वह भारतीय नारी के गौरव को सदा उद्घोषित करता रहेगा। "इस निशाचर रावण से प्रेम करने की बात तो दूर रही, मैं तो इसे अपने पैर से—नहीं-नहीं, बायें पैर से—भी नहीं छू सकती।"

रावण की मृत्यु के अनन्तर राम ने सीता के चरित्र की विशुद्धि सामान्य जनता के सामने प्रकट करने के लिये अनेक कटुवचन कहे। उन वचनों के उत्तर में सीता के वचन इतने मर्मस्पर्शी हैं कि आलोचक का हृदय आनन्दातिरेक से गद्‌गद हो जाता है:—

'मेरे चरित्र पर लांछन लगाना कथमपि उचित नहीं है। मेरे निर्बल अंश को आपने पकड़कर आगे किया है, परन्तु मेरे सबल अंश को पीछे ढकेल दिया है। नारी का दुर्बल अंश है—उसका स्त्रीत्व और उसका सबल अंश है—उसका पत्नीत्व तथा पातिव्रत। नर-शार्दूल! आप मनुष्यों में श्रेष्ठ हैं, परन्तु क्रोध के आवेश में आपका यह कहना साधारण मनुष्यों के समान है। आपने मेरे स्त्रीत्व को तो दोषारोपण करने के निमित्त आगे किया है, परन्तु आपने इस बात पर तनिक भी ध्यान नहीं दिया कि बालकपन में ही आपने मेरा पाणिग्रहण किया, आपकी मैं शास्त्रानुमोदित धर्मपत्नी हूँ। मैं आपकी भक्ति करती हूँ तथा मेरा स्वभाव निश्छल और पवित्र है। आश्चर्य है आप जैसे नर-शार्दूल ने मेरे स्वभाव को, भक्ति को तथा पाणिग्रहण को पीछे ढकेल दिया, केवल स्त्रीत्व को आगे रखा है—

त्वया तु नरशार्दूल ! क्रोधमेवानुवर्तता ।
लघुनेव मनुष्येण स्त्रीत्वमेव पुरस्कृतम् ॥
न प्रमाणीकृतः पाणिर्बाल्ये बालेन पीडितः ।
मम भक्तिश्च शीलं च सर्वं ते पृष्ठतः कृतम् ॥

कितनी ओजस्विता भरी है इन सीधे-सादे निष्कपट शब्दों में ! अनादृता भारतीय ललना का यह हृदयोद्गार कितना हृदय-वेधक है ! सुनते ही सहृदय मनुष्य की आँखों में सहानुभूति के आँसू छलक पड़ते हैं ।

राम और सीता का निर्मल चरित्र वाल्मीकि की कोमल काव्य-प्रतिभा का मनोरम निदर्शन है । रामायण हमारा जातीय महाकाव्य है । वह भारतीय हृदय का उच्छ्वास है । यह मानव-जीवन राम-दर्शन के विना निरर्थक है—'राम-दर्शन' उभय अर्थ में—राम-कर्तृक दर्शन (राम के द्वारा देखा जाना) तथा राम-कर्मक दर्शन (राम को देखना) । राम जिसको नहीं देखते, वह लोक में निन्दित है और जो व्यक्ति राम को नहीं देखता, उसका भी जीवन निन्दित है । उसका अन्तःकरण स्वयं उसकी निन्दा करने लगता है—

यश्च रामं न पश्येत्तु यं च रामो न पश्यति ।
निन्दितः स भवेल्लोके स्वात्माप्येनं विगर्हते ॥

मानवता की कसौटी

महर्षि वाल्मीक की दृष्टि में 'चरित्र' ही मानवता की कसौटी है । चरित्र से युक्त मनुष्य की खोज तथा उसका विशद वर्णन ही रामायण का मुख्य उद्देश्य है । वाल्मीकि ने महर्षि नारद से यही जिज्ञासा की है—

"चारित्र्येण च को युक्तः ?"

चरित्र ही मानव को देवता बनाता है । इस चरित्र का पूर्ण विकास मर्यादा-पुरुषोत्तम रामचन्द्र में दृष्टिगोचर होता है । रामचरित्र ही आर्यचरित्र का आदर्श है और वह मानवता की चरम अभिव्यक्ति है । राम में मानसिक विकास की ही पूर्णता लक्षित नहीं होती; अपितु शारीरिक सौन्दर्य का भी मंजुल पर्यवसान उनमें उपलब्ध होता है (द्रष्टव्य—सुन्दर काण्ड, अध्याय ३५) । राम में धैर्य का चूडान्त दृष्टान्त हमें मिलता है । साधारण मनुष्य जीवन के साफल्यभूत राज्य से बहिर्भूत होने पर कितना व्यथित तथा आर्त होता है ? यह अनुभव से

हमें भली-भाँति पता चलता है, परन्तु राम के ऊपर इस निर्मम घटना का तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ता। वे महनीय हिमालय के समान अडिग तथा अडोल खड़े होकर विपत्ति के दुर्दान्त तरंगों को अपने विशाल वक्षःस्थल के ऊपर सहते हैं, परन्तु उनके चित्त में किसी प्रकार का विकार लक्षित नहीं होता :—

न वनं गन्तुकामस्य त्यजतश्च वसुन्धराम्।
सर्वलोकातिगस्येव लक्ष्यते चित्तविक्रिया॥

(अयोध्या० १९।३२)

इसका कारण यह था कि उनमें ममत्व बुद्धि का प्रकृष्ट विलास दृष्टिगोचर होता है। भगवद्गीता के अनुसार आदर्श मानव में जिन गुणों का सद्भाव रहता है रामचन्द्र उन समग्र गुणों की जीवन्त मूर्ति थे। विषमबुद्धि व्यक्ति ही परिस्थिति के विपर्यय से परिताप का आश्रय बनता है, परन्तु समबुद्धि विषम विपर्यय में भी परिताप को अपने पास फटकने नहीं देता। समबुद्धि तथा समदर्शी राम परिताप करने से इसलिए कोसों दूर हैं।

राम क्षात्र धर्म के साकार विग्रह हैं। भारतवर्ष का क्षत्रियत्व राम के नस-नस में व्याप्त हो रहा है। ऋषियों के विशेष आग्रह करने पर राम राक्षसों के मारने की विकट प्रतिज्ञा करते हैं। सीता क्षात्रधर्म के सेवन से बुद्धि के मलिन होने की बात सुनाकर उन्हें इस कार्य से विरत करना चाहती हैं :—

कदर्य-कलुषा बुद्धिर्जायते शस्त्रसेवनात्।
पुनर्गत्वा त्वयोध्यायां क्षात्रधर्मं चरिष्यसि॥

(अरण्य० ९।५८)

परन्तु राम इस प्रेममय उपालम्भ का तिरस्कार कर डंके की चोट क्षत्रियत्व के आदर्श को प्रकट करते हैं—

क्षत्रियैर्धार्यते चापो नार्त-शब्दो भवेदिति।

(अरण्य १०।३)

क्षत्रियों के द्वारा धनुष धारण करने की यही आवश्यकता है कि पीड़ितों का शब्द ही कहीं न हो। जगत् की रक्षा का भार धनुर्धारी क्षत्रियों के ऊपर सर्वदा रहता ही है।

राम सत्य तथा प्रतिज्ञा-पालन के महनीय व्रती हैं। सत्यनिष्ठा तथा प्रतिज्ञा-निर्वाह के महनीय व्रत के कारण वे संसार में महिमा-सम्पन्न माने जाते हैं। जाबालि ने राम को अयोध्या लौट जाने तथा सिंहासन पर आसीन होने के लिए किन युक्तियों का व्यूह नहीं रचा, परन्तु राम अपने सत्य से, पिता के सामने की गई प्रतिज्ञा से रंचक मात्र भी विचलित नहीं हुए। उन्होंने बड़े आग्रह से कहा कि न तो लोभ से, न मोह से, न अज्ञान से मैं सत्य के सेतु को तोड़ूँगा। पिता के सामने प्रतिज्ञा का निर्वाह अवश्य करूँगा—

नैव लोभान्न मोहाद्वा नह्यज्ञानात् तमोऽन्वितः।
सेतुं सत्यस्य भेत्स्यामि गुरोः सत्यप्रतिश्रवः॥
(अयोध्या० १०९।१७)

सीताजी के द्वारा बारम्बार क्षात्रधर्मानुकूल प्रतिज्ञा-पालन से पराङ्मुख किये जाने पर राम का क्षत्रियत्व उबल उठता है। वे डंके की चोट पुकार उठते हैं— मैं अपने प्राणों को भी छोड़ सकता हूँ, हे सीते! लक्ष्मण के साथ तुम्हें भी छोड़ सकता हूँ, परन्तु प्रतिज्ञा कभी नहीं छोड़ सकता, विशेष कर ब्राह्मणों के साथ की गई प्रतिज्ञा तो मेरे लिए नितान्त अपरिहार्य है—

अप्यहं जीवितं जह्यां त्वां वा सीते सलक्ष्मणाम्।
न तु प्रतिज्ञां संश्रुत्य ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः॥
(अरण्य० १०।१९)

राजा की महिमा

वाल्मीकि आर्यधर्म के रहस्य का उद्घाटन करते हैं जब वे कहते हैं कि आर्य जीवन धर्मबन्ध से बधा हुआ है। मानव भारतीय संस्कृति के अनुसार स्वतन्त्र प्राणी तो अवश्य है, परन्तु समग्र मानव एक दूसरे से धर्मसम्बन्ध में बँधकर एक दूसरे के हीत-चिन्तन तथा हिताचरण में संलग्न है तथा अपने निर्दिष्ट नैतिक मार्ग से एक पग भी नहीं डीगता। भरत अपने शुद्ध भावों की सफाई देते हुए कह रहे हैं कि धर्मबन्धन के कारण ही मैं वध करने योग्य भी पापाचारिणी माता को मार नहीं डालता (अयोध्या० १०।३।८)।

वाल्मीकि समग्र राष्ट्र के हितचिन्तक कवि हैं। राष्ट्र का केन्द्र है राजा। भारतीय राजा पाश्चात्य राजाओं के समान प्रजाओं की इच्छाओं का दलन करनेवाला स्वेच्छाचारी नरपति नहीं होता, प्रत्युत वह प्रजाओं का रंजक (प्रकृतिरंजक), उनका हितचिन्तक तथा राष्ट्र का उन्नायक होता है। इस

प्रसंग में 'अराजक जनपद' की दुरवस्था का वर्णन पढ़कर वाल्मीकि की मनोवृत्ति का हम अनुमान लगा सकते हैं। अयोध्याकाण्ड के ६७वें सर्ग का 'नाराजके जनपदे' वाला लोकगायन भारतीय राजनीति के सिद्धान्तों का प्रकाशक एक महनीय वस्तु है। राजा राष्ट्र के धर्म तथा सत्य का उद्भव स्थल है (अयोध्या० ६७।३३, ३४)। इसीलिए उसके अभाव में राष्ट्र का कोई भी मंगल न सम्पन्न हो सकता है, न कोई कल्याण कल्पित हो सकता है :—

नाराजके जनपदे धनवन्तः सुरक्षिताः।
शेरते विवृतद्वाराः कृषिगोरक्ष-जीविनः॥

(अयोध्या० ६७।१९)

इस प्रकार वाल्मीकि भारतीय साहित्य के हृदय के ही प्रकाशक आदिकवि नहीं हैं, बल्कि वे भारतीय संस्कृति के संस्कारक मनीषी भी हैं। कमनीय काव्यलता उनके रामायण के पदों में स्वतः नाचती है और भारत की भव्य संस्कृति इनके पात्रों के द्वारा अपनी मनोरम झाँकी दिखलाती है। इसीलिए कविता-कल्पद्रुम के कमनीय कोकिल रूप वाल्मीकि का कूजन किसे आनन्द-विभोर नहीं करता ?

कूजन्तं राम-रामेति मधुरं मधुराक्षरम्।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकि-कोकिलम्॥

भारतीय संस्कृति को रामायण की देन

भारतीय संस्कृति की स्वरूप कल्पना के ऊपर वाल्मीकीय रामायण का महनीय प्रभाव है। भारतीय संस्कृति तथा रामायण दोनों ही अन्योन्यालङ्कार के उदाहरण हैं। भारतीय संस्कृति ही रामायण है और रामायण ही भारतीय संस्कृति है। भारतीय संस्कृति न तो एकान्ततः भोगाश्रित है और न वह मुख्यतया त्यागप्रधान है; प्रत्युत वह भोग तथा त्याग दोनों के मञ्जुल सामरस्य पर आधारित होने वाली संस्कृति है। वाल्मीकीय रामायण ने उसके रूप को परिष्कृत करने में विशेष योगदान दिया है।

वाल्मीकीय रामायण का आरम्भ महर्षि नारद तथा वाल्मीकि के संवाद से होता है। नारद के सामने वाल्मीकि ने आदर्श मानव के चरित को सुनने की इच्छा प्रकट की। उन्होंने शरीर तथा मस्तिष्क के महनीय गुणों से युक्त व्यक्ति की जिज्ञासा की। मुख्य प्रश्न था—

चरित्र्येण च को युक्तः सर्वभूतेषु को हितः।
विद्वान् कः कः समर्थश्च कश्चैकप्रियदर्शनः॥

चारित्र्य से युक्त व्यक्ति की ही जिज्ञासा वाल्मीकि को थी। इसके उत्तर में नारद ने कहा—

मुने वक्ष्याम्यहं बुद्ध्वा तैर्युक्तः श्रूयतां नरः।

नारद ने आदर्श नर का ही चरित-चित्रण किया। मानव मूल्यों के अंकन में, जीवन को उदात्त बनाने की कला में, सत्यं तथा शिवं के साथ सुन्दरं के मधुमय सामंजस्य में, वाल्मीकि की वाणी विश्व के सामने एक भव्य आदर्श उपस्थित कर जनता के हृदय को सदा स्पन्दित करती आई है और भविष्य में भी स्पन्दित करती रहेगी—यह चिरन्तन सत्य है।

भारतीय संस्कृति के सामने पिता, पुत्र, भ्राता, भार्या, राजा तथा प्रजा के आदर्शों को प्रस्तुत करने का कार्य यह रामायण शताब्दियों से करता आया है। मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र के चरित में इन आदर्शों का पुञ्ज उपस्थित कर रामायण ने हमारे सामने एक विलक्षण आदर्श चरित को प्रस्तुत किया है, जिसकी समता कहीं नहीं मिलती। भारतीय संस्कृति मानव जीवन में चारित्र्य के ऊपर सर्वाधिक निष्ठा रखती है। रामायण का कहना है कि चारित्र्य ही मानव के उस सच्चे स्वरूप की पहिचान है कि वह अच्छे कुल में उत्पन्न हुआ है या नीच कुल में, वह सच्चा वीर है अथवा वीरता की केवल डींग हाँकता है, वह शुचि है अथवा अशुचि है—

कुलीनमकुलीनं वा वीरं पुरुषमानिनम्।
चारित्र्यमेव व्याख्याति शुचिं वा यदि वाऽशुचिम्॥
(अयोध्या० १०९।४)

आदर्श पुत्र की कल्पना भारतीय संस्कृति को रामायण ने सिखलाई है। काम के द्वारा विचलित मानस होने वाले पिता की भी आज्ञा का पालन रामचन्द्र ने जिस दृढ़ता के साथ किया, वह अपना प्रतिस्पर्धी नहीं रखता। जावालि ने राम को दशरथ के चरित्र में अनेक त्रुटियाँ दिखला कर न्यायमार्ग से विचलित करने के लिये जी तोड़ प्रयास किया, परन्तु राम उस मार्ग से तनिक भी विचलित नहीं हुए। सत्य प्रतिज्ञा के जय का उद्घोष करते हुए उन्होंने अपना निर्णय डंके की चोट कह सुनाया—

नैव लोभान्न मोहद् वा न चाज्ञानात् तमोऽन्वितः।
सेतुं सत्यस्य भेत्स्यामि गुरोः सत्यप्रतिश्रवः॥
सत्यमेवेश्वरो लोके सत्ये धर्मः सदाऽऽश्रितः।
सत्यमूलानि सर्वाणि स्यान्नास्ति परं पदम्॥

आदर्श पिता की साकार मूर्त्ति भारतीय संस्कृति महाराज दशरथ के रूप में साक्षात् करती है। पुत्र के वियोग में पिता का प्राणत्याग यह तो अनहोनी सी घटना है। परन्तु दशरथ ने अपने जीवन में इसी विलक्षण वस्तु को प्रस्तुत कर विश्व के सामने एक आदर्श उपस्थित कर दिया। उन्होंने अपने प्रतिश्रुत वचन के पालने के लिए कड़ा हृदय कर राम को वनवास दे दिया और भरत को अपना युवराज बनाया, परन्तु भरत के उस भ्रातृप्रेम की सराहना हम किन शब्दों में करें जिसने माता-पिता दोनों के द्वारा दिये गये अतुल साम्राज्य को लात मार कर वनवासी भाई का जीवन स्वयं बिताया। कालिदास ने भरत के इस दिव्य व्यवहार को उपमा असिधारा-व्रत के पालन से दी है—

पित्रा विसृष्टां मदपेक्षया यः
श्रियं युवाप्यङ्कगतामभोक्ता।
इयन्ति वर्षाणि तया सहोग्र-
मभ्यस्यतीव व्रतमासिधारम्॥

राम के जीवन में सच्चा भ्रातृप्रेम तब हमें लक्षित होता है जब वे लंका के रणक्षेत्र में शक्ति द्वारा मूर्च्छित लक्ष्मण के लिये विलाप करते हुए कहते हैं—

देशे देशे कलत्राणि देशे देशे च बान्धवाः।
तं तु देशं न पश्यामि यत्र भ्राता सहोदरः॥

स्त्रियां तो प्रतिदेश में प्राप्त हो सकती हैं, बन्धु-बान्धव भी प्रतिदेश में उपलब्ध होते हैं, परन्तु मैं वह देश नहीं देखता जहाँ एक ही माता के उदर से उत्पन्न होने वाला भाई दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार आदर्श भ्रातृप्रेम को कल्पना रामायण ने हमें दी है।

जनकनन्दिनी सीता के विमल चरित्र को विश्व के सामने प्रस्तुत कर रामायण ने भारतीय संस्कृति की उदात्त भावना को उच्चतम बनाया। वह अयोध्या के विलासी जीवन का तिरस्कार कर अपने पतिदेव राम के साथ कठोर जंगल का जीवन स्वीकार करती है, परन्तु पति के सेवाव्रत से अपने

को वंचित नहीं रखती। पातिव्रत की वह पराकाष्ठा सीता में है जिसका दर्शन तो अलग रहे, जिसकी कल्पना भी अन्यत्र दुर्लभ है। लंका के अधिपति रावण की प्रार्थना को ठुकराती हुई वह कहती है—कि इस निन्दनीय निशाचर रावण से प्रेम करने की बात तो दूर रही, मैं तो इसे अपने पैर से—नहीं-नहीं बायें पैर से भी नहीं छू सकती—

चरणेनापि सव्येन न स्पृशेयं निशाचरम्।
रावणं किं पुनरहं कामयेयं विगर्हितम्॥
(सु० २६।१०)

हनुमान ने लंका से लौटते समय घोर आग्रह किया कि सीता उनकी पीठ पर उसी दिन रामचन्द्र के पास चलें—राम से तुरन्त भेंट हो जाय, परन्तु सीता का यह मार्मिक उत्तर भारतीय संस्कृति के सामने एक अनुपम आदर्श प्रस्तुत कर गया, जिसकी कल्पना भी अन्यत्र दुर्लभ है। वे कहती हैं कि मैं राम को छोड़कर किसी अन्य के शरीर को स्वतः छूने की इच्छा भी नहीं करती, छूने की बात तो न्यारी ही ठहरी—

भर्तुर्भक्तिं पुरस्कृत्य रामादन्यस्य वानर।
नाहं स्प्रष्टुं स्वतो गात्रमिच्छेयं वानरोत्तम॥

भारतीय संस्कृति गार्हस्थ्य जीवन को आश्रित कर पनपती है और इस जीवन के समस्त आदर्शों को प्रस्तुत करने वाला रामायण उसे आधार भूमि प्रदान करता है, खड़ा होने के लिए, अपना अस्तित्व रखने के लिए तथा अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति करने के लिए।

रामराज्य की भव्य कल्पना रामायण की ही देन है। पाश्चात्य जगत् में किसी आदर्श सामाजिक भावना को 'यूटोपिया' के नाम से पुकारते हैं, जो कल्पना संसार में ही विचरती है और ठोस जमीन पर आने से सदा हिचकती है। "रामराज्य" ऐसी कोई कल्पित "यूटोपिया" नहीं है, प्रत्युत वह भूतल पर विचरने वाली दिव्य वस्तु है। आदर्श राजा के शासन काल में ही इसका दर्शन हो सकता है। आज भी हमारे लिए "रामराज्य" की स्थापना राजनीतिक लक्ष्य है। इस रामराज्य के स्वरूप को वाल्मीकि के शब्दों में समझने की जरूरत है—

प्रहृष्टमुदितो लोकस्तुष्टः पुष्टः सुधार्मिकः।
निरामयो ह्यरोगश्च दुर्भिक्षामयवर्जितः॥

रामराज्य की समस्त प्रजा व्यक्तिगत सम्पत्ति की प्राप्ति से प्रहृष्ट रहती है तथा किसी प्रकार के क्षोभ के अभाव में वह मुदित रहती है। वह संतुष्ट, पुष्ट तथा सुन्दर धार्मिक आचरण वाली होती है। वह आमय—मानसिक पीड़ा तथा रोग—दैहिक व्याधि—इन दोनों से रहित होती है। उसे अकाल का भय नहीं रहता। उसे भूख का न भय रहता है, और न चोर का डर। नगर और राष्ट्र धन-धान्य से युक्त रहते हैं। किसी भी प्रकार के रोग का भय रामराज्य में नहीं होता। अल्पायु कोई नहीं होता। पिता के जीवित रहते पुत्र का मरण कभी नहीं होता। स्त्रियाँ सर्वदा सधवा तथा पतिव्रता रहती हैं।

न चापि क्षुद्भयं तत्र न तस्करभयं तथा।
नगराणि च राष्ट्राणि धन्यधान्ययुतानि च॥
न पुत्रमरणं केचिद् द्रक्ष्यन्ति पुरुषाः क्वचित्।
नार्यश्चाविधवा नित्यं भविष्यन्ति पतिव्रताः।

निष्कर्ष यह है कि रामायण का उपदेश भारतीय संस्कृति का मेरुदण्ड है। रामायण के अनुशीलन तथा तदनुसार आचरण ने ही भारतीय संस्कृति को इतना उदात्त तथा गौरवमयी बनाया है।

———

महाभारत

व्यासगिरां निर्यासं सारं विश्वस्य भारतं वन्दे।
भूषणतयैव संज्ञां यदङ्कितां भारती वहति॥

(गोवर्धनाचार्य)

रामायण तथा महाभारत हमारे जातीय इतिहास हैं। भारतीय सभ्यता का भव्य रूप इन ग्रन्थों में जिस प्रकार फूट निकलता है वैसा अन्यत्र नहीं। कौरवों और पाण्डवों का इतिहास-वर्णन ही इस ग्रन्थ का उद्देश्य नहीं है, अपि तु हमारे हिन्दू-धर्म का विस्तृत एवं पूर्ण चित्रण भी प्रयोजन है। महाभारत का शान्तिपर्व जीवन की समस्याओं को सुलझाने का कार्य हजारों वर्षों से करता आ रहा है। इसलिए इस इतिहास ग्रन्थ को हम अपना धर्मग्रन्थ मानते आये हैं, जिसका पठन-पाठन, श्रवण-मनन सब प्रकार से हमारा कल्याणकारक है। इस ग्रन्थ का सांस्कृतिक मूल्य भी कम नहीं है। सच तो यह है कि केवल इसी ग्रन्थ के अध्ययन से हम अपनी संस्कृति के शुद्ध स्वरूप से परिचय पा सकते हैं। भारतीय साहित्य

का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ 'भगवद्गीता' इसी महाभारत का एक अंश है। इसके अतिरिक्त 'विष्णुसहस्रनाम', 'अनुगीता', 'भीष्मस्तवराज', 'गजेन्द्रमोक्ष' जैसे आध्यात्मिक तथा भक्तिपूर्ण ग्रन्थ यहीं से उद्धृत किये गये हैं। इन्हीं पाँच ग्रन्थों को 'पंचरत्न' के नाम से पुकारते हैं। इन्हीं गुणों के कारण महाभारत 'पञ्चम वेद' के नाम से विख्यात है। वाल्मीकि के समान व्यास जी भी संस्कृत कवियों के लिये उपजीव्य हैं। महाभारत के उपाख्यानों का अवलम्बन कर ही कालान्तर में हमारे कवियों ने काव्य, नाटक, गद्य, पद्य, चम्पू, कथा, अख्यायिका आदि नाना प्रकार के साहित्य की सृष्टि की है। इतना ही क्यों ? जावा-सुमात्रा के साहित्य में भी महाभारत विद्यमान है। वहाँ के लोग भी महाभारत के कथानक से उसी प्रकार शिक्षा ग्रहण करते हैं तथा पाण्डव-चरित के अभिनय से उसी प्रकार मनोरंजन करते हैं जिस प्रकार यहाँ के लोग। महाभारत इतना विशाल है कि व्यासजी का यह कथन सर्वथा सत्य प्रतीत होता है—'इस ग्रन्थ में जो कुछ है वह अन्यत्र है, परन्तु जो कुछ इसमें नहीं है वह अन्यत्र कहीं भी नहीं है।'[1] प्राचीन राजनीति को जानने के लिये हमें इसी ग्रन्थ की शरण लेनी पड़ती है। विदुरनीति, जिसमें आचार तथा लोक-व्यवहार के नियमों का सुन्दर निरूपण है, महाभारत का ही एक अंश है। इस प्रकार ऐतिहासिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि अनेक दृष्टियों से महाभारत एक गौरवपूर्ण ग्रन्थ है।

रचयिता

महाभारत के रचयिता महर्षि वेदव्यास का सम्बन्ध महाभारत के पात्रों के साथ बहुत ही घनिष्ठ है। उनकी माता का नाम सत्यवती था, जो चेदिराज वसु उपरिचर के वीर्य से यमुना के किसी द्वीप में उत्पन्न हुई थीं। मल्लाहों के राजा दासराज के द्वारा जन्मकाल से ही उनकी रक्षा तथा पोषण हुआ था। यमुना के किसी द्वीप में जन्म के कारण व्यास जी 'द्वैपायन' कहलाते थे, शरीर के रंग के कारण 'कृष्णमुनि' तथा एक वेद के यज्ञीय उपयोग के लिये चार संहिताओं में विभाग करने के कारण 'वेदव्यास' के नाम से विख्यात थे। वे धृतराष्ट्र, पाण्डु तथा विदुर के जन्मदाता ही नहीं थे, प्रत्युत पाण्डवों का विपत्ति के

---

१. धर्मे ह्यर्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्।

(महाभारत)

समय छाया के समान अनुगमन करनेवाले थे तथा अपने उपदेशों से उन्हें धैर्य, ढाढ़स तथा न्यायपथ पर आरूढ़ रहनेकी शिक्षा दिया करते। कौरवों को युद्ध से विरत करने के लिये इन्होंने कोई भी प्रयत्न उठा नहीं रखा, परन्तु विषय-भोग के पुतले इन कौरवों ने इनके उपदेशों को लात मारकर अपनी करनी का फल खूब ही पाया। इनसे बढ़कर भारतीय युद्ध के वर्णन करने का अधिकारी कोई दूसरा विद्वान् नहीं था। इन्होंने तीन वर्षों तक सतत परिश्रम से—सदा उत्थान से—इस अनुपम ग्रन्थ की रचना की :—

त्रिभिर्वर्षैः सदोत्थायी कृष्णद्वैपायनो मुनिः।
महाभारतमाख्यानं कृतवानिदमुत्तमम् ॥
(आदिपर्व—५६।३२)

ऐसे महनीय ग्रन्थ की तीन वर्षों के भीतर रचना का कार्य ग्रन्थकार की अनुपम काव्यप्रतिभा तथा अदम्य उत्साह का पर्याप्त सूचक है।

आजकल महाभारत में एक लाख श्लोक मिलते हैं। इसलिये इसे 'शतसाहस्री संहिता' कहते हैं। इसका यह स्वरूप कम से कम डेढ़ हजार वर्ष से अवश्य है, क्योंकि गुप्तकालीन शिलालेख में यह 'शतशाहस्री संहिता' के नाम से उल्लिखित हुआ है। विद्वानों का कहना है कि महाभारत का वह रूप अनेक शताब्दियों में विकसित हुआ। बहुत प्राचीन काल से अनेक गाथाएँ तथा आख्यान इस देश में प्रचलित थे, जिनमें कौरवों तथा पाण्डवों की वीरता का वर्णन किया गया था। अथर्ववेद में परीक्षित का आख्यान उपलब्ध होता है। अन्य वैदिक ग्रन्थों में यत्र-तत्र महाभारत के वीर पुरुषों की बातें उल्लिखित मिलती हैं। इन्हीं सब गाथाओं तथा आख्यानों को एकत्र कर महर्षि वेदव्यास ने जिस काव्य का रूप दिया है वही आजकल का सुप्रसिद्ध महाभारत है। इसके विकास के तीन क्रमिक स्वरूप माने जाते हैं—(१) जय, (२) भारत, (३) महाभारत।

इस ग्रन्थ का मौलिक रूप (१) 'जय' नाम से प्रसिद्ध था। इस ग्रन्थ में नारायण[१], नर, और सरस्वती देवी को नमस्कार कर जिस 'जय' नामक ग्रन्थ के पठन का विधान है वह 'महाभारत' का मूल प्रतीत होता है। वहाँ स्वयं

---

१. नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत् ॥
(महाभारत—मंगल श्लोक)

लिखा हुआ है कि इसका प्राचीन नाम जय था[1]। पाण्डवों के विजय-वर्णन के कारण ही इस ग्रन्थ का ऐसा नामकरण किया गया है। (२) भारत—दूसरी अवस्था में इसका नाम 'भारत' पड़ा। इसमें उपाख्यानों का समावेश नहीं था। केवल युद्ध का वर्णन ही प्रधान विषय था। इसी भारत को वैशम्पायन ने पढ़कर जनमेजय को सुनाया था[2]। (३) महाभारत—विक्रम से लगभग पाँच सौ वर्ष पूर्व विरचित आश्वलायन गृह्यसूत्र में 'भारत' के साथ 'महाभारत' का नाम निर्दिष्ट है। अतः यह रूप भी दो हजार वर्ष से पुराना ही प्रतीत होता है। भारत के वर्तमान रूप में परिबृंहण का कार्य उपाख्यानों के जोड़ने से ही निष्पन्न हुआ है। इन उपाख्यानों में कुछ तो प्राचीन ऋषि तथा राजाओं के जीवन से सम्बद्ध होने के कारण घटना-प्रधान हैं, कतिपय ऐतिहासिक होने से प्राचीन इतिहास की अमूल्य निधि हैं, कतिपय तत्कालीन लोक-कथा के ही साहित्यिक संस्करण हैं और इस दृष्टि से इनकी तुलना जातकों के साथ की जा सकती है। अध्यात्म, धर्म तथा नीति की विषद विवेचना ने इस महाभारत को भारतीय धर्म तथा संस्कृति का विशाल 'विश्वकोष' बनाने में कुछ उठा नहीं रखा है। डाक्टर सुकथनकर का प्रमाणपुष्ट मत है[3] कि भृगुवंशी ब्राह्मणों के द्वारा किये गये सम्पादनों का ही फल है महाभारत का वर्तमान बृद्धिगत रूप। कुलपति शौनक स्वयं भार्गव थे, उनकी पहली जिज्ञासा भार्गव वंश की कथा सुनने की थी—

तत्र वंशमहं पूर्वं श्रोतुमिच्छामि भार्गवम्।

महाभारत के नाना उपाख्यानों का सम्बन्ध स्पष्टरूप से भार्गवों के साथ है। और्व (आदि), कार्तवीर्य (वन), अम्बोपाख्यान (उद्योग), विपुला (शान्ति), उत्तंक (अश्व०)—इन समग्र विख्यात आख्यानों का सीधा सम्बन्ध भार्गवों के साथ है। आदि पर्व के प्रथम ५३ अध्याय (पौलोम तथा पौष्यपर्व) भार्गववंशीय कथा से अपना सम्बन्ध रखते हैं। आजकल महाभारत की

---

१. 'जय' नामेतिहासोऽयम्।

२. चतुर्विंशतिसाहस्रीं चक्रे भारतसंहिताम्।
उपाख्यानैर्विना तावद् भारतं प्रोच्यते बुधैः॥
(महाभारत)

३. भंडारकर रिसर्च इन्स्टीच्यूट की पत्रिका, भाग १८, पृ० १७६ तथा नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग ४५, पृ० १०५–१६२।

'शतसाहस्री संहिता' के नाम से प्रख्याति का कारण इसके एक लक्ष परिमित श्लोक की संख्या ही है। यह संख्या अठारहों पर्वों के श्लोकों के साथ हरिवंश के श्लोकों को मिलाने से ही सिद्ध होती है। इसीलिए 'हरिवंश' महाभारत का परिशिष्ट माना जाता है। महाभारत के दो प्रधान पाठ-सम्प्रदाय हैं—एक उत्तर भारत का, दूसरा दक्षिण भारत का। दोनों की श्लोक-संख्या, अध्यायों के क्रम, आख्यानों का सन्निवेश—आदि विषयों में महान् अन्तर है। मूल महाभारत की खोज बहुत दिनों से हो रही है। आजकल भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना से एक संस्करण प्रकाशित हुआ है जिसमें इस ग्रन्थ के विशुद्ध रूप को निश्चित करने का सफल उद्योग किया गया है।

रचना-काल

४४५ ई० (५०२ वि०) के एक शिलालेख में महाभारत का निर्देश इस प्रकार है—'शतसाहस्र्यां संहितायां वेदव्यासेनोक्तम्'। इससे प्रतीत होता है कि इससे कम से कम २०० वर्ष पहले इसका अस्तित्व अवश्य होगा। कनिष्क के सभापण्डित अश्वघोष ने 'वज्रसूची' उपनिषद् में हरिवंश के श्लोक तथा स्वयं महाभारत के भी कुछ श्लोक उद्धृत किये हैं।[1] अश्वघोष का समय ई० सन् की प्रथम शताब्दी है। अतः उस समय ग्रन्थ हरिवंश के साथ लक्षश्लोकात्मक था, इसमें किसी को सन्देह नहीं हो सकता। आश्वलायन गृह्यसूत्र (३।४।४) में 'भारत' तथा 'महाभारत' का पृथक्-पृथक् उल्लेख किया गया है।[2] बौधायन के गृह्यसूत्र में 'विष्णुसहस्रनाम' का स्पष्ट उल्लेख है तथा भगवद्गीता का एक श्लोक प्रमाण रूप से उद्धृत किया गया है[3]। इन दोनों ग्रन्थकारों की स्थिति ईस्वी के लगभग चार सौ वर्ष पहले मानी जाती है। ये दोनों ग्रन्थकार महाभारत के विस्तृत रूप से परिचित हैं। गीता को भगवान् के वचनरूप से जानते हैं। ययाति के उपाख्यान का निर्देश

---

१. सप्त व्याधा दशार्णेषु मृगाः कालञ्जरे गिरौ।

२. सुमन्तुजैमिनिवैशम्पायनपैल-सूत्रभाष्यभारतमहाभारतधर्माचार्याः।

(आश्वलायन-गृह्य०, अध्याय ३, खण्ड ४)

३. देशाभावे द्रव्याभावे साधारणे कुर्याद् मनसा वाचयेद् इति तदाह भगवान्:—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः॥

(गीता ९।२६)

करते हैं। अतः स्पष्ट है कि मूल महाभारत की रचना इससे (४०० ई० पू०) कम से कम दो सौ वर्ष पूर्व अवश्य हुई होगी। महाभारत बुद्ध के पहले की रचना है, परन्तु वर्तमान रूप उसे बुद्ध के पीछे प्राप्त हुआ, यही मानना न्याय-संगत है।

ग्रन्थ-परिचय

महाभारत के खण्डों को पर्व कहते हैं। ये संख्या में अठारह हैं—(१) आदि, (२) सभा, (३) वन, (४) विराट, (५) उद्योग, (६) भीष्म, (७) द्रोण, (८) कर्ण, (९) शल्य, (१०) सौप्तिक, (११) स्त्री, (१२) शान्ति, (१३) अनुशासन, (१४) अश्वमेध, (१५) आश्रमवासी, (१६) मौसल, (१७) महाप्रस्थानिक, (१८) स्वर्गारोहण।

आदि पर्व में चन्द्रवंश का विस्तृत इतिहास तथा कौरव-पाण्डवों की उत्पत्ति का वर्णन है। सभा पर्व में है द्यूतक्रीडा, वन पर्व में पाण्डवों का वनवास, विराटपर्व में पाण्डवों का अज्ञातवास, उद्योग पर्व में श्रीकृष्ण का दूत बनकर कौरवों की सभा में जाना तथा शान्ति का उद्योग करना, भीष्म पर्व में अर्जुन को गीता का उपदेश, युद्ध का आरम्भ, भीष्म का युद्ध और शरशय्या पर पड़ना, द्रोण पर्व में अभिमन्यु-वध, द्रोणाचार्य का युद्ध और वध; कर्ण पर्व में कर्ण का युद्ध और वध, शल्य पर्व में शल्य की अध्यक्षता में लड़ाई और अन्त में वध, सौप्तिक पर्व में पाण्डवों के सोये हुए पुत्रों का रात में अश्वत्थामा द्वारा वध, स्त्री पर्व में स्त्रियों का विलाप, शान्ति पर्व में भीष्म-पितामह का युधिष्ठिर को मोक्षधर्म का उपदेश, अनुशासन पर्व में धर्म तथा नीति की कथाएँ, अश्वमेध में युधिष्ठिर का अश्वमेध यज्ञ करना, आश्रमवासी पर्व में धृतराष्ट्र, गान्धारी आदि का वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करना, मौसल पर्व में यादवों का मूसल के द्वारा नाश, महाप्रस्थानिक पर्व में पाण्डवों की हिमालय-यात्रा तथा स्वर्गारोहण पर्व में पाण्डवों का स्वर्ग में जाना वर्णित है।

महाभारत का वैशिष्ट्य

संस्कृत-साहित्य में आदिकवि वाल्मीकि के अनन्तर महर्षि व्यास ही सर्वश्रेष्ठ कवि हुए। इनके लिखित काव्य 'आर्ष काव्य' के नाम से प्रसिद्ध हैं। पिछली शताब्दियों में संस्कृत साहित्य की जो उन्नति हुई, जिन काव्य-नाटकों की रचना हो गई उसमें इन दो ग्रन्थों का प्रभाव मुख्य है। महाकवि कालिदास ने रघुवंश में इन कवियों का बड़े आदर के शब्दों में संकेत किया है। व्यास की

प्रतिभा की परिचायक यही घटना है कि युद्धों के वर्णन में कहीं भी पुनरुक्ति नहीं दीख पड़ती है। व्यास जी का अभिप्राय महाभारत लिखकर केवल युद्धों का वर्णन ही नहीं है, अपि तु इस भौतिक जीवन की निःसारता दिखला कर प्राणियों को मोक्ष के लिये उत्सुक बनाना है। इसीलिये महाभारत का मुख्य रस शान्त है, वीर तो अङ्गभूत है। इसमें प्राकृतिक वर्णन नितान्त अनूठे तथा नवीनतापूर्ण हैं। व्यास जी की यह कृति महाकाव्य न होकर इतिहास कही जाती है; क्योंकि वह हमारे आदरणीय वीरों की पुण्यमयी गाथा है। यह वह धार्मिक ग्रन्थ है जिसमें प्रत्येक श्रेणी का मनुष्य अपने जीवन के सुधार की सामग्री प्राप्त कर सकता है। राजनीति का तो वह सर्वस्व ही है। राजा और प्रजा के पृथक्-पृथक् कर्तव्यों तथा अधिकारों का समुचित वर्णन इसकी महती विशेषता है। वाल्मीकि के साथ-साथ व्यास से भी हमारे कवियों को काव्यसृष्टि के लिये प्रेरणा तथा स्फूर्ति मिलती आई है और आगे भी मिलेगी। भगवद्गीता की महत्ता का प्रदर्शन करना आवश्यक है। कर्म, ज्ञान और भक्ति का जैसा मंजुल समन्वय गीता में किया गया है वैसा अन्यत्र अप्राप्य है। व्यास जी का कथन है कि इस आख्यान को बिना जाने हुए जो पुरुष वेदांग तथा उपनिषदों को भले जाने, वह कभी विचक्षण नहीं कहा जा सकता[1]; क्योंकि यह महाभारत एक साथ ही अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र, तथा कामशास्त्र है[2]। जिसने इस आख्यान का रसमय श्रवण किया है उसे अन्य कथानकों में किसी प्रकार का रस नहीं मिलता, ठीक उसी प्रकार, जैसे कोकिल की मधुर कूक के आगे कौए की बोली नितान्त रूखी प्रतीत होती है[3]। महाभरत की प्रशंसा में व्यास ने स्वयं इसे समस्त कविजनों के लिए उपजीव्य बतलाया है। इस ग्रन्थ के

---

१. यो विद्याच्चतुरो वेदान् साङ्गोपनिषदो द्विजः।
न चाख्यानमिदं विद्यान्नैव स स्याद्विचक्षणः॥

२. अर्थशास्त्रमिदं प्रोक्तं धर्मशास्त्रमिदं महत्।
कामाशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामितबुद्धिना॥
(महा० आदि० अ०, २; २८-८३)

३. श्रुत्वा त्विदमुपाख्यानं श्राव्यमन्यन्न रोचते।
पुंस्कोकिलगिरं श्रुत्वा रूक्षा ध्वांक्षस्य वागिव॥
(महाभरत आदिपर्व, अध्याय २; ८४)

अभ्यास से कवियों की बुद्धि में स्फूर्ति उत्पन्न होती है—व्यास जी का कथन अक्षरशः सत्य है। बाद के कविजनों ने सचमुच महाभारत से बहुत कुछ लिया है :—

> इतिहासोत्तमादस्माज्जायन्ते कवि-बुद्धयः।
> पञ्चभ्य इव भूतेभ्यो लोकसंविधयस्त्रयः॥
> इदं कविवरैः सर्वैराख्यानमुपजीव्यते।
> उदयप्रेप्सुभिर्भृत्यैरभिजात इवेश्वरः॥

महाभारत के पात्रों में एक विचित्र सजीवता भरी हुई है। सब अपने-अपने ढंग के निराले पात्र हैं, परन्तु धर्मराज में जो धार्मिकता दिखाई पड़ती है वह एक अद्भुत वस्तु है। महाभारत सदा से धर्मशास्त्र के रूप में ही गृहीत होता आया है। वस्तुतः वह है भी धर्म का ही प्रतिपादक ग्रन्थ। व्यास ने अपना सन्देश मनुष्यों के लिए सुन्दर श्लोक में निबद्ध कर दिया है[1]। यदि मनुष्य सच्चा सुख का अभिलाषी है तो उसका परम कर्तव्य धर्मका सेवन ही है।

महर्षि वेदव्यास ने भारतीय अर्थनीति, राजनीति तथा अध्यात्म-शास्त्र के सिद्धान्तों का सारांश इतनी सुन्दरता से इस ग्रन्थरत्न में प्रस्तुत किया है कि यह वास्तव में भारत के धर्म तथा तत्त्वज्ञान का विश्वकोष है। धर्म ही भारतीय संस्कृति का प्राण है और इसीलिए व्यासजी ने अधर्म से देश का नाश तथा धर्म से राष्ट्र के अभ्युत्थान की बात बड़े ही सुन्दर आख्यानों के द्वारा हमें सिखलाई है। 'भारत-सावित्री' (जो महाभारत की भव्य शिक्षा का सार-संकलन माना जाता है) में व्यास की स्पष्ट उक्ति है कि धर्म का परित्याग किसी भी दशा में, भय से या लोभ से, कभी नहीं करना चाहिए। धर्म शाश्वत है, चिरस्थायी है—

> न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
> धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
> धर्मो नित्यः सुख-दुःखे त्वनित्ये
> जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥

---

१. ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चित् शृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते॥
(महाभारत)

व्यास कर्मवादी आचार्य हैं। कर्म ही मनुष्य का पक्का लक्षण है, कर्म से पराङ्मुख मानव मानव की पदवी से सदा वञ्चित रहता है।

प्रकाश-लक्षणा देवा मनुष्याः कर्मलक्षणाः ॥

(अश्वमेध० ४३।२७)

इसीलिए यह भव्य भारतभूमि कर्मभूमि है। फल भोगने का स्थान तो स्वर्ग है, जो इस भूमि के छोड़ने के अनन्तर प्राप्त होता है। इस विशाल ब्रह्माण्ड में मनुष्य ही सबसे श्रेष्ठ वस्तु है, जिसके कल्याण के लिए पदार्थों की सृष्टि होती है, तथा समाज की व्यवस्था की जाती है। आज के समाजशास्त्रियों का यह सिद्धान्त कि मनुष्य ही इस विश्व का केन्द्र है व्यास के इस कथनपर आश्रित है—

गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि।
नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित् ॥

(शान्ति० १८०।१२)

मानवता का उन्नायक तत्त्व पुरुषार्थ ही है। व्यास के शब्दों में यह सिद्धान्त 'पाणिवाद' के नाम से विख्यात है। जगत् में जिन लोगों के पास 'हाथ' है—जो कर्म में दक्ष तथा उत्साही हैं—उनके सब अर्थ सिद्ध होते हैं। संसार में पाणिलाभ से बढ़कर लाभ हो कोई दूसरा नहीं है। मानव-जीवन की कृतकार्यता हाथ रखने तथा हस्त-संचालन में ही तो है। हाथ रहते भी हाथ पर हाथ रखकर जीवन बिताना पशुत्व का व्यञ्जक चिह्न है। इसमें मानव की सिद्धार्थता नहीं है—

अहो सिद्धार्थता तेषां येषां सन्तीह पाणयः।
अतीव स्पृहये तेषां येषां सन्तीह पाणयः ॥
न पाणिलाभादधिको लाभः कश्चन विद्यते।

(शान्ति० १८०।११, १२)

महाभारत में राष्ट्रभावना

व्यासजी की राष्ट्रभावना बड़ी ही उदात्त, विशुद्ध तथा ओजस्विनी है। राजा राष्ट्र का केन्द्र होता है। भारतीय राजा प्रजातन्त्र युग के अधिनायकों के दुर्गुणों से सर्वथा मुक्त होता है, तथा स्वेच्छाचारी राजाओं के दोषों से भी विहीन होता है। वह होता है प्रजा का सर्वभावेन हितचिन्तक तथा मंगल साधक। भारतीय धर्म ही राजमूलक होता है, अर्थात् धर्म की व्यवस्था तथा संचालन का

उत्तरदायित्व राजा के ही ऊपर एक मात्र रहता है। यदि राजा प्रजा का पालन न करे, तो प्रजा ही एक दूसरे को खा न डालेगी, प्रत्युत वेदत्रयी का भी अस्तित्व लुप्त हो जायगा और विश्व को धारण करने वाला धर्म ही रसातल में डूब जायेगा।[1] राजधर्म के बिगड़ने पर समाज तथा राष्ट्र का सर्वनाश हो जाता है। राजनीतिक नेता के लिए महाभारत एक विलक्षण आदर्श उपस्थित करता है, जो आज भी उतने ही सुन्दर रूप से अनुकरणीय तथा ग्राह्य है। भारत कृषि-प्रधान राष्ट्र है। अतः व्यासजी का आग्रह है कि जो नेता स्वयं अपने हाथों कृषि नहीं करता, खेत नहीं जोतता, बोता, उसे नेता बनकर राष्ट्र की समिति में जाने का अधिकार नहीं होता।

न नः स समितिं गच्छेद् यश्च नो निर्वपेत् कृषिम्।

(उद्योग० ३६।३१)

ठीक ही है, किसानों का नेता किसान ही हो सकता है। कृषि से अनभिज्ञ, कुर्सीतोड़, बकवादी नेता किसानों का कौन-सा मंगल कर सकता है?

महाभारत में अध्यात्मतत्त्व

व्यास जी अध्यात्मशास्त्र की सूक्ष्म बारीकियों में न पड़कर हमें सुखद तथा नियमित जीवन बिताने की शिक्षा देने पर आग्रह करते हैं। मानव का आध्यात्मिक कल्याण इन्द्रिय-निग्रह से ही होता है।[2] मनुष्य इन्द्रियों का दास बनकर पशुभाव को प्राप्त होता है और इन्द्रियों का स्वामी बनकर अपने जीवन को सफल बनाने में समर्थ होता है। एक स्थान पर व्यास की यह सारगर्भित उक्ति है कि वेद का उपनिषत्, अर्थात् रहस्य है—सत्य। सत्य का भी उपनिषत् है—दम और इसी दम—इन्द्रिय-दमन का—रहस्य है मोक्ष। समग्र अध्यात्म-शास्त्र का यही निचोड़ है—

वेदोऽस्योपनिषत् सत्यं सत्यस्योपनिषद् दमः।
दमस्योपनिषद् मोक्ष एतत् सर्वानुशासनम्॥

(शान्ति० २९९।१३)

---

१. राजमूलो महाप्राज्ञ! धर्मो लोकस्य लक्ष्यते।
प्रजा राजभयादेव न खादन्ति परस्परम्॥
मज्जेद् धर्मस्त्रयी न स्याद्यदि राजा न पालयेत्।
(शान्ति०, अ० ६८)

२. आत्मनस्तु क्रियोपायो नान्यत्रेन्द्रिय-निग्रहात्।
(उद्योग० ६३।१७)

'करनी बड़ी है कथनी से'— व्यासजी की यही मान्य शिक्षा है मानवों के लिये। महाभारत में किसी बोध्य ऋषि के द्वारा कही गई यह प्राचीन गाथा इसी तथ्य पर जोर देती है—

उपदेशेन वर्तामि नानुशास्मीह कञ्चन।

(शान्ति० १७८।६)

भारतीय संस्कृति आर्जव—ऋजुभाव—स्पष्ट कथन तथा सीधे आचरण को ही मानव-जीवन में नितान्त महत्त्व देती है। वह जिह्म मार्ग—टेढ़ा रास्ता—मनस्यन्यत् वचस्यन्यत् को मृत्यु का रूप बतलाती है तथा प्राणियों को उसके मानने से सदा दूर भागने का उपदेश देती है—

सर्वं जिह्मं मृत्युपदमार्जवं ब्रह्मणः पदम्।
एतावान् ज्ञानविषयः किं प्रलापः करिष्यति॥

(आश्व० ११।४)

काल के चक्र से कोई बच नहीं सकता। पाण्डवों की विषम तथा समृद्ध दशाओं के आलोचक की दृष्टि में काल की महिमा अपरिमेय है। काल ही कभी बलवान् बनता है और कभी दुर्बल। वही जगत् को अपनी इच्छा से ग्रसता है। इसी चक्र के भीतर यह समग्र विश्व अपनी सत्ता धारण किये हुए है। वह देव-निर्मित मार्ग जिसे लाख चेष्टा करने पर भी कोई पलट नहीं सकता। मानव जीवन का श्रेयस्कर मार्ग है धर्म का आश्रय लेकर आत्मविजय करना। व्यास जी ने आत्म-साक्षात्कार के लिए बड़ी सुन्दर उपमा दी है। जिस प्रकार मूंज से सींक को अलग किया जाता है, उसी प्रकार पंचकोशों में अन्तर्निहित चैतन्यरूप आत्मा को भी साधक पृथक् कर साक्षात्कार करता है। आनन्दवर्धन की तो यह स्पष्ट सम्मति है कि महाभारत का मुख्य रस शान्त रस है। नाना विकट प्रपंचों में न लिप्त होकर मानव आत्मस्वरूप का परिचय पाकर मोक्ष का सम्पादन करे—महाभारत की यही अमूल्य शिक्षा है।

रामायण एवं महाभारत की तुलना

रामायण और महाभारत की तुलना करने से अनेक आवश्यक तथ्यों का पता चलता है। मुख्य तुलना दो विषयों में की जा सकती है। प्रथम तो उनके वर्णनीय विषय को लेकर और दूसरा उनके रचना-काल को लेकर। रामायण आदि काव्य माना जाता है और महाभारत इतिहास गिना जाता है। इस साम्प्रदायिक भेद का यह अभिप्राय है कि रामायण में काव्यगत चमत्कार

महत्त्व की वस्तु है। महाभारत में प्राचीनकाल के अनेक प्रसिद्ध राजाओं के इतिवृत्त का वर्णन करना ही ग्रन्थकार का उद्देश्य है। इसीलिए रामायण में राम-रावण युद्ध की घटना ही सर्वतोभवेन मुख्य है। ग्रन्य छोटे-मोटे कथानक भी हैं, परन्तु वे प्रधान वृत्त को पुष्ट करने के लिए ही रचित हैं। उधर महाभारत में प्रधान घटना कौरवों तथा पाण्डवों का युद्ध है, पर इसके साथ-साथ प्राचीन काल की अनेक कथाएँ अवान्तर रूप से दी हुई हैं, जो मुख्य घटना से कम महत्त्व नहीं रखतीं।

भौगोलिक तुलना

दोनों का भौगोलिक विस्तार भिन्न-भिन्न है। रामायण में जिस भारतवर्ष की चर्चा है उसकी दक्षिणी सीमा विन्ध्य और दण्डक है, पूर्वी सीमा विदेह है तथा पश्चिमी सीमा सुराष्ट्र है; परन्तु महाभारत के समय आर्यावर्त का विशेष विस्तार दीख पड़ता है। पूर्वी सीमा गंगासागर का संगम है, दक्षिण में चोल तथा मालावार प्रान्तों की सत्ता है। इतना ही नहीं, लंका के भी अधिपति उपहार लेकर युधिष्ठिर के राजसूय में उपस्थित होते हैं।

स्वरूपतः तुलना

दोनों के स्वरूप में भी पर्याप्त अन्तर है। रामायण में एक ही कवि की कोमल लेखनी ने अपना चमत्कार दिखलाया है। कविता में समरसता, शब्द और अर्थ का मंजुल सामञ्जस्य है, जिससे यह स्पष्ट है कि इसके रचना का श्रेय किसी एक ही व्यक्ति को है; परन्तु महाभारत के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। वह तो अनेक शताब्दियों के साहित्यिक प्रयासों का फल है। धीरे-धीरे अपने अल्पकलेवर से बढ़ता हुआ वह लक्षश्लोक विशालकाय ग्रन्थ के रूप में आ गया है। रामायण के लेखक की चर्चा कहीं नहीं है, प्रत्युत लव तथा कुश के द्वारा उसके गाये जाने की बात से हम परिचित हैं[1]। परन्तु महाभारत लिपिबद्ध किया गया ग्रन्थरत्न है, जिसके प्रथम लिपिबद्ध करने का श्रेय स्वयं गणेशजी को प्राप्त है। व्यासजी बोलते जाते थे और गणेशजी उसे लिखते जाते थे।

---

१. ऋषीणां च द्विजातीनां साधूनां च समागमे।
यथोपदेशं तत्त्वज्ञौ जगतुस्तौ समाहितौ॥
(बालकाण्ड, ४ सर्ग, १३)

रचना काल की तुलना

रामायण और महाभारत में किसकी रचना पहले हुई ? यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। गत शताब्दी के प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् डाक्टर वेबर ने पहले पहल यह कहना प्रारम्भ किया था कि रामायण की अपेक्षा महाभारत की रचना पहले हुई थी। रामायण में सुन्दर पदविन्यास तथा सुबोध रचना को वे अर्वाचीनता का परिचायक मानते थे। भारत के भी कतिपय विद्वानों ने इसी मत की घोषणा की, परन्तु भारतीय परम्परा उक्त मत के अत्यन्त विरुद्ध है। वाल्मीकि आदि कवि और महाभारत के रचयिता व्यास उनके पश्चाद्वर्ती द्वितीय कवि हैं। युग के हिसाब से भी अन्तर पड़ता है। वाल्मीकि त्रेतायुग में होनेवाले रामचन्द्र के समकालिक हैं और व्यास द्वापरयुग में उत्पन्न होनेवाले पाण्डवों के समसामयिक हैं। इतना ही नहीं, दोनों ग्रन्थों के अनुशीलन से स्पष्ट पता चलता है कि कालक्रम में बाल्मीकि-रामायण महाभारत से पहले की रचना है। इसके पोषक प्रमाण मुख्यतः नीचे दिये जाते हैं—

(१) महाभारत के पात्रों के चरित्र में तथा घटनाओं में व्यावहारिकता का पुट है। जुआ खेलना, खेल में हार जाना, राज्य का न मिलना और उसके लिए युद्ध करना आदि घटनायें व्यवहार तथा विश्वास के क्षेत्र से बाहर नहीं हैं। पर रामायण में ऐसी घटनाएँ हैं जिन पर साधारण मनुष्य अपना विश्वास नहीं जमा पाता। सन्तान के लिये पुत्रेष्टि यज्ञ करना, रीछ और वानरों की सहायता से लड़ना, समुद्र के ऊपर पत्थर का विराट पुल बाँधना, रावण का दश सिर होना आदि घटनाएँ मानव-संस्कृति की उस प्राथमिक दशा की ओर संकेत करती हैं जब आश्चर्यजनक घटनाओं में विश्वास करना कोई अस्वाभाविक बात न थी।

(२) रामायण में आर्य सभ्यता अपने विशुद्ध रूप में चित्रित की गई है। उसमें म्लेच्छों का, जो सम्भवतः भिन्न वर्ग तथा संस्कृति के अनुयायी थे, तनिक भी सम्पर्क नहीं दीख पड़ता, परन्तु महाभारत में म्लेच्छों का सम्पर्क पर्याप्त रूप से विद्यमान है। दुर्योधन की आज्ञा से जिस पुरोचन नामक मन्त्री ने लाख (लाक्षा) का घर बनाया था, वह म्लेच्छ ही था। महाभारत के युद्ध में दोनों ओर से लड़ने वाले अनेक म्लेच्छ राजाओं के भी नाम मिलते हैं। इतना ही नहीं, विद्वान् लोग म्लेच्छों की भाषा से भी परिचित थे। विदुर ने

इसी म्लेच्छ भाषा में युधिष्ठिर को लाख के घर के घटना की सूचना पहले ही सभा में दे रखी थी। उक्त भाषा का प्रयोग इसलिए किया गया था कि अन्य सभासद् इसको समझ न सकें।[१]

(३) भौगोलिक दृष्टि से विचार करने पर भी महाभारत रामायण से पीछे का लिखा गया मालूम होता है। रामायण की रचना के समय में दक्षिण भारत में अनार्य जंगली जातियों का ही निवास था। आर्यों की सभ्यता विन्ध्य पर्वत तक ही सीमित थी, परन्तु महाभारत के समय में दक्षिण भारत राजनीतिक दृष्टि से व्यवस्थित, सुशासित तथा सभ्य दीख पड़ता है। भीष्मपर्व में दक्षिण भारत के राजाओं के प्रतिनिधि राजसूय यज्ञ में उपहार लेकर उपस्थित होते हैं। दक्षिण भारत का यह राजनीतिक परिवर्तन सूचित करता है कि महाभारत की रचना पीछे हुई।

(४) महाभारत युद्ध में युद्धकला की विशेष उन्नति दिखाई पड़ती है। द्रौपदी के स्वयंवर में सीता-स्वयंवर के समान केवल एक धनुष को तोड़ देना ही वीरत्व का मापदण्ड नहीं है, प्रत्युत एक विशिष्ट प्रकार से लक्ष्य भेद करना वीरता की कसौटी है। लंकायुद्ध में योद्धागण परस्पर केवल पत्थरों और वृक्षों से प्रहार करते हैं, परन्तु महाभारत युद्ध में सैनिक लोग विशिष्ट सेनापति की देख-रेख में लड़ते हैं। व्यूह की रचना इस युद्ध की महती विशेषता है, जिसमें अल्पसंख्यक सैनिक बहुसंख्यक सेना के आक्रमण को रोकने में समर्थ होते हैं। युद्धकला का यह महाभारत-कालीन विकास इस बात को प्रमाणित कर रहा है कि महाभारत रामायण के बाद की रचना है।

(५) दोनों की सामाजिक दशा में विशेष अन्तर है। रामायण का समाज आदर्शवाद पर प्रतिष्ठित है। पिता कुटुम्ब का नेता तथा पोषक है। राम आदर्श पुत्र हैं, भरत भ्रातृत्व के गुणों के आगार हैं, सुग्रीव मित्रता की कसौटी हैं। उधर महाभारत की सामाजिक दशा में आदर्शवाद के लिए स्थान

---

१. इस भाषा का उल्लेख निम्नलिखित श्लोक में किया गया है, जिसके अर्थ को समझने के लिये नीलकण्ठ की टीका देखना आवश्यक है :—

प्राज्ञः प्राज्ञप्रलापज्ञः प्रलापज्ञमिदं वचः ।
प्राज्ञं प्राज्ञः प्रलापज्ञः प्रलापज्ञं वचोऽब्रवीत् ॥

(आदिपर्व, अ० २०, १४५)

नहीं है। भरत के समान भीम अपने पितृतुल्य जेठे भाई के आदेश का पालन करना अपना कर्तव्य नहीं मानते। यदि धर्मराज संधि करने के इच्छुक हैं, तो वे उनका घोर विरोध करने पर तुले हैं। विजय की सिद्धि के लिए चोरी करना या असत्य भाषण किसी प्रकार का पाप नहीं माना जाता था।

(६) रामायण में नैतिक भावना अपने ऊँचे आदर्श पर प्रतिष्ठित है, परन्तु महाभारत में यह भावना ह्रास को पाकर नीचे खिसकने लगी है। मैथिली तथा द्रौपदी के चरित्र की तुलना इसे स्पष्ट करती है। सुन्दरकाण्ड में हनुमान सीता को अपनी पीठ पर बैठाकर राम के पास चलने का प्रस्ताव करते हैं, परन्तु सीता पर-पुरुष के शरीर का स्पर्श नहीं कर सकती हैं। अतः वह हनुमान के इस प्रकार के प्रस्ताव का तिरस्कार कर देती हैं। रावणवध के अनन्तर सीता कठिन अग्नि-परीक्षा में तप्त होकर अपने पावन चरित्र को सिद्ध करती हैं। महाभारत की द्रौपदी काम्यक वन में जयद्रथ के द्वारा हरण की जाती है, परन्तु उसका पुनर्ग्रहण विना किसी रोक-टोक के धीरे से कर लिया जाता है।

(७) रामायण में महाभारत की घटनाओं तथा पात्रों का उल्लेख तक नहीं है, परन्तु महाभारत रामायण की कथा तथा पात्रों से पूरी तरह परिचित है। वनपर्व (८५।६५) के तीर्थ-यात्रा प्रसङ्ग में शृङ्गवेरपुर (प्रयाग जिले का सिंगरामऊ) तथा गोप्रतार (वनपर्व ८५।७०) (फैजाबाद में सरयू का गुप्तार घाट) तीर्थ में गिने गये हैं, क्योंकि पहले स्थान पर राम ने गङ्गा पार किया और दूसरे पर वे अपनी प्रजाओं के साथ भूलोक से स्वर्ग में चले गये। वनपर्व के अध्यायों में (अ० १७३-९३) रामोपाख्यान पर्व है, जिसमें रामचन्द्र की कथा विस्तार से वर्णित है। इस उपाख्यान में वाल्मीकीय रामायण के श्लोक ज्यों के त्यों रखे गये हैं। उपमाएँ तथा कल्पनाएँ वाल्मीकि से ली गई हैं।

रामायण के श्लोकों की समता केवल रामोपाख्यान में ही उपलब्ध नहीं होती, प्रत्युत महाभारत के अन्य पर्वों में भी यह समता तथा निर्देश नितान्त सुस्पष्ट है। उदाहरणार्थ—माया सीता के मारते समय इन्द्रजीत ने हनुमानजी से जो वचन कहे थे, वे ही वचन द्रोणपर्व में भी अक्षरशः प्राप्त होते हैं।

न हन्तव्याः स्त्रिय इति यद् ब्रवीषि प्लवंगम।
पीडाकरममित्राणां यत्तु कर्तव्यमेव तत्॥
(युद्ध ८१।२८)

अपि चायं पुरा गीतः श्लोको वाल्मीकिना भुवि ।
न हन्तव्याः स्त्रिय इति यद् ब्रवीषि प्लवंगम ॥
सर्वकालं मनुष्येण व्यवसायवता सदा ।
पीडाकरममित्राणां यत् स्यात् कर्तव्यमेव तत् ॥
(द्रोणपर्व)

इन प्रमाणों के अनुशीलन से किसी भी निष्पक्ष आलोचक को भारतीय परम्परा की सत्यता पर अविश्वास नहीं हो सकता कि रामायण कालक्रम से महाभारत से पूर्व की रचना है।

तृतीय परिच्छेद

संस्कृत महाकाव्य का उद्भव एवं विकास

काव्य का लक्षण क्या है ? इस विषय में लक्षण-कर्ताओं में बड़ा मतभेद है। विश्वनाथ कविराज के अनुसार 'रसात्मक वाक्य' को काव्य कहते हैं (वाक्यं रसात्मकं काव्यम्), तो पण्डितराज जगन्नाथ के मत में 'रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द' ही काव्य कहा जाता है (रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्)। मम्मटभट्ट ने काव्यप्रकाश में उन साधनों की ओर संकेत किया है जिससे काव्य का स्वरूप निष्पन्न होता है। उनकी सम्मति में काव्य उस 'शब्द-अर्थ को कहते हैं जिसमें रसभंग करनेवाला दोष नहीं होता, जो गुण से युक्त होते हैं तथा कभी-कभी अलंकार से रहित भी होते हैं'[1]। जो कुछ भी हो, काव्य में शब्द और अर्थ—दोनों का अनुरूप निवेश होना चाहिए तथा उन्हें दोष-रहित तथा गुण सम्पन्न होना भी आवश्यक होता है। रही अलङ्कार की बात वह इतनी आवश्यक नहीं है। काव्य में चमत्कार चाहिए। यदि यह चमत्कार रस से उत्पन्न हो गया, तो अलंकारों का निवेश कर्कश होने से अनावश्यक होता है।

काव्य के भेद मुख्य दो हैं—(१) दृश्य और (२) श्रव्य। दृश्य काव्य वह होता है जिसका अभिनय किया जाय—जो नेत्रों का सहारा लेकर हृदय को आह्लादित करे। श्रव्य काव्य में केवल श्रवण ही मुख्य है। वह

---

१. तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि। —का० प्र०।

कानों के सहारे रसिक के चित्त को आनन्दित करता है। दृश्य काव्य का ही नाम है रूपक अथवा नाटक। श्रव्य काव्य रामायण, रघुवंश आदि हैं।

श्रव्यकाव्य—श्रव्यकाव्य के दो प्रकार के विभाग किये जाते हैं—रूपात्मक तथा वस्त्वात्मक। गद्य, पद्य, चम्पू—रूपात्मक भेद के अन्तर्गत हैं। छन्दोबद्ध वाक्य को 'पद्य' कहते हैं और छन्दोविहीन वाक्य को गद्य। गद्य तथा पद्य के संमिश्रण को 'चम्पू' कहते हैं। वस्तु विचार से श्रव्यकाव्य तीन प्रकार का होता है—महाकाव्य, खण्डकाव्य तथा मुक्तक (या कोश)। मुक्तक काव्य के अर्थ समझने के लिए सन्दर्भ की आवश्यकता नहीं होती। वह अपने में ही परिपूर्ण रहता है। छोटा होने पर भी वह बड़ा चमत्कारी तथा रसपेशल होता है। जैसे भर्तृहरि-शतक के श्लोक अथवा हिन्दी में महाकवि बिहारी के दोहे। खण्डकाव्य वही है जो महाकाव्य बनने की योग्यता न रखता हो, जो महाकाव्य से छोटा हो। इसके स्वरूप की पहिचान महाकाव्य के लक्षण को भली-भांति जानने से हो सकती है।

महाकाव्य का उदय

'महाकाव्य' का विशिष्ट लक्षण है[1]—किसी काव्य के 'महत्' होने में उसका आकार कारण नहीं है, बल्कि उसका गुण है। महाकाव्य की रचना 'सर्गों' में की जाती है। एक ही नायक होता है जो देवता होता है अथवा धीर उदात्त गुणों से युक्त कोई कुलीन क्षत्रिय। वीर, शृङ्गार अथवा शान्त—इनमें से कोई रस मुख्य (अंगी) होता है, अन्य रस गौण रूप से रखे जाते हैं। कथानक इतिहास प्रसिद्ध होता है अथवा किसी सज्जन का चरित्र-वर्णन किया जाता है। प्रत्येक सर्ग में एक ही प्रकार के वृत्त में रचना की जाती है, पर सर्ग के अन्त में वृत्त बदल दिया जाता है। सर्ग न तो बहुत बड़े होने चाहिए और न तो बहुत छोटे। सर्ग आठ से अधिक होने चाहिए और प्रति सर्ग के अन्त में आगामी कथानक की सूचना होनी चाहिये। वृत्त को अलंकृत करने के लिये सन्ध्या, सूर्योदय, चन्द्रोदय, रात, प्रदोष, अन्धकार, वन, ऋतु, समुद्र, पर्वत आदि प्राकृत दृश्यों का वर्णन अवश्य किया जाता है। बीच-बीच में शृंगार रस का भी

---

१. दण्डी काव्यादर्श (परिच्छेद प्रथम १४–१९ श्लोक)
विश्वनाथ कविराज—साहित्य दर्पण (षष्ठ परिच्छेद १५–२५)

परिपोष किया जाता है और वीर रस के प्रसंग में युद्ध, मन्त्रणा, शत्रु पर चढ़ाई आदि विषयों का भी साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया जाता है। नायक के शत्रु को प्रतिनायक कहते हैं। काव्य का मुख्य उद्देश्य धर्म तथा न्याय का विजय तथा अधर्म और अन्याय का विनाश होना चाहिये। जो काव्य इन गुणों से लक्षित होता है वही 'महाकाव्य' कहलाता है। महाकाव्य की इस कल्पना का मूल आधार वाल्मीकीय रामायण है।

पाश्चात्य मत में महाकाव्य

पाश्चात्य मत से महाकाव्य (एपिक) दो प्रकार के होते हैं—(१) विकसित महाकाव्य (Epic of growth), (२) कलापूर्ण महाकाव्य (Epic of art)। विकसित महाकाव्य वह है जो अनेक शताब्दियों में अनेक कवियों के प्रयत्न से विकसित होकर अपने वर्तमान रूप में आया है। वह प्राचीन गाथाओं के आधार पर रचित महाकाव्य होता है। जैसे ग्रीक महाकवि होमर का 'इलियड' और 'ऑडेसी' नामक युगल महाकाव्य। इनका वर्तमान परिष्कृत रूप होमर की प्रतिभा का फल है, परन्तु गाथाचक्रों के रूप में वे प्राचीनकाल से बन्दीजनों के द्वारा गाये जाते थे। 'कलापूर्ण महाकाव्य' वह है जिसे एक ही कवि ने अपनी काव्यकला से गढ़कर तैयार किया हो। इसमें प्रथम श्रेणी के काव्यों के समग्र गुण विद्यमान रहते हैं, परन्तु यह रहता है एक ही कवि की प्रौढ प्रतिभा का परिणाम। जैसे लैटिन भाषा का वर्जिल कवि द्वारा रचित 'इनीड' महाकाव्य। वर्जिल ने अपने लिए होमर को आदर्श माना है और उन्हीं की काव्यकला का अनुसरण अपने महाकाव्य में किया है। इस दृष्टि से यदि संस्कृत काव्यों का वर्गीकरण किया जाय तो वाल्मीकीय रामायण प्रथम श्रेणी में रखा जायगा तथा रघुवंश तथा शिशुपालवध आदि द्वितीय श्रेणी में।

महाकाव्य का उपकरण

महाकाव्य के रचना की प्रेरणा भारतीय कवियों को वेदों से ही प्राप्त हुई है। वेदों में देवस्तुति के अतिरिक्त प्राचीन काल के प्रसिद्ध राजाओं की प्रशंसाएँ भी हैं, जिन्हें 'नाराशंसी' कहते हैं। स्थान-स्थान पर ऋषियों ने प्रभूत दान देनेवाले अपने आश्रयदाताओं के चरित का वर्णन भी किया है, जिसमें उनके दान का पूरा ब्योरा है। ऐसे मन्त्रों को 'दानस्तुति' के नाम से पुकारते हैं। ऋग्वेद में श्यावाश्व ऋषि ने अपने आश्रयदाता राजा 'तरन्त' और उनकी

विदुषी रानी शशीयसी के दान की खूब प्रशंसा की है[1]। अथर्ववेद में महाराज परीक्षित् के राज्यकाल में प्रजा को जो सौख्य प्राप्त था उसका भी वर्णन मिलता है[2]। इतना ही नहीं, ऋग्वेद के समय की बहुत सी गाथायें भी उपलब्ध होती हैं, जिनमें किसी प्राचीन ऐतिहासिक राजा के विषय में किसी महत्त्वपूर्ण घटना का उल्लेख रहता है अथवा किसी विषय का सुन्दर तथा रोचक वर्णन किया गया रहता है। ऐसी गाथाएँ ऐतरेयब्राह्मण में शुनःशेप के कथानक में दी गई हैं। इन्हीं समग्र साधनों का उपयोग कर पिछले कवियों ने प्राकृतिक दृश्यों आदि के वर्णन से पुष्ट कर महाकाव्य को जन्म दिया।

महाकाव्य का आरम्भ

महाकाव्य की उत्पत्ति कब हुई तथा सबसे पहला कौन महाकाव्य रचा गया ? इसे ठीक-ठीक बतलाना कठिन है। लौकिक संस्कृत में महाकाव्य लिखने वाले हमारे आदि कवि कालिदास ही हैं, परन्तु महाकाव्य की उत्पत्ति उन्हीं के काव्यों से नहीं हुई। महाकाव्य कालिदास से प्राचीन है। भारतीय परम्परा के अनुसार महर्षि पाणिनि ही संस्कृत के आद्य महाकाव्य-रचयिता हैं। उनके महाकाव्य का नाम 'जाम्बवती-विजय' अथवा 'पाताल-विजय' था। इसका परिचय अनेक ग्रन्थों में मिलता है। यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता, परन्तु सूक्तिसंग्रहों में पाणिनि की कमनीय कविताएँ संगृहीत हैं। क्षेमेन्द्र ने पाणिनी के उपजाति छन्दों की बड़ी प्रशंसा की है[3]। बहुत से विद्वान् कवि पाणिनि को वैयाकरण पाणिनि से भिन्न मानते हैं, क्योंकि उनके श्लोकों में यत्र-तत्र व्याकरण के नियमों की अवहेलना है। परन्तु सम्प्रदाय दोनों की एकता मानता है। इनमें किसी प्रकार की ऐतिहासिक

---

१. द्रष्टव्य लेखक की 'वैदिक कहानियाँ' पृष्ठ ६५—६ः।

२. कतरत् त आहराणि दधि मन्थां परिश्रुतम्।
जायाः पतिं विपृच्छति राष्ट्रे राज्ञः परीक्षितः॥
अभी वस्वः प्रजिहीते यवः पक्वः पथो बिलम्।
जनः स भद्रमेधति राष्ट्रे राज्ञः परीक्षितः॥१०॥
(अथर्व वेद २० काण्ड, १२७ सूक्त)

३. स्पृहणीयत्वचरितं पाणिनेरुपजातिभिः।
चमत्कारैकसाराभिरुद्यानस्येव जातिभिः॥

गड़बड़ी नहीं है। राजशेखर ने व्याकरण के रचयिता और 'जाम्बवती-विजय' के कर्त्ता पाणिनि को अभिन्न ही माना है[1]। पाणिनि के लगभग ५० श्लोक उपलब्ध होते हैं जो काव्यदृष्टि से अत्यन्त सरस, प्रतिभासम्पन्न तथा नवीन अर्थ के द्योतक हैं। अँधेरी रात में अपने प्रियतम से मिलने के लिये जानेवाली किसी अभिसारिका के मुख के ऊपर यह कितनी बढ़िया कल्पना की गई है—

निरीक्ष्य विद्युन्नयनैः पयोदो
मुखं निशायामभिसारिकायाः।
धारानिपातैः सह किं नु वान्तः
चन्द्रोऽयमित्यार्त्ततरं ररास ॥

जाम्बवती-विजय के कम से कम अठारह सर्ग अवश्य थे, क्योंकि शरणदेव ने अपनी 'दुर्घटवृत्ति' में अठारहवें सर्ग का एक श्लोक उद्धृत किया है।

वररुचि का भी काव्य ग्रन्थ था जो आजकल उपलब्ध नहीं है। इस ग्रन्थ का नाम 'कण्ठाभरण' था। ये वररुचि ईस्वी पूर्व चतुर्थ शतक में वर्त्तमान थे तथा अष्टाध्यायी के वार्त्तिक लिखनेवाले कात्यायन से भिन्न न थे। ईस्वीपूर्व द्वितीय शतक में पतञ्जलि ने जो महाभाष्य लिखा उसमें प्राचीन कवियों के बड़े सुन्दर श्लोक या श्लोकार्ध उद्धृत मिलते हैं। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस समय में भी काव्यकला की उन्नति कम न थी। इस प्रकार ऊहापोह से स्पष्ट जान पड़ता है कि कालिदास से लगभग ६०० वर्ष पहले महाकाव्य का उदय हो चुका था। कालिदास तो विकसित काव्यकला के प्रतिनिधि कवि हैं। काव्य के आदिम रूप के लिये हमें पाणिनि और वररुचि के ग्रन्थों का अनुशीलन करना चाहिये।

—×—

काव्य की पुनर्जागृति

मैक्समूलर का सिद्धान्त

संस्कृत महाकाव्य के विकास के प्रसङ्ग में मैक्समूलर के पुनर्जागृति के सिद्धान्त से परिचित होना आवश्यक है। यद्यपि कोई भी विद्वान् इसकी सत्यता में अब विश्वास नहीं रखता, तथापि इसका परिचय कुछ ऐतिहासिक

---

१. नमः पाणिनये तस्मै यस्मादाविरभूदिह।
आदौ व्याकरणं काव्यमनु जाम्बवतीजयम् ॥

महत्त्व रखता है। ईस्वी सन् की प्रारम्भिक चार शताब्दियों में विदेशियों के आक्रमणों ने भारत में अशान्ति मचा रखी थी, जिससे साहित्य पनपने नहीं पाया। साहित्य-रचना के लिये जिस शान्त वातावरण की आवश्यकता होती है, उसकी छाया भी इस युग में नहीं दीख पड़ती। फलतः इस युग में संस्कृत कविता 'गाढ नींद में सो रही थी' और उसकी यह निद्रा तब टूटी, जब गुप्त साम्राज्य के वैभव का सूचक शंखनाद होने लगा। अतः गुप्तों के उदय के साथ काव्य साहित्य का उदय हुआ। उससे पहले की शताब्दियाँ काव्यरचना की दृष्टि से एकदम सूनी तथा सूखी हैं। डा० मैक्समूलर के पुनर्जागृति के सिद्धान्त[1] का यही परिचय है।

मैक्समूलर के सिद्धान्त का खण्डन

शिलालेखों ने इस सिद्धान्त को त्रुटिपूर्ण सिद्ध कर दिया है। इस युग के कवियों की रचनायें अभीतक पूर्णरूप से अभिव्यक्त नहीं हुई हैं, परन्तु जो कुछ प्रकट हुआ है वह इस धारणा को भ्रान्त उद्घोषित करने के लिए पर्याप्त है। कुषाण नरेश कनिष्क के समकालीन महाकवि अश्वघोष ने इस युग में कविता का आश्रय लेकर अपने धर्म का सन्देश काव्यप्रेमी जनता के हृदय तक पहुँचाया। इस युग के कवियों में हरिषेण तथा वत्सभट्टि का नामोल्लेख गौरव की वस्तु है। हरिषेण ने ३५० ईस्वी के आस-पास समुद्रगुप्त के दिग्विजय का वर्णन गद्य-पद्य मिश्रित फड़कती भाषा में किया है। यह प्रशस्ति साहित्यिक गद्य का एक उत्कृष्ट नमूना है। परन्तु इससे दो सौ वर्ष पहले ७२ शक संवत् (१५० ईस्वी) में निबद्ध रुद्रदामन् का गिरनार पर्वत पर उट्टङ्कित लेख शैली की सुन्दरता के कारण गद्यकाव्य का आनन्द देता है। इसका अनुशीलन स्पष्ट बतलाया है कि उस समय तक अलङ्कार शास्त्र के सिद्धान्तों का गठन हो चुका था। रुद्रदामन् की विद्वत्ता के विषय में लिखा है कि वह स्फुट लघु, मधुर, चित्र, कान्त शब्दवाले, उदार तथा अलंकृत गद्य-पद्य की रचना से परिचित था—'स्फुटलघुमधुरचित्रकान्त-शब्दसमयोदारालंकृत गद्य-पद्य—स्पष्टतः ओज गुणविशिष्ट तथा अलंकृत गद्य का एक सरस अंश है। गद्य के अतिरिक्त गद्यात्मक रचनायें भी कम सौन्दर्यपूर्ण तथा रसमय नहीं होती थीं। वत्सभट्टि का कुमारगुप्त के समय में ५२९ मालव संवत् (४७३ ई०) में लिखित मन्दसौर शिलालेख इसका स्पष्ट प्रमाण है। यह कवि वैदर्भी रीति का आश्रय लेकर

---

१. Renaissance Theory.

सरस काव्य के विरचन में सिद्धहस्त है। वह कालिदास के मेघदूत से अवश्य परिचित है, क्योंकि उसके इस श्लोक में उत्तरमेघ के प्रथम श्लोक की स्पष्ट छाया है।

चलत्पताकान्यबलासनाथान्यत्यर्थशुक्लान्यधिकोन्नतानि।
तडिल्लताचित्रसिताभ्रकूट-तुल्योपमानानि गृहाणि यत्र ॥१०॥

मेघदूत—

विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः
संगीताय प्रहतरनुजाः स्निग्ध-गम्भीरघोषम्।
अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुङ्गमभ्रंलिहाग्राः
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः॥

यह प्रशस्ति नाना छन्दों में निबद्ध ४४ पद्यों में है। दशपुर का वर्णन कवित्वपूर्ण है और काव्यकला के विकास का पर्याप्त बोधक है। इस प्रकार ईस्वी सन् की आदिम शताब्दियों की काव्यरचना में वही शैली मिलती है, वही वर्णनपद्धति अपनी झाँकी दिखलाती है, वही रसमय पदविन्यास अपना मंजुल रूप दर्शाता है जिसे हम संस्कृत के माननीय काव्यों में देखने के अभ्यस्त हैं। सूर्य का यह वर्णन नितान्त भव्य है—

यः प्रत्यहं प्रतिविभात्युदयाचलेन्द्र-
विस्तीर्णतुङ्गशिखरस्खलितांशुजालः।
क्षीबाङ्गनाजनकपोलतलाभिताम्रः
पायात् स वः सुकिरणाभरणो विवस्वान्॥

अधिक वृष्टि के कारण जब नदियाँ अपने किनारों से ऊपर होकर बहने लगीं तब कवि को प्रतीत होता है कि पर्वत मानों अपने मित्र समुद्र की ओर अपना नदीमय हाथ फैला रहा था—

अनेकतीरान्तजपुष्पशोभितो
नदीमयो हस्त इव प्रसारितः।

हरिषेण के शब्दों में समुद्रगुप्त की विजय-प्रशस्ति से मण्डित यह स्तम्भ भूमि का बाहु प्रतीत होता है, जो देवताओं से राजा की विमल कीर्ति के

भ्रमण की सुन्दर कहानी कहने के लिए ऊपर उठा हुआ है—"कीर्तिमितस्त्रिदशपतिभवनगमनावास-ललितसुखविचरणामावक्षाण इव भुवो बाहुरयमुच्छ्रितः स्तम्भः ।"

जिस युग में इतनी कोमल कल्पना को प्रश्रय देने वाली कविता की रचना होती हो, उसे 'कविता की निशा' बतलाना कहाँ तक औचित्य पूर्ण है ? इसकी विशेष मीमांसा अपेक्षित नहीं ।

—×—

महाकाव्य का अभ्युदय

१. कालिदास

अस्पृष्टदोषा नलिनीव हृष्टा हारावलीव ग्रथिता गुणौघैः ।
प्रियाङ्कपालीव विमर्दहृद्या न कालिदासादपरस्य वाणी ॥
(श्रीकृष्ण कवि)

कौन ऐसा संस्कृतज्ञ होगा जिसने महाकवि कालिदास का नाम न सुना हो ? इनकी कीर्ति-कौमुदी भारतीयों के मानस में ही आनन्द की लहरी नहीं उठाती, बल्कि पश्चिमी जगत् के तप्त हृदयों को भी अपनी सरसता तथा आध्यात्मिकता से तृप्त करती है । कालिदास सरस्वती की उज्ज्वल मणिमाला के मध्यमणि (सुमेरु) हैं । नाट्यकला की सुन्दरता निरखिये, महाकाव्य की सरस छटा देखिये अथवा गीतिकाव्य के हृदयावर्जक पदों को पढ़िये, कालिदास में वह आश्चर्य-जनक चमत्कार है जो विश्व को चकाचौंध कर रहा है। उनकी कविता में स्वाभाविकता, सरसता तथा आध्यात्मिकता का अपूर्व मिलन है । सच तो यह है कि कालिदास भारत के कवि न होकर विश्व के उन इने गिने कवियों में से हैं जिनकी कविता का आस्वाद संसार के शिष्ट तथा सभ्य पुरुष किसी न किसी भाषा के माध्यम से बराबर द्वारा ले रहे हैं । उनके काव्यों की जितनी ख्याति निश्चित है, उनकी जीवनी तथा कालनिरूपण उतना ही अनिश्चित है । कालिदास की जन्मभूमि के विषय में बंगाल तथा कश्मीर के नाम लिये जाते हैं, परन्तु यह अभी तक अनिर्णीत ही है। कवि ने उज्जयिनी के लिए विशेष पक्षपात दिखलाया है, जिससे यही इनकी जन्मभूमि प्रतीत होती है । मेघदूत (१।२६) में यक्ष रास्ता टेढ़ा होने पर भी 'श्रीविशाला विशाला' (उज्जयिनी) को देखने के लिये मेघ से आग्रह करता है । उज्जयिनी के विशाल महलों और रमणियों के कुटिल-कटाक्षों को देखने से यदि वह वञ्चित रह गया तो उसका जीवन ही

निष्फल है। कालिदास ने अवन्ती प्रदेश की भौगोलिक स्थिति का सूक्ष्म वर्णन मेघदूत में किया है—वहाँ की छोटी-छोटी नदियों का भी नाम-निर्देश किया है तथा वर्णन दिया है। उज्जयिनी के प्रति उनके विशेष पक्षपात तथा सूक्ष्म भौगोलिक परिचय के आधार पर यही कहा जा सकता है कि कालिदास वहीं के रहनेवाले थे।

स्थितिकाल

भारतीय जन-श्रुति के आधार पर कालिदास राजा विक्रमादित्य के नव-रत्नों के मुखिया थे। कालिदास के ग्रन्थों से भी विक्रम के साथ रहने की बात सूचित होती है। विश्वविख्यात शकुन्तला का अभिनय किसी राजा की—सम्भवतः विक्रम की—'अभिरूपभूयिष्ठा' परिषद् में ही हुआ था। 'विक्रमोर्वशीय' में पुरुरवा के नायक होने पर भी विक्रम का नामोल्लेख नाटक के नाम में है तथा 'अनुत्सेकः खलु विक्रमालङ्कारः' आदि वाक्य इस सिद्धान्त की पुष्टि कर रहे हैं कि कालिदास का विक्रम से सम्बन्ध अवश्य था। रामचरित महाकाव्य के 'ख्याति कामपि कालिदासकवयो नीतः शकारातिना' आदि पद्यों से भी इसी सम्बन्ध की पुष्टि हो रही है। अत एव जबतक इसके विरुद्ध कोई प्रमाण न मिले, तबतक यह मानना अनुचित न होगा कि कालिदास राजा विक्रम की सभा के रत्न थे।

कालिदास ने शुङ्गवंशीय राजा अग्निमित्र को अपने 'मालविकाग्निमित्र' नाटक का नायक बनाया है। अतः वे उसके (विक्रम-पूर्व द्वितीय शतक के) अनन्तर होंगे। इधर सप्तम शताब्दी में हर्षवर्धन के महा-कवि बाणभट्ट ने हर्षचरित में कालिदास की कविता की प्रशस्त प्रशंसा की है। अतः कवि का समय विक्रमपूर्व द्वितीय शतक से लेकर विक्रम के सप्तम शतक के बीच में कहीं होना चाहिए। कालिदास के समय के विषय में प्रधानतया तीन मत हैं—

पहला मत—कालिदास को षष्ठ शतक का बतलाता है।

दूसरा मत—गुप्तकाल में कालिदास की स्थिति मानता है।

तीसरा मत—विक्रम सं० के प्रारम्भ में इनका समय बतलाता है।

(१) षष्ठशतक में कालिदास—भारतीय इतिहास में विक्रम उपाधिवाले चार राजाओं का उल्लेख पाया जाता है, जिनके समसामयिक होने से कालिदास

का भी समय भिन्न-भिन्न सदियों में माना गया है। डाक्टर हार्नली का मत है कि यशोधर्मन्—जिसने कारुर की लड़ाई में हूणवंश के प्रतापी राजा मिहिरकुल को बालादित्य नरसिंह गुप्त की सहायता से परास्त किया था—'विक्रमादित्य'की उपाधि ग्रहण की[१]। अपनी इस महत्त्वपूर्ण विजय के उपलक्ष्य में उसने नवीन संवत् चलाया, जो विक्रम के नाम से व्यवहृत हुआ, परन्तु इसे प्राचीन सिद्ध करने की इच्छा से-इसके ऊपर प्राचीनता का पुट देने के लिये—उसने इसे ६०० वर्ष पूर्व से चलाया, अर्थात् ५४४ ई० की विजय-घटना की यादगार में उसने अपने नवीन संवत् ६०० पूर्व, अर्थात् ५८ ईसवी पूर्व से स्थापित होने की बात प्रचारित की। विक्रम संवत् की यह नवीन कल्पना डाक्टर फर्गुसन ने की थी। हार्नली ने इसका उपयोग कालिदास के समय-निरूपण के लिए किया। उसने दिखलाया है कि रघु का दिग्विजय यशोधर्मन् की राज्य-सीमा से बिल्कुल मिलता-जुलता है। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने अनेक कौतुकपूर्ण प्रमाणों से सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि कालिदास भारवि के अनन्तर छठीं सदी में विद्यमान थे।[२]

इस मत का खण्डन—परन्तु कालिदास को इतना पीछे मानना उचित नहीं प्रतीत होता है। हूणों को पराजित करने पर भी यशोधर्मन् 'शकाराति'—शकों का शत्रु—नहीं कहा जा सकता। न उसके शिलालेखों से नवीन संवत् के स्थापन की घटना सच्ची प्रतीत होती है। विक्रम संवत् की स्थापना छठीं सदी में यशोधर्मन् के द्वारा मानना ज्ञात इतिहास पर घोर अत्याचार करना है; क्योंकि मालव संवत् के नाम से यह संवत् अति प्राचीन काल में भी प्रसिद्ध था। ४७३ ई० के कुमारगुप्त की प्रशस्ति के कर्ता वत्सभट्टि की रचना में ऋतुसंहार के कितने ही पद्यों की झलक दीख पड़ती है। ऐसी दशा में कालिदास को पाँचवीं सदी के अनन्तर मानना अनुचित है। अतः इस मत को प्रमाणिक मानकर कितने ही भारतीय तथा युरोपीय विद्वानों ने गुप्त नरेशों के उन्नत समय में कालिदास की स्थिति बतलाई है।

---

१. जर्नल ऑफ रायल एशियाटिक सोसाइटी (J. R. A. S.) 1903, पृ० ५४५।

२. Age of Kalidasa—J. B. O. R. S. Vol. 11.
बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी की पत्रिका, भाग २, पृ० ३१-४७।

(२) गुप्तकाल में कालिदास—गुप्तकाल में कालिदास की स्थिति माननेवाले विद्वानों में भी कुछ-कुछ भेद दीख पड़ता है। पूना के प्रोफेसर के० बी० पाठक की सम्मति में कालिदास स्कन्दगुप्त 'विक्रमादित्य' के समकालीन थे, परन्तु डाक्टर रामकृष्ण भण्डारकर, साहित्याचार्य पं० रामावतार शर्मा तथा अधिकांश पश्चिमी विद्वान् गुप्तों में सबसे अधिक प्रभावशाली चन्द्रगुप्त द्वितीय को कालिदास का आश्रयदाता मानते हैं।

(क) पाठक ने काश्मीरी टीकाकार वल्लभदेव के निम्नलिखित श्लोक के पाठ को प्रामाणिक मानकर पूर्वोक्त सिद्धान्त निश्चित किया है[1]—

विनीताध्वश्रमास्तस्य सिन्धुतीरविचेष्टनैः।
दुधुवुर्वाजिनः स्कन्धाँल्लग्नकुङ्कुमकेसरान् ॥

इस पद्य के 'सिन्धु' शब्द के स्थान पर वल्लभदेव ने 'वंक्षू' पाठ माना है। 'वंक्षू' शब्द पाठक की सम्मति में Oxus (आक्सस) शब्द का संस्कृतीकरण है। अतः इस पाठ को प्रामाणिक मानने से यह कहना पड़ता है कि रघु ने हूणों को आक्सस नदी (जो पामीर से निकलकर अरब सागर में गिरती है) के किनारे उनके भारत आगमन के पहिले ही हराया था। यह घटना ४५० ई० के पूर्व की हो सकती है; क्योंकि उस वर्ष स्कन्दगुप्त के प्रबल प्रताप के सामने हार मान भग्नमनोरथ होकर हूणों को लौटना पड़ा था। अतः रघुवंश को कालिदास की प्रथम रचना मानकर पाठक ने उन्हें स्कन्द गुप्त का समकालीन माना है। विजयचन्द्र मजुमदार ने कुछ अन्य प्रमाण देकर इन्हें कुमारगुप्त तथा स्कन्दगुप्त दोनों के समय में माना है[2]।

(ख) पश्चिमी विद्वान् शकों को भारत से निकाल बाहर करने वाले विक्रमादित्य की उपाधि धारण करने वाले, चन्द्रगुप्त द्वितीय के राज्यकाल में (जब भारत में चारों ओर शान्ति विराजमान थी और जो भारतीय कलाकौशल के पुनरुन्नति का काल माना जाता है) कालिदास को मानते हैं। रघुवंश के चतुर्थ सर्ग में वर्णित रघु का दिग्विजय समुद्रगुप्त की विजय से सर्वथा मिलता-जुलता है। रघुवंश में वर्णित शान्ति[3] का समुचित काल चन्द्रगुप्त का ही समय था।

१. द्रष्टव्य—पाठक द्वारा सम्पादित मेघदूत (भूमिका) १९१६।

२. J. R. A. S. 1909. P. 731.

३. वातोऽपि नास्रंसयदंशुकानि को लम्बयेदाहरणाय हस्तम्।

(रघु० ६।७५)

इसके सिवाय इन्दुमती के स्वयंवर में उपस्थित मगध राजा के लिए जो उपमा या विशेषण प्रयुक्त किये गये हैं उनसे भी 'चन्द्रगुप्त' नाम की ध्वनि निकलती है; परन्तु गुप्तकाल में कालिदास की स्थिति बताना ठीक नहीं, क्योंकि चन्द्रगुप्त द्वितीय ही प्रथम विक्रमादित्य नहीं थे। जब इनसे भी प्राचीन मालवा में राज्य करने वाले विक्रम का पता इतिहास से चलता है, तब कालिदास गुप्तकाल में कैसे माने जा सकते हैं ?

(३) प्रथम शती में कालिदास—कालिदास के प्रथम शती में होने के बारे में निम्नलिखित प्रमाण उपस्थित किये जा सकते हैं—(क) ऐतिहासिक खोज से ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दी में शकों को परास्त करने वाले, विद्वानों को विपुल दान देने वाले उज्जयिनी-नरेश राजा विक्रमादित्य के अस्तित्व का पता चलता है। राजा हाल की "गाथासप्तशती"[1] में (रचनाकाल प्रथम शताब्दी) 'विक्रमादित्य' नामक एक प्रतापी तथा उदार शासक का निर्देश है, जिसने शत्रुओं पर विजय पाने के उपलक्ष्य में भृत्यों को लाखों का उपहार दिया था[2]। जैन ग्रन्थों से इस बात की पर्याप्त पुष्टि होती है। मेरुतुङ्गाचार्य-विरचित 'पट्टावली' से पता चलता है कि उज्जयिनी के राजा गर्दभिल्ल के पुत्र विक्रमादित्य ने शकों से उज्जयिनी का राज्य लौटा लिया था। यह घटना महावीर-निर्माण के ४७० वें वर्ष में (५२७-४७० = ५७ ई० पूर्व) हुई थी। इसकी पुष्टि प्रबन्धकोश तथा शत्रुञ्जय-महात्म्य से भी होती है।

प्राचीन काल में 'मालव' नामक गणों का विशेष प्रभुत्व था। ईस्वी पूर्व तृतीय शतक में इसने क्षुद्रक गण के साथ सिकन्दर का सामना किया था, पर विशेष सहायता न मिलने से पराजित हो गया था। यही मालव जाति ग्रीक लोगों के सतत आक्रमण से पीड़ित होकर राजपूताने की ओर आई और मालवा में ईस्वी पूर्व प्रथम द्वितीय शताब्दी में अपना प्रभुत्व जमाया। यह गणराज्य था और विक्रमादित्य इसी गणतन्त्र के मुखिया थे। शकों के आक्रमण को

---

१. संवाहणसुहरसतोसिएण देन्तेण तुह करे लक्खम्।
चलणेण विक्कमाइत्त चरिअं अणुसिक्खिअं तिस्सा ॥
(गाथा सप्तसती ५।६४)

२. विशेष के लिये द्रष्टव्य—डा० राजबली पाण्डेय—'विक्रमादित्य' नामक अंग्रेजी ग्रन्थ, १९५४।

विफल बनाकर विक्रम ने 'शकारि' की उपाधि धारण की और अपने मालवगण को प्रतिष्ठित किया। इसलिए इस संवत् का 'मालवगण-स्थिति' नाम पड़ा था[1]। गणराज्य में व्यक्ति की अपेक्षा समाज का विशेष महत्त्व होता है। अतः यह संवत् गणमुख्य के नाम पर ही अभिहित न होकर गण के नाम पर 'मालव-संवत्' कहलाता था। अतः ई० पू० प्रथम शतक में विक्रमनामधारी राजा या गणमुखिया का परिचय इतिहास से भली-भाँति लगता है। इन्हीं की सभा में कालिदास की स्थिति मानना सर्वथा न्यायसंगत होगा।

(ख) बौद्ध कवि अश्वघोष का समय निश्चित है। कुषाण-नरेश कनिष्क के समकालीन होने से उनका समय ईस्वी सन् प्रथम शताब्दी का उत्तरार्ध है। इनके तथा कालिदास के काव्यों में अत्यधिक साम्य है। कथानक की सृष्टि, वर्णन की शैली, अलंकारों का प्रयोग, छन्दों का चुनाव–आदि अनेक विषयों में कालिदास का प्रभाव अश्वघोष पर पड़ा है। अश्वघोष प्रधानतः सर्वास्तिवादी दार्शनिक थे। काव्य की ओर उनकी अभिरुचि का होना तथा उसे धर्मप्रचार का साधन मानना काव्यकला के उत्कर्ष का द्योतक है (सौन्दरनन्द १८।६३)। और यह उत्कर्ष कालिदास के प्रभाव का ही फल है। बुद्धचरित में अश्वघोष ने कालिदास के बहुत से श्लोकों का अनुसरण किया है। रघुवंश के ७ वें सर्ग में (श्लोक ५–१५) कालिदास ने स्वयंवर से लौटने पर अज को देखने के लिए आने वाली उत्सुक स्त्रियों का बड़ा ही अभिराम वर्णन किया है। अश्वघोष ने बुद्धचरित में (तृतीय सर्ग, १३–२४ पद्य) ठीक ऐसे ही प्रसंग का वर्णन किया है। कुमारसम्भव में भी ये ही पद्य मिलते हैं। यदि कालिदास ने इसे अश्वघोष के अनुकरण पर लिखा होता, तो वे दो बार प्रदर्शन कर अपना ऋण नितान्त अभिव्यक्त न करते, उसे छिपाने का प्रयत्न करते। कालिदास की भाव सुन्दरता अश्वघोष के द्वारा सुरक्षित न रह सकी। तुलना करने से कालिदास का समय अश्वघोष से प्राचीन प्रतीत होता है। अतः कालिदास का समय ईस्वीपूर्व प्रथम शतक में ही मानना नितान्त युक्तियुक्त है।

---

१. मालवानां गणस्थित्या याते शतचतुष्टये।
त्रिनवत्यधिकेऽब्दानामृतौ सेव्यघनस्वने ॥ ३४ ॥

(वत्सभट्टि, मन्दसौर शिलालेख)

(ग) शाकुन्तल में सूचित सामाजिक तथा आर्थिक दशा का अनुशीलन सूचित करता है कि कालिदास बौद्ध धर्म से प्रभावित उस युग के कवि थे जब हिन्दू देवी-देवताओं के विषय में श्रद्धाविहीन विचार प्रचलित थे। कालिदास ने अभिज्ञान-शाकुन्तल की नान्दी में भगवान् शिव की अष्टमूर्तियों का वर्णन किया है। इस नान्दी में 'प्रत्यक्षाभिः' शब्द का प्रयोग कर कवि ने तत्कालीन देवता-विषयक अविश्वास को दूर करने का प्रयत्न किया है। जिन शिव की अष्टमूर्तियों का हमें प्रत्यक्षदर्शन हो रहा है—जिनका साक्षात्कार हमें अपनी आँखों से हो रहा है, उस देवता के विषय में अश्रद्धा कैसे टिक सकती है ? अविश्वास कैसे रह सकता है ? इसी प्रकार षष्ठ अंक में कालिदास ने कर्तव्य-कर्म होने के कारण यज्ञयागादि का विधान ब्राह्मण के लिये आवश्यक बतलाया है। बौद्धों ने हिंसापरक होने के कारण यज्ञों की भरपेट निन्दा की, परन्तु शकुन्तला में एक पात्र कहता है कि क्या यज्ञों में पशु मारनेवाले श्रोत्रिय का हृदय दयालु नहीं होता ? कुल परम्परागत धर्म का परित्याग क्या कभी श्लाघनीय है ? अत एव यज्ञों का अनुष्ठान सर्वदा श्रेयस्कर है; उसके हिंसापरक होने पर भी याज्ञिक ब्राह्मणों का हृदय कोमल होता है—

सहजं किल यद् विनिन्दितं न खलु तत् कर्म विवर्जनीयम्।
पशुमारण-कर्मदारुणः अनुकम्पामृदुरेव श्रोत्रियः॥

यहाँ कवि ने बौद्ध धर्म के कारण यज्ञों के विषय में होने वाली निन्दा या अश्रद्धा को दूर करने का उद्योग किया है। अतः कालिदास का जन्म उस समय में हुआ था, जब बौद्ध धर्म के प्रति अश्रद्धा बढ़ती जा रहती थी, तथा ब्राह्मण-धर्म का अभ्युदय हो रहा था। यह समय ब्राह्मणवंशी शुंगनरेशों (द्वितीय शतक विक्रम पूर्व) के कुछ ही पीछे होना चाहिये। अतः विक्रम संवत् के प्रथम शतक में कालिदास को मानना सर्वथा न्यायसंगत प्रतीत होता है।

(घ) कालिदास ने रघुवंश के षष्ठ सर्ग (श्लोक ३६) में 'अवन्तिनाथ' का वर्णन करते समय 'विक्रमादित्य' विरुद का संकेत किया है। कथासरित्सागर के अनुसार विक्रमादित्य मालवगण के संस्थापक, काव्यकला के प्रेमी, शैव थे। कालिदास के ग्रन्थों से भी उनके शैव होने का संकेत मिलता है। फलतः उनके विक्रमादित्य के सभापण्डित होने की अधिक सम्भावना है, न कि वैष्णव मतावलम्बी परमभागवत गुप्तनरेशों की सभा में स्थिति की।

(ङ) रघुवंश के षष्ठ सर्ग में इन्दुमती के स्वयंवर के प्रसङ्ग में पांड्य-नरेश का वर्णन किया गया है (श्लोक ५९–६७)। चतुर्थ शती में पाण्ड्यों का राज्य समाप्त हो गया था, परन्तु प्रथम शती में उनका राज्य विद्यमान था। कालिदास ने पाण्ड्य-नरेश की 'उरगपुर' राजधानी बतलाया है, जो कि 'उरियाउर' का संस्कृत नाम है। पांड्य नरेशों की यही राजधानी थी।

काव्य ग्रन्थ

कालिदास की सच्ची रचनाओं का निर्णय करना आलोचकों के लिए एक दुष्कर कार्य है; क्योंकि कालिदास की काव्य-जगत् में ख्याति होने पर अवान्तरकालीन बहुत से कवियों ने 'कालिदास' का प्रसिद्ध अभिधान धारण कर अपने व्यक्तित्व को छिपा रखा। कम से कम राजशेखर (१० शतक) ने तीन कालिदासों की सत्ता का पूर्ण संकेत किया है[१]। एक तो परम्परा की अविच्छिन्नता और दूसरे अनेक कालिदासों की सत्ता—दोनों ने मिलकर इस समस्या को अत्यधिक जटिल तथा अमीमांस्य बना रखा है।

श्रव्यकाव्य

(१) ऋतुसंहार—'ऋतुसंहार' कालिदास की प्रथम काव्यकृति है। विद्वानों की दृष्टि में बालकवि कालिदास ने काव्यकला का आरम्भ इसी ऋतु-वर्णन-परक लघुकाव्य से किया। छः सर्गों में विभक्त यह काव्य ग्रीष्म से आरम्भ कर बसन्त तक छहों ऋतुओं का बड़ा ही स्वाभाविक, अकृत्रिम तथा सरल वर्णन प्रस्तुत करता है, परन्तु इसे कालिदासीय कृति मानने में आलोचकों में ऐकमत्य नहीं है। उनकी दृष्टि में न तो इसमें कालिदास की कमनीय शैली या वाग्वैदग्धी का परिचय मिलता है, न इसमें बाल-रचना की पुष्टि में ही कोई प्रमाण मिलता है। भारतीय दृष्टि से ऋतुओं का वर्णन रूढिगत तथा सर्वथा सामञ्जस्यपूर्ण है। अलंकार ग्रन्थों में उद्धरण का अभाव भी उक्त सन्देह की पुष्टि सा करता प्रतीत होता है।

(२) कुमारसम्भव—कालिदास की सच्ची निःसन्दिग्ध रचना है। इसमें कवि ने कुमार कार्तिकेय के जन्म के वर्णन का संकल्प किया था, परन्तु यह

---

१. एको न जीयते हन्त कालिदासो न केनचित्।
शृङ्गारे ललितोद्गारे कालिदासत्रयी किमु॥
(सूक्तिमुक्तावली)

महाकाव्य अधूरा ही है। इसके वर्तमान १७ सर्गों में से आदि के सात सर्ग तो कालिदास की लेखनी के चमत्कार हैं ही, अष्टम सर्ग भी उनका ही निःसंशय निर्माण है। आलङ्कारिकों तथा सूक्तिसंग्रहों ने इन्हीं सर्गों में से पद्यों को उद्धृत किया है। कालिदासीय कविता के प्रवीण पारखी मल्लिनाथ ने इतने ही सर्गों पर अपनी 'संजीवनी' लिखी है। इन आदिम आठ सर्गों में विषय की दृष्टि से पूर्ण ऐक्य है। कविता का चमत्कार सहृदयों के लिए नितान्त हृदयावर्जक है। 'जगतः पितरौ' शिव पार्वती जैसे दिव्य दम्पती के रूप तथा स्नेह का वर्णन नितान्त औचित्यपूर्ण अथ च ओजस्वी है। केवल अष्टम सर्ग का रतिवर्णन आलङ्कारिकों के तीव्र कटाक्ष का पात्र बना है। पञ्चम सर्ग में पार्वती की कठोर तपश्चर्या का वर्णन जितना ओजपूर्ण, उदात्त तथा संश्लिष्ट है उतना ही तृतीय सर्ग में शिवजी की समाधि का वर्णन भी अभूतपूर्व है। ९ से लेकर १७ सर्ग तक का ग्रन्थांश किसी साधारण कवि के द्वारा लिखित प्रक्षेपमात्र है।

(३) मेघदूत—यह कालिदास की अनुपम प्रतिभा का विलास है। वियोगविधुरा कान्ता के पास यक्ष का मेघ के द्वारा प्रणय-सन्देश भेजना कालिदास की अपनी मौलिक कल्पना है। सम्भव है यह हनुमान को दूत बनाकर भेजने की रामायणीय अथवा हंसदूत की महाभारतीय कथा के द्वारा संकेतित किया गया हो, परन्तु इसका सांविधानक तथा विषयोपन्यास कवि की मौलिक सूझ के परिणाम हैं। इसकी लोकप्रियता तथा व्यापकता का निदर्शन विपुल टीका-सम्पत्ति (लगभग ५० टीकाओं) से तो लगता ही है; साथ ही तिब्बती तथा सिंघली भाषा में इसके अनुवाद से यह विशेषतः पुष्ट होती है। 'मेघदूत' को आदर्श मानकर संस्कृत में निबद्ध एक विपुल काव्यमाला है, जो 'संदेश-काव्य' के नाम से विख्यात है[1]। पूर्वमेघ में कवि ने रामगिरि से अलका तक के मार्ग के वर्णनावसर पर समस्त भारतवर्ष की प्राकृतिक सुषमा का अभिराम उपन्यास किया है। यदि यह बाह्यप्रकृति के सौन्दर्य तथा कमनीयता का उज्ज्वल प्रदर्शन है, तो उत्तरमेघ मानव-हृदय के सौन्दर्य तथा अभिरामता का विमल चित्रण है। यक्ष का प्रेम-सन्देश, उसके कोमल हृदय के स्वाभाविक स्नेह का तथा नैसर्गिक सहानुभूति का एक मनोरम प्रतीक है और इस उदात्त प्रेम का अभिव्यंजक, काव्य सुषमा तथा भावसौष्ठव से मण्डित यह ग्रन्थ रस का अक्षय्य स्रोत है, जिसकी भावधारा सूखने की अपेक्षा प्रतिदिन आनन्दातिरेक से वृद्धिगत ही होती जा रही है।

---

१. द्रष्टव्य -इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, कलकत्ता, जिल्द–४।

(४) रघुवंश—भारतीय आलोचना रघुवंश को कालिदास का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ, मानती है और इसीलिए कालिदास के लिए ही 'रघुकार' (रघुवंश का रचयिता) अभिधान का प्रयोग किया गया है। ग्रन्थ की लोकप्रियता तथा व्यापकता का परिचय विभिन्न काल में निर्मित ४० टीकाओं के अस्तित्व से भी भली-भाँति मिल सकता है। रघु के जन्म की पूर्व पीठिका से ही इस काव्य का आरम्भ होता है। दिलीप के गोचारण से रघु का जन्म होता है (द्वितीय तथा तृतीय सर्ग), जो अपने अदम्य पराक्रम से पूरे भारतवर्ष के ऊपर दिग्विजय करते हैं (चतुर्थ सर्ग) और अपनी अद्भुत दानशीलता दिखलाकर लोगों को चकित कर देते हैं (पंचम सर्ग)। इसके अनन्तर तीन सर्गों में इन्दुमती का स्वयंवर, अन्य समवेत राजाओं को परास्त कर रघुपुत्र अज का इन्दुमती से विवाह तथा कोमल माला के गिरने से इन्दुमती का मरण और अज का करुण विलाप क्रमशः वर्णित है। दसवें सर्ग से लेकर १५ वें सर्ग तक रामचरित्र का विस्तृत वर्णन है। यहाँ कालिदास ने जमकर रामचन्द्र के चरित्र का वैशिष्ट्य बड़ी ही सुन्दरता से प्रदर्शित किया है। त्रयोदश सर्ग में पुष्पकारूढ राम के द्वारा भारतवर्ष के स्थलों का रुचिर वर्णन कालिदास की प्रतिभा का विलास है। चतुर्दश सर्ग सीता के चरित्र की सुषमा से अलोकित है। राम के द्वारा परित्यक्ता गर्भ-भरालसा जनकनन्दिनी के प्रणय-सन्देश में जो आत्म गौरव, जो स्नेह भरा हुआ है वह पतिव्रता के चरित्र का उत्कर्ष है। अन्तिम कतिपय सर्गों में कालिदास नाना राजाओं के चरित्र को सरसरी तौर से निरखते चले गये हैं, परन्तु अन्तिम १९ वें सर्ग में कामुक अग्निवर्ण का चित्रण बड़ी ही मार्मिकता के साथ कवि ने किया है। देखने में रघुवंश अधूरा सा दीखता है, परन्तु कालिदास ने यहाँ प्रभुशक्ति की कल्पना में अपने विचारों को पूर्णरूपेण अभिव्यक्त कर दिया है। प्रकृति-रंजन के कारण राज्य की समृद्धि होती है तथा प्रकृतिहिंसन के कारण राज्य का सर्वनाश होता है—यह उपदेश बड़े ही अच्छे ढंग से रघुवंश के अनुशीलन से प्रकट हो रहा है।

दृश्य काव्य

कालिदास की दीर्घ सांसारिक अनुभूतियों तथा लोकव्यवहार की प्रवीणता का परिचय हमें उनके नाटकों से मिलता है। उन्होंने तीन नाटकों का प्रणयन किया है। ये मानव-हृदय की विभिन्न परिस्थितियों में उदीयमान वृत्तियों का चित्रण लोकव्यवहार के साथ पूर्ण सामंजस्य से करते हैं। इन नाटकों में प्रेममूलक आख्यान को ही कविवर ने कथावस्तु के रूप में

परिगृहीत किया है, परन्तु यहाँ प्रेम की नाना अवस्थाओं का दिग्दर्शन बड़े ही मनोवैज्ञानिक ढंग से किया गया है। 'मालविकाग्निमित्र' में प्रतिकूल परिस्थिति में रहकर भी राजसी अन्तःपुर में पनपने वाले यौवन-सुलभ प्रेम का चित्र है, तो 'विक्रमोर्वशीय' में यौवन की उद्दाम वासना से उत्पन्न कामुक पुरुष को प्रेमिका के विरह में एकदम पागल बना देने वाले प्रेम का निरूपण है। 'शाकुन्तल' की स्थिति इन दोनों से भिन्न है। वहाँ तपस्या तथा साधना के द्वारा, वियोग की ज्वाला से विशुद्ध बनने वाले काम की प्रेम में परिणति का अभिराम चित्र प्रस्तुत किया गया है। कालिदास के इन तीनों नाटकों का वस्तु तथा रस की दृष्टि से अनुपम वैशिष्ट्य है।

(१) 'मालविकाग्निमित्र' में शुङ्गवंशीय नरेश अग्निमित्र तथा मालविका के प्रेम का अभिराम चित्रण ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का आश्रय लेकर कमनीयता के साथ अंकित किया गया है। कवि ने राजाओं के अन्तःपुर की चहारदीवारी के भीतर विकसित होने वाले काम, रानियों की परस्पर ईर्ष्या राजा की कामुकता, महिषी धारिणी की धीरता तथा उदात्तता का चित्रण बड़े अनुभव के साथ किया है।

(२) 'विक्रमोर्वशीय' में कालिदास ने एक वैदिक प्रेमाख्यान को, ऋग्वेद (१०-९५) तथा शतपथ ब्राह्मण (११।५।१) में निर्दिष्ट पुरुरवा तथा उर्वशी की प्रेम-कथा को, कमनीय नाटक के रूप में प्रस्तुत किया है। इस प्राचीन प्रेमाख्यान ने अपनी प्रौढता तथा चमत्कार के कारण कवि का ध्यान आकृष्ट किया। पुरुरवा नितान्त उपकारपरायण भूपाल है और वह राक्षस से उर्वशी का उद्धार करता है। इसी प्रसंग में उर्वशी उसके अलौकिक रूप पर आसक्त होकर उसकी अनेक शर्तों के साथ रानी बनना स्वीकार करती है। उसके वियोग में पुरुरवा पागल बनकर जंगल में मारा-मारा फिरता है। कवि ने पुरुरवा के उद्दाम प्रेम का, संसार के समग्र बन्धनों को तोड़ कर बहनेवाली कामसरिता का चित्रण बड़ी मार्मिकता के साथ किया है। यहाँ कवित्व का ही विलास अधिक है, नाटकीय कौशल का कम। इस नाटक में कवि ने प्रणय तथा प्रणयोन्माद को ही प्रधान प्रतिपाद्य विषय बनाया है।

(३) अभिज्ञान शाकुन्तल—यह कालिदास का सबसे प्रसिद्ध नाटक है। भारतीय आलोचकों ने तो इसे नाटक साहित्य में सबसे श्रेष्ठ बतलाया है— 'काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला'। पश्चिमी विद्वानों ने भी अपनी दृष्टि से इसे अत्युत्तम नाटक माना है। इस नाटक में सात अंक हैं। पहले

अंक में हस्तिनापुर का राजा दुष्यन्त आखेट करने के लिए वन में जाता है और संयोगवश महर्षि कण्व के आश्रम में शकुन्तला से साक्षात्कार करता है। उसकी जन्मकथा सुन उसके हृदय में शकुन्तला के लिए अनुराग उत्पन्न होता है। द्वितीय अंक में ऋषियों की प्रार्थना पर आश्रम की रक्षा करने के लिये वह स्वयं वहीं रह जाता है। तृतीय अंक में राजा और शकुन्तला का समागम है। चतुर्थ अंक में कण्व तीर्थयात्रा से लौटकर आश्रम में आते हैं और शकुन्तला को आपन्नसत्त्वा जान गौतमी, शारद्वत और शार्ङ्गरव नामक दो शिष्यों के साथ हस्तिनापुर भेजते हैं। शकुन्तला का आश्रम से जाने का दृश्य बड़ा ही करुणोत्पादक है। पञ्चम अंक में शकुन्तला हस्तिनापुर पहुँचती है; परन्तु दुर्वासा के अभिशाप के कारण राजा उसे पहचानता नहीं। इस प्रत्याख्यान के बाद ऋषियों के चले जाने पर शकुन्तला को कोई दिव्य ज्योति आकाश में उठा ले जाती है और मारीच के आश्रम में वह अपनी माता मेनका के साथ निवास करती है। षष्ठ अंक में राजा की नामांकित अंगूठी मछुए के पास से राजा को मिलती है जिसे देखते ही दुष्यन्त को शकुन्तला की स्मृति हो जाती है। वह अपनी प्रियतमा के प्रत्याख्यान से अत्यन्त विह्वल हो उठता है। अन्त में इन्द्र की सहायता करने के लिये वह स्वर्गलोक में जाता है। सप्तम अंक में दुष्यन्त विजय प्राप्त कर स्वर्ग से लौटता है और मारीच के आश्रम में अपने पुत्र तथा प्रियतमा का साक्षात्कार करता है। इसी मिलन तथा मारीच के आशीर्वाद के साथ नाटक समाप्त होता है।

समीक्षण

महाकवि कालिदास की कविता देववाणी का शृंगार है। माधुर्य का मधुर निवेश, प्रसाद की स्निग्धता, पदों की सरस शय्या, अर्थ का सौष्ठव, अलंकारों का मंजुल प्रयोग---कमनीय काव्य के समस्त लक्षण कालिदास की कविता में अपना अस्तित्व धारण किये हुए हैं। कालिदास भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि कवि हैं, जिनके पात्र भारतीयता की भव्य मूर्ति हैं। जीवन की सच्ची परिस्थितियों के मार्मिक रूप को ग्रहण करने की क्षमता जिस कवि में विशेष रूप से होगी, जनता का वही सच्चा प्रिय कवि होगा। कालिदास की विशेषता इसी में है। भारतीय समाज का सच्चा रूप उनके काव्यों में झांकता है तथा उनके नाटकों में अपना अभिनय दिखाता है। कालिदास की कविता का प्रधान गुण है वर्ण्य विषय तथा वर्णन-प्रकार में मंजुल सामंजस्य। कालिदास चुने हुए थोड़े शब्दों में जिन भावों की अभिव्यक्ति कर रहे हैं उन्हें दूसरा कवि विस्तार से लिखकर भी

प्रकट नहीं कर सकता। वह जिसे छू देते हैं वह सोना बन जाता है। औचित्य के तो वे प्रवीण मर्मज्ञ हैं। जिन भावों का जिन शब्दों के द्वारा प्रकटन कलात्मक तथा रुचिर होगा, वे उन भावों को उन्हीं शब्दों में प्रकट कर अपनी भावुकता का परिचय देते हैं।

कालिदास के काव्यों में हृदयपक्ष का प्राधान्य है। कवि मानव-हृदय की परिवर्तनशील वृत्तियों को समझने तथा उन्हें अभिव्यक्त करने में अद्भुत चातुर्य रखता है। संसार का अनुभव उसे गहरा था तथा ऐसे अनुभवों के मार्मिक-पक्ष ग्रहण करने में अपूर्व भावुकता थी। आनन्दवर्धन तथा जर्मन महाकवि गेटे ने एक स्वर से कालिकास के भावों की उदात्तता तथा महनीयता की प्रशंसा की है :

कालिदास स्वतन्त्र प्रतिभासम्पन्न कवि हैं जिन्होंने अपने काव्यों की शैली का रूप-निरूपण स्वयं किया है। रसमयी पद्धति अथवा 'सुकुमार मार्ग' के कवि ने अपने भावों की तीव्रता तथा उदात्तता के संचार के लिये अलंकारों का भी प्रयोग बड़े ही औचित्य से किया है। 'उपमा कालिदासस्य' का भारतीय आभाणक वस्तुतः सच्चा है। उनकी उपमायें लोक तथा प्रकृति के मार्मिक स्थलों से संगृहीत की गई हैं तथा विषय को उज्ज्वल करने और काव्यसुषमा की वृद्धि में नितान्त समर्थ हैं। अन्तर्जगत् तथा बहिर्जगत् से चुने जाने के कारण इन उपमाओं में एक विलक्षण चमत्कार है। रस-वर्णन में भी कालिदास अपूर्व हैं। संभोग के उन्मीलन के समान वियोग के उन्मेष में भी वे सर्वथा समर्थ हैं। कुमारसम्भव (चतुर्थ सर्ग) में रति का मदन के लिये विलाप तथा रघुवंश (अष्टम सर्ग) में अज का इन्दुमती के लिए विलाप—दोनों मिलकर करुणरस के समस्त वृत्त को पूर्ण करते है। मेघदूत में विरही यक्ष का अपनी वियोगविधुरा पत्नी के लिए मेघ के द्वारा सन्देश भेजना कवि की निराली मौलिक कल्पना है। यक्षपत्नी का वर्णन इतना करुणोत्पादक है कि उसके पाठकों के हृदय में करुणा का संचार हुए विना नहीं रहता।

उपमा कालिदासस्य

कालिदास की उपमाओं की रसात्मिकता तथा रसपेशलता नितान्त मर्मस्पर्शी है। औचित्य तथा सन्दर्भ को शोभन बनाने की कला उनमें अपूर्व है। तपस्या के लिए आभूषणों को छोड़कर केवल वल्कल धारण करने वाली पार्वती चन्द्र तथा ताराओं से मण्डित होनेवाली अरुणोदय से युक्त रजनी के समान

बतलाई गई है (कुमार० ५।५४)। स्तनों के भार से किंचित् झुकी हुई आतप-सन्निभ लालवस्त्र को धारण करने वाली पार्वती फूलों के गुच्छों से झुकी हुई नवीन लाल पल्लवों से मण्डित संचारिणी लता के समान प्रतीत होती है।

पर्याप्त-पुष्पस्तवकावनम्रा सञ्चारिणी पल्लविनी लतेव।

स्वयंवर में उपस्थित भूपालों को छोड़कर जब इन्दुमती आगे बढ़ती जाती है, तब वे राजमार्ग पर दीपशिखा के द्वारा छोड़े गये महलों के समान प्रतीत होते हैं। यहाँ राजाओं की विषण्णता तथा उदासी की अभिव्यक्ति इस उपमा के द्वारा बड़ी सुन्दरता से की गई है—

सञ्चारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिवरा सा।
नरेन्द्र-मार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः॥

इसी उपमा-प्रयोग के सौन्दर्य के कारण यह महाकवि 'दीपशिखा कालिदास' के नाम से कविगोष्ठी में प्रसिद्ध है।

कालिदासीय उपमा की यह भूयसी विशिष्टता है कि वह 'स्थानीय रञ्जन' (लोकल कलरिंग) से रंजित है और इससे श्रोता के चक्षुःपटल के सामने समग्र चित्र को प्रस्तुत कर देती है। परास्त किये जाने पर पुनः प्रतिष्ठित किये गये वंगीय नरेश रघु के चरण-कमल के ऊपर नम्र होकर उन्हें फलों से समृद्ध बनाते हैं, जिस प्रकार उस देश के धान के पौधे (रघु० ४।३७)। कलिंग-नरेश के मस्तक पर तीक्ष्ण अंकुश रखने वाले रघु की समता गम्भीरवेदी हाथी के मस्तक पर तीक्ष्ण अंकुश रखने वाले महावत से की गई है (रघु० ४।३९)। प्राग्ज्योतिषपुर (आसाम) के नरेश रघु के आगमन पर उसी प्रकार झुक जाते हैं जिस प्रकार हाथियों के बाँधने के कारण कालागुरु के पेड़ झुक जाते हैं (रघु० ४।८१)। इन समस्त उपमाओं में 'स्थानीय रंजन' का आश्चर्यजनक चमत्कार है।

प्रकृति से गृहीत उपमाओं में एक विलक्षण आनन्द है। राक्षस के चंगुल से बचने पर बदहोश उर्वशी धीरे-धीरे होश में आ रही है। इसकी समता के लिए कालिदास चन्द्रमा के उदय होने पर अन्धकार से छोड़ी जाती हुई (मुच्यमाना) रजनी, रात्रिकाल में धूमराशि से विरहित होने वाली अग्नि की ज्वाला, बरसात में तट के गिरने के कारण कलुषित होकर धीरे-धीरे प्रसन्न-सलिला होने वाली गङ्गा के साथ देकर पाठकों के नेत्रों के सामने तीन सुन्दर दृश्यों

को एक साथ उपस्थित कर देते हैं। ये तीनों उपमायें औचित्य-मण्डित होने से नितान्त रसाभिव्यञ्जक हैं—

आविर्भूते शशिनि तमसा मुच्यमानेव रात्रि-
नैशस्यार्चिर्हुतभुज इव छिन्नभूयिष्ठधूमा।
मोहेनान्तर्वरतनुरियं लक्ष्यते मुक्तकल्पा
गंगा रोधःपतनकलुषा गृह्णतीव प्रसादम्॥
(विक्रमोर्वशीय १।९)

पात्र-चित्रण

कालिदास के पात्र जीवनी शक्ति से सम्पन्न जीते-जागते प्राणी हैं। उनकी शकुन्तला प्रकृति की कन्या, आश्रम की निसर्ग बालिका है, जिसके जीवन को बाह्य प्रकृति ने अपने प्रभाव से कोमल तथा स्निग्ध बनाया है। हिमालय की पुत्री पार्वती तपस्या तथा पातिव्रत का अपूर्व प्रतीक है, जिसके कठोर तपश्चरण के आगे ऋषिजन भी अपना माथा टेकते हैं। धीरता की मूर्ति-धारिणी, चपल प्रेम की प्रतिमा मालविका, उन्मत्त प्रेम की अधिकारिणी उर्वशी, पारस्परिक ईर्ष्या तथा प्रणयमान की प्रतिनिधि इरावती संस्कृत-साहित्य के अविस्मरणीय स्त्री-पात्र हैं। आदर्श पात्रों के सर्जन में रघुवंश अद्वितीय है। देवता और ब्राह्मण में भक्ति, गुरुवाक्य में अटल विश्वास, मातृरूपिणी पयस्विनी की परिचर्या, अतिथि की इष्टापूर्ति के लिए धरणीधर राजा की व्याकुलता, लोकरंजन के निमित्त तथा अपने कुल को निष्कलंक रखने के लिए नरपति के द्वारा अपनी प्राणोपमा धर्मपत्नी का निर्वासन—कालिदासीय आदर्शसृष्टि के कतिपय दृष्टान्त हैं। कालिदास रमणी के चित्रण में ही समर्थ नहीं हैं; प्रत्युत नारी के स्वाभिमान तथा उदात्त रूप के प्रदर्शन में भी कृतकार्य हैं। रघुवंश के चतुर्दश सर्ग (६१-६७ श्लोक) में चित्रित, राजा राम के द्वारा परित्यक्त जनकनन्दिनी जानकी का चित्र तथा उनका राम को भेजा गया सन्देश कितना भावपूर्ण, गम्भीर तथा मर्मस्पर्शी है। राम को 'राजा' शब्द के द्वारा अभिहित करना विशुद्ध तथा पवित्र-चरित्र धर्मपत्नी के परित्याग के अनौचित्य का मार्मिक अभिव्यञ्जक है—

वाच्यस्त्वया मद्वचनात् स राजा वह्नौ विशुद्धामपि यत् समक्षम्।
मां लोकवादश्रवणादहासीः श्रुतस्य किं तत् सदृशं कुलस्य॥
(रघु० १४।२१)

सीता के चरित्र की उदारता का परिचय इसी घटना से लग सकता है कि इतनी विषम परिस्थिति में पड़ने पर भी वह राम के लिए एक भी कुशब्द का प्रयोग नहीं करती, बल्कि अपने ही भाग्य को कोसती है तथा अपनी ही निन्दा बारम्बार करती है।

पुरुष पात्रों का चित्रण भी उतना ही स्वाभाविक तथा भावपूर्ण है। गुरु की आज्ञा से नन्दिनी का सेवक दिलीप चरित्र में जितना सुन्दर है, वरतन्तु की इच्छापूर्ति करनेवाला वीर रघु भी उतना ही श्लाघनीय है। रामचन्द्र का चरित्र इस महाकवि ने बड़ी कोमल तूलिका से चित्रित किया है। राम प्रजारंजक हैं और साथ ही साथ मानव भी हैं। वैदेही की निन्दा सुनकर राम के हृदय के विदरण की समता आग में तपे हुए अयोघन द्वारा आहत लोहे के साथ देकर कवि ने राम के हृदय की कठोरता तथा कोमलता दोनों की मार्मिक अभिव्यक्ति एक साथ की है (रघु० १४।३३)।

राम का हृदय लोहे के समान कठोर अथच तप्त होने पर कोमल है। अकीर्ति की उपमा अयोघन (लोहे का घन) के साथ देकर कवि उसकी एकान्त कठोरता की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट कर रहा है। राम का स्वाभिमानी हृदय कहीं व्यक्त होता है (१४।४१), तो कहीं उनकी मानवता राजभाव के ऊपर झलकती है (१४।८४)। लक्ष्मण के लौटकर सीता का संदेश सुनाने पर राम की आँखों में आँसू छलकने लगते हैं—यह राजभाव के ऊपर मानवता की विजय है।

> बभूव रामः सहसा सबाष्पस्तुषारवर्षीव सहस्यचन्द्रः।
> कौलीनभीतेन गृहान्निरस्ता न तेन वैदेहसुता मनस्तः॥

(रघु० १४।८४)

शकुन्तला का वैशिष्ट्य

शकुन्तला कालिदास की अनुपम कृति है। यह आरम्भ से अन्त तक नाट्यकला का प्रशंसनीय निदर्शन है। साहित्य की दृष्टि से तो यह श्रेष्ठ है ही, साथ ही साथ इसमें आध्यात्मिक रहस्यों की ओर भी संकेत किया गया है। चौथे अङ्क में 'अयमहं भोः' (मैं यह आया) की द्वार पर ऊँची पुकार लगानेवाले, पवित्र तपोजीवन के लिए आह्वान करनेवाले, दुर्वासा ऋषि अरण्यवास, सादा जीवन, विलासरहित आचरण तथा तपश्चर्या के प्रतीक हैं। छिपे चोर की तरह वृक्षों की ओट से प्रवेश करनेवाला दुष्यन्त विलासिता का

प्रतीक है। दुर्वासा का तिरस्कार कर दुष्यन्त को अपना हृदय देने वाली शकुन्तलारूपी भारतभूमि की शोचनीय दशा देखकर किसके हृदय में सहानुभूति की सरिता नहीं उमड़ पड़ती ? तपोमार्ग के अवलम्बन करने से असीम शान्ति तथा नित्य अक्षय्य सुख की प्राप्ति देखकर कौन मनुष्य तपोमय जीवन बिताने के लिये शिक्षा नहीं ग्रहण करता ? शकुन्तला की दुर्दशा को दिखला कर कालिदास ने गान्धर्व विवाह की प्रथा को दूषित बतलाया है।

शकुन्तला तथा दुष्यन्त का चरित्र-चित्रण कालिदास ने जिस खूबी के साथ किया है, वह भी अवलोकनीय है। चतुर्थ अङ्क में कालिदास के प्रकृतिप्रेम तथा प्रकृतिदेवी की सजीव मूर्ति का दर्शन किसे रसमय नहीं बनाता ? प्रथम अङ्क में आश्रम का सच्चा वर्णन किया गया है। कवीन्द्र ने दिखाया है कि अनुसूया, प्रियंवदा जैसे सजीव पात्रों की तरह तपोवन का अस्तित्व भी ठीक सजीव है। तपोवन के न रहने पर शकुन्तला कुछ और ही होती। तपोवन का प्रभाव शकुन्तला के चरित्र में स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा है। सच्चा प्रेम पाने का कितना सुन्दर साधन बतलाया गया है। कठिन तपस्या के पहले सच्चा प्रणय पैदा नहीं हो सकता, वह तो केवल कामवासना है। जब तक काम तपस्या के कठोरानल में—वियोग की कराल आग में—दग्ध होकर शुद्ध नहीं बनता, तब तक सच्चा स्नेह उद्भूत ही नहीं होता। दुष्यन्त शकुन्तला का प्राथमिक प्रेम केवल काम के साँचे में ढला था, उसमें स्वार्थ के जहरीले कीट पैदा हो गये थे। प्रत्याख्यान किये जाने पर शकुन्तला शान्त मन से मारीच के आश्रय में तपस्या में अनुरक्त होती है और दुष्यन्त स्वयं पश्चात्ताप तथा वियोग की भीषण वडवाग्नि में अपने को तप्त कर शुद्ध करता है। तब कहीं जाकर सच्चे स्नेह की प्रतिमा उनके सामने झलकती है।

चरित्र-चित्रण

चरित्र-चित्रण कालिदास की विशिष्टता है। उनके हाथों में निर्जीव दुष्यन्त सजीव हो उठता है; रूक्षप्राया शकुन्तला परम स्निग्ध रूप धारण कर हमारे लोचनों के सामने झांकती है। दुष्यन्त प्रजावत्सल, उदात्त-चरित्र धीरोदात्त नायक है। उसका हृदय धर्मभावना से उत्तान है। ऋषियों के तपोवन में वह शान्त भाव से प्रवेश करता है—अपनी राजसी वेशभूषा को हटाकर वह शान्त चित्त से कण्व के आश्रम में प्रवेश करता है; मुनि कन्याओं से शिष्टता से वार्तालाप करता है। आश्रम की रक्षा के लिये अपनी ममतामयी माता के स्नेहमय आग्रह को

टाल देता है, गान्धर्व विधि से शकुन्तला से विवाह करता है, उसे बुलाने का वचन भी दे आता है, परन्तु दुर्वासा के शापवश वह हस्तिनापुर जाते ही अपनी प्रेयसी को भूल जाता हैं। यह हुआ उसका पतन। हरिण का आखेट करने वह जाता है, पर स्वयं काम का शिकार बन जाता है। यदि नाटक का पर्यवसान यहीं हो जाता तो यह एक सामान्य रचना हो बन कर रहती, परन्तु षष्ठ और सप्तम अंकों में राजा दुष्यन्त पार्थिव जगत् से ऊपर उठता है और आध्यात्मिकता तथा तपस्या की साधना से वह उस दिव्य लोक में पहुँच जाता है जहाँ काम का धर्म से कोई विरोध नहीं होता, भोग और योग का मनोरम सामञ्जस्य घटित होता है। स्वार्थ और परामार्थ घुल-मिलकर एकाकार हो जाते हैं। यह है दुष्यन्त के चरित्र का अभ्युत्थान। इसी के प्रदर्शन में कालिदास की कमनीय कला की चरम अभिव्यक्ति है। दुष्यन्त का आदर्श रूप हमें उस घोषणा में मिलता है जिसका सिंहनाद समग्र भारतवर्ष को मुखरित करता था—

येन येन वियुज्यन्ते प्रजाः स्निग्धेन बन्धुना।
स स पापादृते तासां दुष्यन्त इति घुष्यताम्॥

अत एव जर्मन महाकवि गेटे की प्रशस्त प्रसंसा नितान्त औचित्यपूर्ण है। गेटे की प्रशंसा का यह संस्कृत रूप है :—

वासन्तं कुसुमं फलं च युगपद् ग्रीष्मस्य सर्वं च यद्
यच्चान्यन्मनसो रसायनमतः सन्तर्पणं मोहनम्।
एकीभूतमभूतपूर्वमथवा स्वर्लोकभूलोकयो-
रैश्वर्यं यदि वांछसि प्रियसखे! शाकुन्तलं सेव्यताम्॥

कवीन्द्र रवीन्द्र ने शेक्सपीयर के टेम्पेस्ट नाटक तथा कालिदास के शाकुन्तल का सुन्दर सरस विषय-तारतम्य दिखलाया है :—'टेम्पेस्ट में शक्ति है, शाकुन्तल में शक्ति है; टेम्पेस्ट में बल के द्वारा जय हुई है और शाकुन्तल में मंगल के द्वारा सिद्धि। टेम्पेस्ट में आधे मार्ग पर विराम हो गया है और शाकुन्तल में सम्पूर्णता का अवसान है। टेम्पेस्ट में मिरांडा सरल माधुर्य में परिपूर्ण है, परन्तु इस सरलता की नींव अज्ञता-अनभिज्ञता पर अवलम्बित है; शकुन्तला की सरलता अपराध, दुःख, अभिज्ञता, धैर्य तथा क्षमा से परिपक्व गम्भीर तथा स्थायी है। गेटे की समालोचना का अनुसरण कर मैं फिर भी वही कहता हूँ कि शकुन्तला के

आरम्भ के तरुण सौन्दर्य ने मंगलमय परम परिणति से सफला प्राप्त कर मर्त्य को स्वर्ग के साथ सम्मिलित करा दिया है।

सौन्दर्य-भावना

कालिदास शृङ्गार तथा प्रेम के भावुक कवि हैं। अतः उनकी दृष्टि सौन्दर्य की कोमल भावना को पहचाने तथा प्रकट करने में नितान्त चतुर है। उनका रसमय हृदय इन सौन्दर्य-वर्णनों में झांकता हुआ दीख पड़ता है। वे बाह्यप्रकृति और अन्तःप्रकृति के पूरे सामरस्य के उपासक हैं। बाह्यप्रकृति जो अभिरामता प्रस्तुत करती है वही अभिरामता अन्तःप्रकृति में भी विद्यमान है। तभी तो हमारे कवि की दृष्टि में शकुन्तला कोमल लता के समान लावण्यमयी प्रतीत होती है—

अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु सन्नद्धम् ॥

शकुन्तला का अधर नये पल्लव की ललिमा लिये हैं; बाहू कोमल शाखाओं का अनुकरण करते हुए झुके हुए हैं। विकसित फूल के समान लुभावना यौवन अङ्गों में प्रस्फुटित हो रहा है।

पार्वती के अधर पर मधुर मुस्कान की शोभा वनस्पति-जगत् में कवि को मिलती है। यह अनूठा वर्णन कवि के गाढ अनुवीक्षण का परिचय देता है—

पुष्पं प्रबालोपहितं यदि स्याद् मुक्ताफलं वा स्फुट-विद्रुमस्थम्।
ततोऽनुकुर्याद् विशदस्य तस्यास्ताम्रौष्ठपर्यस्तरुचः स्मितस्य ॥

(कुमार० १।४४)

यदि उजला फूल ईषद् रक्त नये पल्लव पर रखा जाय और यदि मोती लाल-लाल मूंगों पर निहित हो, तभी ये दोनों पार्वती के लाल होठों पर फैली हुई मधुर मुसकराहट की समता पा सकते हैं।

रससिद्धि

कालिदास रससिद्ध कविराज हैं, जिनके यशरूपी शरीर में जरामरण का तनिक भी भय नहीं है। जिस रस की ओर उनकी दृष्टि झुकती है उसे ही वे अनूठे तौर पर अभिव्यक्त कर देते हैं, पर शृङ्गार और करुण रसों की कुछ विलक्षण चारुता इनकी कविता में है। शाकुन्तल में प्रेम और करुण का अपूर्व सम्मेलन है।

चौथे अंक में, जहाँ शकुन्तला अपने पतिगृह जा रही है, कवि ने जैसा करुण चित्र अंकित किया है वैसा शायद ही कहीं चित्रित हो। दुष्यन्त के पास प्यारी कन्या शकुन्तला को भेजते समय संसार के विषय से विमुख होने पर भी कण्व को कैसी दशा है, देखिए—

यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया
कण्ठः स्तम्भितबाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम्।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमहो स्नेहादरण्यौकसः।
पीड्यन्ते गृहिणः कथं न तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः॥

(शाकुन्तल ४।५)

[आज शकुन्तला पतिगृह को चली जायगी—इससे उत्कण्ठा के मारे मेरा हृदय उच्छ्वसित हो रहा है, आँसुओं के अवरोध के कारण कण्ठ गद्गद् हो रहा है, चिन्ता से दृष्टि शिथिल हो गई है, पास की चीज भी नहीं देख सकता। मैं तो अरण्यवासी हूँ; जब संसारी न होने पर भी प्रेम के कारण मेरी ऐसी विह्वल दशा हो गई है तब अपनी पुत्री को पहिले-पहल पतिगृह भेजते समय गृहस्थों को कितना दुःख होता होगा ?]

शाकुन्तल के इस अंक में कालिदास ने प्रकृति और मनुष्य को एक घनिष्ट प्रेम-बन्धन से बंधा हुआ दिखाया है। आश्रम की बालिका शकुन्तला को अलंकृत करने के लिये प्रकृति स्नेह से आभूषण वितरण करती है। मृग का छौना शकुन्तला को जाने नहीं देता। प्रकृति पत्तों के गिरने के व्याज से आँसू बहाती है। प्रकृति तथा मनुष्य का ऐसा सहानुभूतिपूर्ण वर्णन संस्कृत-साहित्य में कम उपलब्ध होता है। यह दृश्य कालिदास के प्रकृष्ट प्रकृति-प्रेम तथा असीम करुण-रस को वर्णन-शैली का सुस्पष्ट परिचायक है।

महर्षि कण्व शकुन्तला को विदाई की आज्ञा प्रकृति से माँग रहे हैं—

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।
आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्॥

(शाकुन्तल ४।८)

[हे वृक्ष ! शकुन्तला पहिले तुम्हें जल पिलाये विना स्वयं जल नहीं पीती थी, नवल पल्लवों के गहने पहनने को शौकीन होने पर भी प्रेम के मारे तुम्हारे पल्लवों को नहीं तोड़ती थी, जो तुममें पहिले-पहल फूल आने पर भी खूब उत्सव मनाती थी, वही शकुन्तला आज पतिगृह जा रही है। तुम सब जाने की अनुमति दो।]

शकुन्तला के जाते समय तपोवन कितना दुःख प्रकट कर रहा है :—

उद्गलितदर्भकवला मृग्यः परित्यक्तनर्तना मयूरी।
अवसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्त्यश्रूणीव लताः

(शाकुन्तल ४।११)

[मृगीगण कुश के ग्रास को वियोग से दुःखी होकर गिरा रही हैं। शकुन्तला के आश्रम छोड़ने से वे इतनी शोक-ग्रस्त हैं कि उन्हें खाना नहीं सुहाता। जो मयूरी आनन्दोल्लास में नाच रही थी उसने अपना नाचना छोड़ दिया। लताओं से पीले-पीले पत्ते झड़ रहे हैं, मानों ये आँसुओं को बरसा रही है]

प्रकृति की गोद में पाली गई शकुन्तला आज अपने प्यारे आश्रम-सहचरों को छोड़कर भारत की महारानी बनने जा रही है। कण्व का गला रूँध जाना सहज है ! प्रियंवदा तथा अनसूया की भी विह्वलता बोध-गम्य है, परन्तु अचेतन प्रकृति का यह हार्दिक शोक, अन्तःकरण की करुणदशा को व्यक्त करनेवाली प्रकृति की यह मूकवाणी, सच्चे हृदय के अतिरिक्त किसे सुनाई पड़ती है ? प्रकृति में मानव वियोग का यह आन्दोलन किसी मार्मिक कवि के अन्तश्चक्षु के बिना किन नेत्रों से प्रत्यक्ष किया जा सकता है ? मनुष्य तथा प्रकृति का यह दर्शनीय वियोग रसिक हृदयतन्त्री को निनादित अवश्यमेव करता है।

प्रकृति-वर्णन

कालिदास प्रकृतिदेवी के प्रवीण पुरोहित थे। उनकी सूक्ष्म दृष्टि ने प्रकृति के सूक्ष्म रहस्यों को सावधानता से हृदयंगम किया था। उनके प्राकृतिक वर्णन इतने सजीव हैं कि वर्णित वस्तु हमारे नेत्रों के सामने नाच उठती है। बाह्य प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण करना तथा उसका मार्मिक अंश ग्रहण करना कालिदास की महती विशेषता है। मनुष्य तथा प्रकृति—दोनों का मंजुल सम्पर्क तथा अद्भुत एकरसता दिखाकर कवि ने प्रकृति के भीतर स्फुरित

होनेवाले हृदय को पनचाना है। भारतीय प्राकृतिक वर्णनों में एक विचित्रता है। पाश्चात्य कवियों के वर्णन प्रायः आवरणहीन होते हैं, परन्तु संस्कृत कवियों के वर्णन अलंकृत होते हैं—ये महाकवि प्रकृति को सुन्दर अलंकारों से स-ाकर पाठकों के सामने लाते हैं। कालिदास के वर्णन नितान्त सूक्ष्म, सुन्दर तथा संश्लिष्ट रूप में होते हैं। मेघदूत भारतीय कवि की अद्भुत प्रतिभा के द्वारा चित्रित भारतश्री का एक नितान्त सरस चित्रण है। 'ऋतुसंहार' में समस्त ऋतुएँ अपने विशिष्ट रूप में प्रस्तुत होकर पाठकों का मनोरंजन करती हैं। रघुवंश के प्रथम सर्ग (४६–५३ श्लोक) में तपोवन का तथा त्रयोदश में त्रिवेणी का (५४–५७ श्लोक) सुन्दर वर्णन कल्पना के साथ निरीक्षण शक्ति का मंजुल सामरस्य है।

कालिदास की निरीक्षण शक्ति अत्यन्त सूक्ष्म तथा पैनी है। उनका प्रकृति-वर्णन वैज्ञानिक तथा प्रतिभामण्डित है। इसके रमणीय उदाहरण सर्वत्र दीख पड़ते हैं। पर्वत के झरनों पर जब दिन के समय सूर्य की किरणें पड़ती हैं तब उनमें इन्द्रधनुष चमकने लगता है, परन्तु सन्ध्या के समय सूर्य के पश्चिम ओर लटक जाने पर उनमें इन्द्रधनुष नहीं दिखलाई पड़ते। इस वैज्ञानिक तथ्य तथा निरीक्षणचातुरी का प्रत्यक्ष वर्णन कालिदास ने इस पद्य में किया है—

सीकर-व्यतिकरं मरीचिभिर्दूरयत्यवनते विवस्वति।
इन्द्र-चाप-परिवेषशून्यतां निर्झरास्तव पितुर्व्रजन्त्यमी॥
(कुमार० ८।३१)

किन्तु झरनों में इन्द्रधनुष के न दिखलाई पड़ने पर भी तालाबों के जल में लटकते हुए सूर्य की समतल कान्ति पड़ने से ऐसा जान पड़ता है मानो उनके ऊपर सोने का पुल बना हो—

पश्य पश्चिम-दिगन्तलम्बिना निर्मितं मितकथे विवस्वता।
लब्धया प्रतिमया सरोऽम्भसां तापनीयमिव सेतु-बन्धनम्॥
(कुमार० ८।३४)

ये उक्तियाँ रूढि का अनुसरण करनेवाले कवि की नहीं हो सकतीं, वरन् ये उक्तियाँ उस कवि की हैं जो मुग्ध दृष्टि से प्रकृति की शोभा देखते हुए सब कुछ भूल जाता है। इस तथ्य का प्रत्यक्ष दृष्टान्त हिमालय का वर्णन है। संस्कृत कवियों में कालिदास को हिमालय सबसे अधिक प्यारा था और गाढ परिचय

होने से उनके वर्णन नितान्त तथ्यमण्डित, वैज्ञानिक तथा शोभन हैं। गुहा के भीतर कामकेलि में निरत किन्नरमिथुन के लिए जलद का तिरस्करिणी होना, वृष्टि से उद्वेलित ऋषिजनों का धूपवाले शिखर का आश्रय लेना, हाथियों के द्वारा विघट्टित सरल द्रुमों (चीड़ के पेड़) से बहनेवाले दूध की सुगन्ध का हवा के झोंके से सर्वत्र फैलना, जलवृष्टि का करका के रूप में परिवर्तन होना—आदि हिमालय प्रदेश की मौलिक विशेषताएँ कवि की सूक्ष्म अवलोकन-शक्ति के जागरूक दृष्टान्त हैं।

कालिदास के प्रकृति-वर्णन में अनेक वैशिष्ट्य हैं—कवि मानव-सौन्दर्य की तीव्रता तथा यथार्थता के अभिव्यंजन के निमित्त प्रकृति का आश्रय लेता है, तो कहीं वह प्रकृति के ऊपर मानव भावों तथा व्यापारों का ललित आरोप करता है। कहीं वह प्रकृति और मानव के बीच परस्पर गाढ मैत्री, सहज सहानुभूति तथा रमणीय रागात्मक वृत्ति का सम्बन्ध जोड़ता है, तो कहीं प्रकृति को भगवान् की ललित लीला का निकेतन मानकर आनन्द से विभोर हो जाता है। निःसन्देह कालिदास प्रकृति के अन्तस्थल के सूक्ष्म पारखी महाकवि हैं, जिनकी दृष्टि प्रकृति के सौम्य रूप, माधुर्यमय प्रवृत्ति, स्निग्ध सौन्दर्य के ऊपर रीझती है तथा उग्रता और भीषणता से सदा पराङ्मुख रहती है।

कालिदास का दर्शन

प्रतिभा का वह प्रकाशपुञ्ज

विमल प्रतिभा का धनी था वह महाकवि। कभी वह प्रतिभा शुभ्रसलिला शिप्रा के तरल तरङ्गों पर बहते और अठखेलियाँ करते हंसदम्पती के साथ कल्लोलें करती, तो कभी वह हिमाच्छादित हिमालय की गुफा में किन्नर मिथुनों की ललित लीलाओं का साक्षात्कार करती। कभी वह प्रयाग के गंगा-जमुना की स्पृहणीय संगमस्थली में अपने आराध्य देव भूतभावन के कृष्णोरगभूषण भस्माङ्गरागा तनु की दिव्य छटा का निरीक्षण करती, तो कभी वह अगम्य अलका के सुवर्णबालुकाराशि में गूढमणि क्रीडा करने वाली यक्षकन्याओं के सात्त्विक सौन्दर्य पर रीझ उठती। कभी वह वाल्मीकि के आश्रम में परित्यक्ता विदेहनन्दिनी सीता के हार्दिक भावों के चित्रण में व्यस्त होती, तो कभी वह पञ्जरस्थित मधुरवचना सारिका से अपने विप्रयुक्त प्रियतम की स्मृति को पूछने वाली

यक्षपत्नी की भावभँगी के निभालन में निमग्न रहती। धन्य है कालिदास की यह अलोकसामान्य दिव्य प्रतिभा, जिसका मधुर विलास आज भी रसिकजनों के हृदय में मेघदूत के ललित शृंगार की आभा बिखेरता है और जिसका विमल विन्यास आज भी शाकुन्तल के अभिनव अभिनय में अपनी अपूर्वता बरसाता है। उस प्रकाश स्तम्भ से गत बीस शताब्दियों में प्रभा फूटती रही है और भारतीय कविमानसों को स्निग्ध बनाती रही है। आज तो समस्त विश्व ही कालिदास की प्रतिभा का पुजारी है जिसकी अर्चना में वह श्रद्धा का सुमन चढ़ा रहा है और जिसके सत्कार में वह पलकों के पाँवड़े बिछा रहा है।

लक्ष्मी का वह लाडिला

उज्जयिनी के राज्यसिंहासन पर आरूढ होने वाले सम्राट् विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नों में सर्वश्रेष्ठ था वह कालिदास, जिसके काव्य की प्रभा दो सहस्र वर्षों से अधिक बीत जाने पर भी किञ्चिन्मात्र भी धूमिल नहीं हुई है, प्रत्युत समय के प्रवाह से आलोचना की आग में सन्तप्त होकर वह आज अपनी प्रखरता से विश्व के मनीषी जनों को चकाचौंध कर रही है। सम्राट विक्रमादित्य के द्वारा संभावित, समादृत तथा संपूजित वह कवि लक्ष्मी का भी लाडिला था। वह यूनान के अथवा पाश्चात्य जगत् के सर्वश्रेष्ठ महाकवि होमर से सौभाग्य की तुलना में कहीं अधिक भाग्यशाली था—उस होमर से जो द्वारे-द्वारे अपनी कविता को गा-गाकर जीविका उपार्जन करता था और जिसे अपने सिर को ढक कर सोने के लिए स्थान मिलना भी दूभर था, भले ही मरने के बाद उसकी जन्मभूमि होने का गौरव लूटने के लिए सात नगरियाँ आपस में संघर्ष करती थीं। किसी पाश्चात्य कवि के शब्दों में—

> Seven cities warred for Homer, being dead
> Who, living, had no roof to shroud his head.

कालिदास के नाटकों को राजकीय रंगशाल में अभिरूपभूयिष्ठा विद्वज्जन-मण्डिता परिषद् के सामने सम्राट् के आश्रय में अभिनीत होने का गौरव प्राप्त था और वह इस विषय में अंग्रेजी के उस महनीय महाकवि शेक्सपीअर से कहीं अधिक सौभाग्यसम्पन्न था जिसे अभिनय करने वाली नाट्यमण्डली द्वारा अपने नाटकों के अभिनय से जीविका उपार्जन करना पड़ता था और जो स्वयं ही नट बनकर रंगभूमि के ऊपर अभिनेता के रूप में अवतीर्ण होता था।

भारतीय परम्परा का आलोचक वर्ग महाकवि कालिदास को भारतीय सभ्यता और संस्कृति का प्रतीक मानता है। इस विशाल देश के जनमानस में राष्ट्रीय चेतना फूंकने वाला राष्ट्रकवि मानता है। इस विशाल तथा विराट् देश की दिव्य सम्पत्तिमयी संस्कृति कालिदास के काव्यों में बोलती है तथा उनके नाटकों में अपना सुभग स्निग्ध लास्य प्रस्तुत कर जनमानस के रंगमंच पर अपना अभिनय दिखलाती है।

भारतीय कवियों के मुकुटमणि कालिदास धर्म तथा दर्शन के मूल तत्त्वों का प्रतिपादन अपने ग्रन्थों में प्रसंगतः करते हैं और वे प्रसंग इतने अधिक हैं कि उनके आधार पर कालिदास के एतद्विषयक मन्तव्यों की अवगति भली-भाँति हो सकती है।

सामान्यतः धर्म तथा रिलिजन को समानार्थक मानने की प्रथा सी चल पड़ी है, परन्तु तत्त्वतः धर्म रिलिजन से भिन्न वस्तु है। रिलिजन का यथार्थ पर्याय 'मजहब' है, न कि धर्म। किसी देश-विशेष में किसी विशिष्ट व्यक्ति द्वारा सामयिक उपयोगिता की दृष्टि से एक दूसरे को विशिष्ट समाज के रूप में बाँधने के लिए जो आचार-प्रधान नियम बनाये जाते हैं वह होता है 'रिलिजन'। धर्म उससे नितान्त भिन्न है। इस समस्त विश्व को प्रतिष्ठा या स्थिति देनेवाले, धारण करने वाले जो ईश्वर-निर्मित सिद्धान्त हैं वे धर्म के अन्तर्गत आते हैं। कालिदास ने परम तत्त्व के लिए 'शिव' या 'स्थाणु' शब्द का बहुशः प्रयोग किया है, परन्तु इतने मात्र से वे संकुचित अर्थ में 'शैव' नहीं माने जा सकते। कुमारसम्भव के द्वितीय सर्ग में (श्लोक ३–१५) ब्रह्मा की, रघुवंश के दशम सर्ग में (श्लोक १६-३२) विष्णु की, कुमारसम्भव के षष्ठ सर्ग में शिव की स्तुतियां एक ही मौलिक तथ्य का उन्मीलन करती हैं। उनमें किसी देवविशेष पर आस्था या निष्ठा का प्रश्न ही नहीं उठता। इस दृष्टि से कालिदास उतनी ही मात्रा में वैष्णव हैं, जितनी मात्रा में वे शैव हैं। यहाँ किसी संकुचित सम्प्रदाय के अन्तर्भुक्त होने की कल्पना के लिए कोई स्थान ही नहीं है। अद्वैत तत्त्व के उपासक कालिदास शैव भी हैं और वैष्णव भी। उनकी दृष्टि में शिव तथा विष्णु में न किसी प्रकार का भेद है और न पार्थक्य।

भगवत्तत्त्व का वह द्रष्टा

वह मूल तत्त्व सृष्टि से पूर्व एक ही रूप में रहने वाला (केवलात्मा) है परन्तु सृष्टि काल में सत्त्व, रज्, तथा तम इन तीनों गुणों के क्रमशः आश्रयण से वही विष्णु, ब्रह्मा तथा महेश्वर की आख्या धारण कर भेद को प्राप्त करता है

(कुमार० २।४)। उस परमात्मा में समस्त विरोधों का परिहार हो जाता है—इस तत्त्व को कालिदास ने अनेक बार अनेक दृष्टियों से प्रतिपादित किया है। रघुवंश में वे कहते हैं कि हे भगवन् आप इतने बड़े हैं कि कोई भी आपको माप नहीं सकता, परन्तु आपने सब लोकों को माप डाला है। आपकी स्वतः कोई इच्छा नहीं है, परन्तु आप सबकी इच्छायें पूर्ण करते हैं। इस प्रकार भगवान् मितलोक होकर भी अमेय हैं, प्रार्थनावह होकर भी अनर्थी हैं, जिष्णु (जयनशील) होकर भी अजित हैं तथा व्यक्त जगत् का कारण होकर भी स्वयं अव्यक्त हैं—

अमेयो मितलोकस्त्वमनर्थी प्रार्थनावहः।
अजितो जिष्णुरत्यन्तम् अव्यक्तो व्यक्तिकारणम् ॥

(रघु० १०।१८)

इसी प्रकार भगवान् सबके हृदयस्थ होकर भी अनासन्न (दूर) हैं; कामनाहीन होने पर भी नरनारायण के रूप में तपस्वी हैं, दयालु होने पर भी अनघस्पृष्ट हैं तथा पुराण पुरुष होने पर भी आप जरारहित हैं (वही १९ श्लोक)। भगवान् के यथार्थ स्वरूप का परिचय जगत् में किसे प्राप्त हो सकता है ? क्योंकि वे अजन्मा होकर धर्म की स्थापना के निमित्त जन्म ग्रहण करते हैं। वे कर्म-रहित होकर भी शत्रुओं का नाश करते हैं। योगनिद्रा में सोते रहते भी वे जागते रहते हैं। ऐसे दुरूह तत्त्व के याथार्थ्य को जान ही कौन सकता है ?

अजस्य गृह्णतो जन्म निरीहस्य हतद्विषः।
स्वपतो जागरूकस्य याथार्थ्यं वेद कस्तव ॥

(रघु० १०।२४)

विरुद्धधर्माश्रयत्व ही भगवत्ता की परम प्रत्यभिज्ञा है। जगद्योनित्व के साथ अयोनित्व का, जगदन्तकत्व के साथ निरन्तकत्व का, जगदादित्व के संग अनादित्व का तथा जगदीशत्व के साथ निरीशत्व का सहवास भगवत्ता की परम पहिचान है (कुमारसंभव २।९)।

भगवत्ता की इतर पहिचान उसकी स्वातन्त्र्य शक्ति की सत्ता है। भगवान् स्वयं अपने को अपने ही द्वारा जानता है; अपने को अपने ही आप उत्पन्न करता है; अपना काम पूरा कर लेने पर वह अपने में अपने ही आप लीन हो जाता है। यह है अद्वैतशालिनी स्वातन्त्र्यशक्ति की विलासमाधुरी। कालिदास के सुबोध शब्दों में—

आत्मानमात्मना वेत्सि सृजस्यात्मानमात्मना ।
आत्मना कृतिना च त्वम् आत्मन्येव प्रलीयसे ॥
(कुमार० २।१०)

कालिदास ईश्वरतत्त्व की मीमांसा के अवसर पर सांख्य तथा उपनिषद् के द्वारा विशेष प्रभावित दृष्टिगोचर होते हैं। भगवान् को कालिदास जब पुरुष को अर्थ में प्रवृत्त करने वाली प्रकृति और उस प्रकृति के द्रष्टा उदासीन पुरुष भी मानते हैं तब वे सांख्य शैली का आश्रयण करते हैं (कुमार० २।१३)। 'वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषम्' वाली विक्रमोर्वशीय की नान्दी में वे 'वेदान्त' शब्द का प्रयोग उपनिषद् के अर्थ में करते हैं। उनका कथन है कि उपनिषदों में आकाश तथा पृथ्वी को व्याप्त कर स्थित होनेवाला अद्वितीय पुरुष, 'ईश्वर' शब्द के द्वारा अभिधीयमान तथा प्राणायाम के द्वारा मुमुक्षु जनों के हृदय के भीतर मृग्यमाण—तीनों प्रकार से वह परमतत्त्व अपनी अभिव्यक्ति पाता है (विक्रमो० १।१)।

कालिदास पक्के अद्वैतवादी हैं—अद्वैततत्त्व के उपासक। तभी तो उस परम सत्ता के लिए हव्य तथा होता, भोज्य तथा भोक्ता, वेद्य तथा वेदिता, ध्याता तथा ध्येय शब्दों का एक साथ प्रयोग करने से वे कभी नहीं चूकते। आगमों के द्वारा प्रतिपादित सिद्धिप्राप्ति के मार्ग भले ही भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं, परन्तु ये समस्त मार्ग तुम्हारे ही पास तक पहुंचते हैं, जिस प्रकार गंगा का जल समुद्र में। इस प्रकार भगवान् को ही समग्र सिद्धिमार्गों का पर्यवसान मानने वाला कवि अद्वैततत्त्व का पक्का अनुयायी है, इसमें दो मत नहीं हो सकते—

बहुधाप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः ।
त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे ॥
(रघु० १०।२६)

कालिदास के इस तथ्य की प्रतिध्वनि अनेक काव्यों में गूंजती मिलती है—जैन कवि सिद्धसेन दिवाकर की वाणी में वह प्रस्फुटित होती है—

उदधाविव सर्वसिन्धवः
समुदीर्णास्त्वयि नाथ दृष्टयः ।
न च तासु भवान् प्रदृश्यते
प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः ॥
(सिद्धसेन दिवाकर)

शैव तान्त्रिक परममाहेश्वराचार्य अभिनवगुप्त के इस पद्य में वह अभिव्यक्ति पा रही है—

तीर्थक्रियाव्यसनिनः स्वमनीषिकाभि-
रुत्प्रेक्ष्य तत्त्वमिति यद् यदमी वदन्ति।
तत् तत् त्वमेव भवतोऽस्ति न किञ्चदन्यत्
संज्ञासु केवलमयं विदुषां विवादः॥
(अभिनव गुप्त)

अंग्रेजी कवि लार्ड टेनिसन ने अपनी कविता में इसी भाव को प्रकट किया है—

Our little systems have their way
They have their way and cease to be
They are but broken lights of Thee
And Thou, O Lord, art more than they
(Tennyson)।

साधना का वह विचारक

कालिदास ने अध्यात्म के साधनपक्ष का बड़ा मनोरम विन्यास किया है। कालिदास भक्ति और योग को भगवत्प्राप्ति का मुख्य साधन मानते हैं (स स्थाणुः स्थिरभक्तियोगसुलभो निःश्रेयसायास्तु वः)। योग की प्रक्रिया से, अभ्यास से संयत मन के द्वारा योगिजन हृदय में स्थित ज्योतिर्मय भगवत्तत्त्व का दर्शन करते हैं और यह उनकी विमुक्ति—विशिष्टमुक्ति— क्लेशों की निवृत्ति तथा आनन्द की उपलब्धि का मुख्य साधन है (रघु १०.२३)। योग पर इतनी निष्ठा उसकी उपयुक्तता से प्रयुक्त तो है ही साथ ही साथ इसका एक विशिष्ट हेतु है कालिदास के आराध्य शिवशंकर की योगी रूप में स्थिति। कुमारसम्भव के तृतीय सर्ग में शंकर की समाधि का विशद वर्णन (३।४५-५०) कालिदास के व्यावहारिक योग के गम्भीर ज्ञान का सद्यः परिचायक है। शिव का पर्यङ्कबन्ध (वीरासन) में आसन मार कर बैठना, ऋजु तथा आयत पूर्वकाय की स्थिति, दोनों कन्धों को झुकाना, दोनों हाथों को उत्तान कर गोदी में रखना, वीरासन में बैठे हुए योगी का यह शाब्दिक विशद चित्र नेत्रों के सामने झूलने लगता है। अन्तिम प्रक्रिया का संकेत इस सुभग श्लोक में सुलभ है—

मनो नवद्वारनिसिद्धवृत्ति
हृदि व्यवस्थाप्य समाधिवश्यम् ।
यमक्षरं क्षेत्रविदो विदुस्तम्
आत्मानमात्मन्यवलोकयन्तम् ॥
(कुमार० ३।५०)

कालिदास ने इस स्थिति की उपमा निर्वातनिष्कम्प प्रदीप से दी है—"अन्तश्चराणां मरुतां निरोधाद् निर्वातनिष्कम्पमिव प्रदीपम्" (कुमार० ३।४८) गीता भी यही कहती है—"यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता" (६।१९) ।

मोक्ष के निमित्त साधना की त्रिधा स्थिति कालिदास को अभीष्ट है—(क) वीतरागिता, अर्थात् रागद्वेष से एकान्ततः हीनता; (ख) भगवान् में चित्त का आवेश, अर्थात् भगवान् में चित्त का सर्वथा विलय (आवेशित चित्त) तथा (ग) कर्मों का भगवान् में समर्पण, अर्थात् कर्मों के फल को भगवान् को समर्पण करना जिससे वे कर्म बन्धन रूप में प्रतिष्ठित न हो सकें (त्वत्-समर्पित कर्म)—

त्वय्यावेशितचित्तानां त्वत्-समर्पितकर्मणाम् ।
गतिस्त्वं वीतरागाणाम् अभूयः सन्निवृत्तये ॥
(रघु० १०।२७)

भगवान् कामना विरहित हैं । संसार में ऐसी कोई प्राप्तियोग्य (अवाप्तव्य) वस्तु नहीं है जो भगवान् को प्राप्त नहीं है । ऐसी दशा में भगवान् के इस भूतल पर जन्म धारण करने का तथा नाना प्रकार के कर्मों के सम्पादन का हेतु क्या है ? कालिदास की दृष्टि में वह प्रधान हेतु लोकानुग्रह ही है । जगत् के जीवों पर अनुग्रह के निमित्त ही भगवान् जन्म लेते हैं तथा कर्म करते हैं । ऐसी है भागवती कृपा—

अनवाप्तमवाप्तव्यं न ते किञ्चन विद्यते ।
लोकानुग्रह एवैको हेतुस्ते जन्मकर्मणोः ॥
(रघु० १०।३१)

इस श्लोक में भगवद्गीता के उपदेश की स्पष्ट प्रतिध्वनि है—'नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि' (गीता ३।२२) । कालिदास का

'लोकानुग्रह' गीता (३।२०) के 'लोकसंग्रह' का ही प्रतिरूप है। श्रीमद्-भागवत की रासपञ्चाध्यायी का यह गूढार्थक पद्य कालिदास के ही मत का सुभग विन्यास करता है—

नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप।
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः॥

(भाग० १०।२९।१४)

कालिदास ने एक ही श्लोक में भक्ति के उपकरणों की ओर संकेत कर दिया है—

केवलं स्मरणेनैव पुनासि पुरुषं यतः।
अनेन वृत्तयः शेषा निवेदितफलास्त्वयि॥

(रघु० १०।२९)

भगवान् के प्रति भक्ति के उपकरणों में यहाँ केवल स्मरण का ही शब्दतः निर्देश है और मनन, निदिध्यासन, दर्शन, चरणस्पर्श, वाणीश्रवण आदि समस्त वृत्तियाँ 'शेष' शब्द के द्वारा उल्लिखित हैं। कालिदास इस प्रकार भगवत्प्राप्ति के साधनों में ज्ञान, योग तथा भक्ति—इस साधनत्रिवेणी में अवगाहन को जीवन का सर्वस्व मानते हैं।

दिव्य सन्देश का वाहक

कालिदास भारतीय संस्कृति के सन्देश वाहक हैं। उनकी रचनाओं में भारतीय संस्कृति अपनी निर्मल अभिव्यक्ति को पाकर अपने आप को धन्य मानती है। त्यागाश्रित भोग ही भारतीय संस्कृति का अनुपम सन्देश है। वैदिक संस्कृति श्रमण-संस्कृति के समान न तो केवल त्याग को जीवन का लक्ष्य मानती है और न भौतिक संस्कृति के सदृश केवल भोग को जीवन का आदर्श समझती है। वह त्याग और भोग इन दोनों के मञ्जुल सामञ्जस्य को ही जीवन का सत्य मानती है। 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा.' यही उपनिषद्वाक्य वैदिक संस्कृति का मेरुदण्ड है और कालिदास इसी संस्कृति के उद्बोधक प्रतिनिधि कवि हैं। जीवन में विशुद्ध भोग के पक्षपाती होते हुए भी वे त्याग को ही पर्यवसान मानते हैं। वे शब्दतः इस तथ्य के प्रतिपादन की अपेक्षा अपने उद्भावित पात्रों के रूप में इसकी गूढ अभिव्यक्ति करते हैं। 'अभिज्ञानशकुन्तल' का नायक दुष्यन्त, जो छिपे-छिपे चोर के समान शान्त आश्रम में प्रवेश करता है, कलुषित

कामवासना का प्रतिनिध है, तो डंके की चोट अपने आगमन की सूचना देने वाले, भौतिक चाकचिक्य से दूर रहने वाले दुष्ट वासस्-कपड़े वाले दुर्वासा आध्यात्मिकता के प्रतिक हैं। शकुन्तला स्वयं वैदिक संस्कृति की प्रतिनिधि है। उसके सामने दोनों जने दो तरह से आते हैं—गुप्त रूप से छिपे-छिपे दुष्यन्त (भौतिकता) तथा डंके की चोट 'अयमयं भोः' की उच्चैः गर्जना करने वाले दुर्वासा (अध्यात्मिकता)। शकुन्तला के सामने विषम समस्या है कि किसे स्वीकार किया जाय ? राजकीय चाकचिक्य से स्निग्ध दुष्तन्त को अथवा दुर्वासस् से मण्डित वल्कधारी दुर्वासा को ? शकुन्तला भौतिक चाकचिक्य से विमुग्ध होकर दुष्यन्त का वरण करती है और दुर्वासा का वारण करती है। सद्यः पतन ही उसका प्रत्यक्ष फल है। भौतिक जीवन का आश्रयण उसे मुनिशाप के द्वारा पतन में डाल देता है, जिससे अन्ततोगत्वा उद्धार करता है मारीचाश्रम में तीव्र तपस्या का साधन, आध्यात्मिक जीवन का आश्रयण। तीव्र सन्तापों तथा संघर्षों से प्रताडित विश्व संस्कृति के उद्धार का एक ही उपाय है—दुर्वासा का वरण तथा दुष्यन्त का वारण। जब तक जगतीतल के मानव कालिदास के इस सन्देश पर कान नहीं देते, उसे अपने जीवन में नहीं उतारते, तब तक उनका वास्तव कल्याण नहीं हो सकता। विश्व के मानवों के लिये महाकवि कालिदास का यही सन्देश है।

कालिदास का सन्देश उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना के अन्तिम श्लोक में एक ही पद्य के रूप में प्रकट किया जा सकता है:—

> प्रवर्ततां प्रकृतिहिताय पार्थिवः सरस्वती श्रुतिमहतां महीयताम्।
> ममापि च क्षपयतु नीललोहितः पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः॥

राजा प्रजा के हित साधन में लगे। शास्त्र के अध्ययन से महत्त्वशाली विद्वानों की वाणी सर्वत्र पूजित हो। शक्तिसम्पन्न भगवान् शंकर समग्र जीवों का पुनर्जन्म दूर कर दें। इससे सुन्दर सन्देश और क्या हो सकता है ? राजा का प्रधान कार्य प्रजा का अनुरंजन है। अराजक राज्य के दुर्गुणों से मन भली-भाँति परिचित है। राजा के बिना समाज उच्छिन्न हो जायगा, परन्तु राजा का प्रधान कर्तव्य होना चाहिये समाज की रक्षा। राष्ट्र को उन्नति तथा अभ्युदय के मार्ग पर ले जानेवाले उसके विद्वजन ही होते हैं। अतः उनकी सरस्वती का पूजन तथा समादर पवित्र कार्य है। राजा क्षात्रबल का प्रतीक है तथा विद्वजन ब्राह्मतेज के प्रतिनिधि हैं। इन दोनों के परस्पर सहयोग से ही देश का सच्चा

कल्याण हो सकता है। ब्राह्मतेज तथा क्षात्रबल का सहयोग घी तथा अग्नि के समागम के समान नितान्त उपादेय और फलप्रद है—

> स बभूव दुरासदः परैर्गुरुणाथर्वविदा कृतक्रियः।
> पवनाग्निसमागमो ह्ययं सहितं ब्रह्म यदस्त्रतेजसा ॥
>
> (रघु० ८।४)

समाज की सुव्यवस्था होने पर व्यक्ति अपनी आध्यात्मिक उन्नति कर सकता है। इस प्रकार समाज तथा व्यक्ति का परस्पर अभ्युदय भारतीय संस्कृति का चरम लक्ष्य है। सम्राट् विक्रम की सभा के रत्न महाकवि कालिदास का त्याग तथा तपस्या का यह सन्देश जगती तल पर प्रत्येक प्राणी के हृदय को सदय तथा सहानुभूतिमय बनाता रहेगा।

सारांश

देवता और ब्राह्मण में भक्ति, गुरुवाक्य में अटल विश्वास, मातृरूपिणी धेनु की परिचर्या, अतिथि की इष्टपूर्ति के लिये राजा का सर्वस्वदान, लोकानुरंजन के लिये अपनी प्राणोपमा धर्मपत्नी का त्याग—कालिदास के पात्रों में सर्वत्र देदीप्यमान है। कालिदास का समाज श्रुति-स्मृति की पद्धति पर निर्मित समाज है। यह त्याग के लिये धन इकट्ठा करता है, सत्य के लिये परिमित भाषण करता है, यश के लिये विजय की कामना रखता है तथा सन्तान की इच्छा के लिये गृहस्थी जमाता है। वे धर्म के अविरोधी काम के पक्षपाती थे। जो काम हमारे कर्तव्यों के साथ संघर्ष मचाता है, वह नितान्त हेय है। हमारे लिये कालिदास का एक महान् सन्देश है जन तीन तकरादि शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है— त्याग, तपस्या और तपोवन। तपोवन में पली सभ्यता ही मानवों का सच्चा मंगल कर सकती है। क्षुद्र स्वार्थ का निवारण त्याग से होता है और सच्ची उन्नति तपस्या के बल पर हो सकती है। मानव जीवन का उद्देश्य संसार में आकर विषयों का दास बनना नहीं है; प्रत्युत भगवान् की सच्ची भक्ति कर तथा योग का साधन कर आत्मा के दर्शन में ही है। इस प्रकार कालिदास के महाकाव्य कोमल कला की दृष्टि से ही रोचक नहीं हैं, परन्तु आध्यात्मिकता की दृष्टि से भी उपादेय हैं। इसका मूल कारण यही है कि कालिदास भारतीय कला के ही सर्वश्रेष्ठ-कलाकार नहीं हैं; बल्कि भारतीय संस्कृति के भी मर्मज्ञ व्याख्याता हैं।

———

२. अश्वघोष

जीवनी—

अश्वघोष के निश्चित जीवन-चरित का अभी तक हमें निःसन्देह परिचय नहीं है। चीनी परम्परा से प्राप्त उनके जीवनचरित में विद्वानों को आज भी थोड़ी-सी सन्देह-दृष्टि बनी हुई है। सौन्दरनन्द की पुष्पिका से उनके परिचय की एक धुँधली रेखा हमारे सामने खिंच जाती है—वे साकेतक (अयोध्या के निवासी) थे, सुवर्णाक्षी[1] के पुत्र थे तथा महाकवि होने के अतिरिक्त वे 'महावादी' बड़े तार्किक विद्वान् थे। उनके काव्यों की अन्तरंग परीक्षा से स्पष्ट है कि वे ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न, ब्राह्मण तथा वैदिक साहित्य के कुशल पंडित, माहभारत के, विशेषतया वाल्मीकीय रामायण के मर्मज्ञ विद्वान् थे। उनका 'साकेतक' होना उनके रामायण की विशेष रुचि, मार्मिक अध्ययन तथा व्यापक प्रभाव का सूचक है। चीनी परम्परायें उन्हें कनिष्क के साथ अकाट्य-रूप से सम्बद्ध बतलाती हैं। कहा जाता है कि महाराज कनिष्क ने पाटलीपुत्र पर आक्रमण कर जब तत्कालीन मगध-नरेश को अपनी विपुल बल-सम्पत्ति के सहारे पदाक्रान्त किया, तब उन्हें केवल दो शर्तों पर छोड़ दिया। पहली थी भगवान् तथागत के व्यवहृत भिक्षा-पात्र का ग्रहण तथा दूसरी थी उनके राज-कवि अश्वघोष का पुरुषपुर में निवास की प्रतिज्ञा। राजा ने इन दोनों शर्तों को मानकर प्रबल शत्रु के चपेटाघात से अपने को तथा अपने राज्य को बचाया। कनिष्क द्वारा आहूत चतुर्थ बौद्ध संगीति की प्रतिष्ठा तथा अध्यक्षता का गौरव अश्वघोष को ही प्रदान किया जाता है, परन्तु अभी तक यह निःसदिग्ध निर्णय नहीं हुआ है कि इस संगीति का अध्यक्षपद महास्थविर पार्श्व ने ग्रहण किया था अथवा महावादी अश्वघोष ने। वैभाषिक सम्प्रदाय के प्रमाण ग्रन्थ 'विभाषा' नामक भाष्यग्रन्थ के निर्माण के कारण यह संगीति बौद्ध धर्म के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगी। अश्वघोष की धार्मिक भावना सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय की ही थी, इसका संकेत 'विभाषा' की रचना में प्रयोजक होने से भी हमें मिलता है। कनिष्क के साथ सम्बद्ध मातृचेट कवि के ऊपर अश्वघोष की कविता का विपुल प्रभाव होने के कारण भी अश्वघोष को कनिष्क के समकालीन अथवा किंचित् पूर्ववर्ती भी मानने में किसी प्रकारकी

---

१. आर्यसुवर्णाक्षीपुत्रस्य साकेतकस्य भिक्षोराचार्य-भदन्ताश्वघोषस्य महाकवेर्महावादिनः कृतिरियम्—सौन्दरनन्द की पुष्पिका।

ऐतिहासिक विप्रतिपत्ति नहीं है। अतः अश्वघोष का समय प्रथम शताब्दी के पूर्वार्ध में (१–५० ई०) सामान्यतः माना जाता है।

ग्रन्थ

अश्वघोष की सन्देहहीन साहित्यिक रचनायें मुख्यतः तीन ही हैं—(क) बुद्धचरित, (ख) सौन्दरनन्द तथा (ग) शारिपुत्रप्रकरण। इनमें प्रथम दो महाकाव्य हैं तथा अन्तिम नाटक है। 'बुद्धचरित' तथागत के निर्मल सात्त्विक जीवन का सरल तथा सरस विवरण है, तो 'सौन्दरनन्द' गौतमबुद्ध के ही सौतेले अनुज सुन्दरनन्द के प्रव्रज्या-ग्रहण का वर्णन है। 'शारिपुत्रप्रकरण' भी बुद्ध के पट्टशिष्य शारिपुत्र के बौद्ध धर्म में दीक्षित होने का नाटकीय विवरण है। इस प्रकार इन तीनों ग्रन्थों की प्रेरणा का एक ही मूल स्रोत है—तथागत के जीवन तथा उनके धर्मतत्त्वों को सरस तथा हृदयावर्जक शैली में आस्तिक जनता के हृदय तक पहुँचाने की भव्य तथा स्तुत्य भावना। इन तीनों में केवल सौन्दरनन्द ही पूरे रूप में मूलसंस्कृत में उपलब्ध है। बुद्धचरित का केवल आधा भाग ही मूल संस्कृत में मिलता है और शारिपुत्र-प्रकरण के कतिपय अधूरे पृष्ठ ही।

बुद्धचरित

अश्वघोष का कीर्तिस्तम्भ है बुद्धचरित, जो दुर्भाग्यवश मूल रूप में केवल आधा ही मिलता है। इसके चीनी तथा तिब्बती अनुवाद में इस महाकाव्य के पूरे २८ सर्ग मिलते हैं, परन्तु संस्कृत में दूसरे सर्ग से लेकर १३ वें सर्ग तक ही ग्रन्थ उपलब्ध होता है। आदिम सर्ग का तीन चौथाई भाग तथा १४ वें सर्ग का केवल एक चौथाई भाग मिलकर ग्रन्थ के मूल रूप की इतिश्री करते हैं। महाकाव्य का आरम्भ होता है बुद्ध के गर्भाधान से और अन्त होता है अस्थिविभाजन से उत्पन्न कलह, प्रथम संगीति तथा अशोकवर्धन के राज्य से। इसका अनुवाद धर्मरक्ष, धर्मक्षेत्र या धर्माक्षर नामक किसी भारतीय विद्वान् ने ही पंचमशतक के आरम्भ में (४१४-४२१ ई०) चीनी भाषा में किया था। तिब्बती अनुवाद नवम शतक से पूर्ववर्ती नहीं है। इस प्रबन्ध-काव्य की कथा को बुद्ध-जन्म से प्रारम्भ कर क्रमशः अन्तःपुर-विहार, संवेग-उत्पत्ति, स्त्रीनिवारण, अभिनिष्क्रमण, छन्दकविसर्जन, तपोवन प्रवेश, अन्तःपुर-विलाप—आदि का वर्णन करता हुआ कवि बुद्धत्वप्राप्ति तक हमें पहुँचा देता है। इस प्रकार अश्वघोष ने भगवान् बुद्ध के संघर्षमय जीवन की नाना घटनाओं का बड़ा ही जीता-जागता उज्ज्वल रुचिकर चित्र अंकित किया है।

सौन्दरनन्द

१८ सर्गों में निबद्ध सौन्दरनन्द यौवन-सुलभ उद्दाम काम तथा धर्म के प्रति जागरित प्रेम के विषम संघर्ष का भव्य भाषा में चित्रण करनेवाला एक अद्भुत काव्य है, जो काव्यसुलभ गुणों की दृष्टि में बुद्ध-चरित की रुक्षता से कहीं अधिक स्निग्ध, सरस तथा सुन्दर है। इस काव्य की कथा बुद्ध के सौतेले भाई, सौन्दर्य की पूर्ण प्रतिमा सुन्दरनन्द के गृहत्याग, अपनी प्रियतमा सुन्दरी के मोहभंग तथा प्रव्रज्याग्रहण से सम्बन्ध रखती है। नन्द भोगविलास में आकण्ठमग्न एक सुन्दर राजकुमार है तथा उसकी पत्नी सुन्दरी नितान्त पतिव्रता सुन्दरी है। दोनों का सुखमय यौवन बीत रहा था शुद्धोदन के भव्य प्रसाद में कि तथागत की दृष्टि उन पर पड़ी। उन्होंने अपने भाई नन्द के जीवन को मङ्गलमय तथा कल्याणपूर्ण बनाने के लिये उन्हें प्रव्रज्या-ग्रहण करने के लिये बाध्य किया। भोग की माधुरी में आसक्त नन्द जीवन के सुखों को कथमपि छोड़ना नहीं चाहता, परन्तु बड़े ही कौशल से तथा प्रलोभन से वह प्रव्रज्या-मार्ग पर अन्ततोगत्वा बाध्य किया जाता है। उसी के हार्दिक भावना की, भोग-वासना के विपुल संघर्ष की नितान्त सरस अभिव्यक्ति सौन्दरनन्द में हमें मिलती है। नन्द तथा सुन्दरी की मूक वेदना के चित्रण में अश्वघोष को जितनी सफलता मिली है उतनी ही उसे बुद्धधर्म के उपदेशों को सुन्दर भाषा में अंकित करने में भी। इस काव्य की तुलना में भारी-भरकम होने पर भी बुद्धचरित हृदय के भावों के वर्णन में काम तथा धर्म के परस्पर वैषम्यमण्डित भीषण संघर्ष के चित्रण में, बौद्धधर्म के आचार-प्रधान उपदेशों के हृदयावर्जक विवरण में निःसन्देह न्यून है। इसीलिए बुद्धचरित कवि की प्राथमिक रचना प्रतीत होता है[1]। सुन्दरनन्द में अश्वघोष ने रच-पच कर अपना काव्यकौशल दिखलाया है। विषय की विशिष्टता के कारण भी उसे कोमल भावनाओं की अभिव्यक्ति का तथा धार्मिक उपदेशों के पूर्ण विवरण देने का अच्छा अवसर यहाँ प्राप्त होता है। आलोचक की दृष्टि में सौन्दरनन्द विषय की गम्भीरता तथा कोमल काव्य-भावना के अंकन में बुद्धिचरित की अपेक्षा कहीं अधिक सरस तथा सफल काव्य है।

---

१. द्रष्टव्य डाक्टर कीथ-संस्कृत ड्रामा, पृ० १३०।

शारिपुत्र-प्रकरण

शारिपुत्र प्रकरण नव अंकों में विरचित एक महनीय प्रकरण था, जिसमें शारिपुत्र की बौद्धधर्म में दीक्षा का प्रसंग नाटकबद्ध किया गया था। इन दोनों ग्रन्थों का रचना-ऐक्य अन्तरंग परीक्षा पर भी आधारित है। इनमें भावों, विचारों तथा शब्दों का पारस्परिक विनिमय यत्र-तत्र स्पष्टतया लक्षित होता है। उदाहरणार्थ—बुद्धचरित ११।११,१२ का भावसाम्य सौन्दरनन्द के ११।३२,३७ पद्यों के साथ स्फुटतया लक्षित होता है। किसी प्रतीक नाटक तथा सामाजिक नाटक के अंश इसी प्रकरण के हस्तलिखित प्रति के साथ ही उपलब्ध होते हैं, इनके अश्वघोषकृत होने में पर्याप्त मतभेद है। डा० कीथ इन दोनों नाट्यांशों को अश्वघोष की ही विशुद्ध रचना स्वीकार करते हैं, परन्तु डा० जानस्टन प्रतीक नाटक के ही पक्ष में हैं, दूसरे को वे भिन्नकर्तृक ही बतलाते हैं।[1]

अश्वघोष के एक नवीन नाटक का परिचय अभि मिला है। इस नाटक का नाम 'राष्ट्रपाल' है। इसका परिचय जैन न्याय ग्रन्थों में दिये गये उद्धरण से चलता है, अकलङ्क' ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'न्याय-विनिश्चय' में धर्मकीर्ति के मतों की परीक्षा की है तथा उनका खण्डन कर अपने मत की प्रतिष्ठा की है। 'वादिराज सूरि' ने इसके ऊपर बड़ा ही पाण्डित्यपूर्ण व्याख्यान लिखा है, जो न्याय-विनिश्चय-विवरण के नाम से अभी प्रकाशित हुआ है।

समीक्षण

अश्वघोष की कविता में स्वाभाविकता का साम्राज्य है। कवि एक विशेष उद्देश्य से तत्त्वज्ञान से हटकर कोमल काव्यकला का आश्रय लेता है और इस कार्य में वह सर्वथा सफल है। भावों के नैसर्गिक प्रवाह का कारण कवि के आध्यात्मिक जीवन से नितान्त सम्बद्ध है। तथागत के लोकसुन्दर चरित्र के प्रति कवि की गाढ श्रद्धा है तथा संसार की अनित्यता की भावना इतनी बलवती है कि वह इन काव्यों के मार्मिक अंशों की रचना में अदम्य उत्साह तथा श्लाघनीय स्फूर्ति दिखलाता है। घटना के वर्णन में कवि का कौशल जितना जागरूक है उतनी ही श्लाघनीय है उसकी तर्कों की स्वच्छ तथा सुबोध प्रकार की विन्यासचातुरी। भावों में तीव्रता लाने के निमित्त अश्वघोष ने परिचित

---

१. द्रष्टव्य बुद्धचरित का अंगरेजी अनुवाद, भूमिका, पृ० २०–२१।

वातावरण में संगृहीत, अत एव हृदय पर सद्यः प्रभाव जमानेवाली, स्पृहणीय उपमाओं के प्रयोग करने में कुशलता दिखलाई है। धर्म का प्रचारक शास्त्र की शिक्षाओं को जनसाधारण के हृदय तक सरलता से पहुँचाने के लिए सामान्य जीवन की घटनाओं, वस्तुओं तथा पात्रों का प्रयोग तुलना के निमित्त किया करता है और अश्वघोष ने भी वही किया है। इसीलिये इनकी उपमा, दृष्टान्त तथा रूपक स-धिक प्रभावशाली बन पड़े हैं। जरारूपी यन्त्र से पीड़ित होकर मृत्यु की प्रतिक्षा करने वाले सारहीन शरीर की रस निचोड़े गये तथा जलाने के लिये सुखाये जाने वाले ऊँख से उपमा बड़ी ही प्रभावोत्पादक है।[1] सारथि के लौट आने पर कवि ने बुद्ध की माता, पिता तथा पत्नी के शोक का वर्णन बड़ी ही सरल स्वाभाविकता तथा सरसता के साथ किया है। वह मानव हृदय के गहरे अन्तस्थल पर पहुँचने की क्षमता रखता है। बुद्ध के संन्यास की घटना उनके माता, पिता तथा पत्नी के हृदय में जिन भावों का उदय करती है उसका साधु चित्रण कवि के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की शक्ति का परिचायक है। कवि का अलङ्कार-विधान रस का पोषक, भावों का उत्तेजक तथा प्रकृतार्थ का उपोद्बलक है। वज्र की आवाज सुनकर कांपनेवाले हाथी से शोकाहत शुद्धोदन की तुलना (बु० च० ८।७२) जितना औचित्यपूर्ण है, उतनी ही स्वाभाविक है बच्चे के साथ करुण क्रन्दन करनेवाले पक्षी से समता। पात्रों के औचित्य से उनके शोक तथा विलाप में भी स्पष्टतः पार्थक्य है।[2] पौराणिक बातों के प्रति इनकी सहिष्णुता की प्रवृत्ति भी बड़ी ही सुन्दर है। वे पौराणिक बातों को बौद्धों की हेय दृष्टि से कभी नहीं देखते हैं। ये उनमें आस्था तथा श्रद्धा रखते हैं।

अश्वघोष को मानव हृदय की सच्ची परख थी। सुन्दरनन्द के विरह में उसकी पत्नी सुन्दरी का वर्णन उच्चकोटि की प्रतिभा का फल है। रसों का मनोहर सन्निवेश है। शृंगार का सौन्दर्य भी है। करुण अपने उत्कट वेग से सहृदयों को द्रवीभूत करता है, परन्तु इन सबसे अधिक शान्तरस की भव्य मूर्ति

---

१. यथेक्षुरत्यन्त-रस-प्रपीडितो भुवि प्रविद्धो दहनाय शुष्यते।
तथा जरायन्त्र-निपीडिता तनुर्निपीतसारा मरणाय तिष्ठति॥
(सौ० न० ९।३१)

२. द्रष्टव्य यशोधरा का विलाप (बु० च० ८।६०-६९), माता-पिता का विलाप (वही ८।७१-८६)।

इन काव्यों में हमें आह्लादित करती है। अश्वघोष की उपमायें बड़ी सुन्दर हैं। कालिदास की छाया होने पर भी उनका सौन्दर्य कम चित्तावर्जक नहीं है। कालिदास के "न ययौ न तस्थौ" (कुमार०–५।८५) को अश्वघोष ने भी अपनाया है—

तं गौरवं बुद्धगतं चकर्ष भार्यानुरागः पुनराचकर्ष।
सोऽनिश्चयान्नापि ययौ न तस्थौ तरंस्तरंगेष्विव राजहंसः॥

(सौन्दरनन्द ४।४२)

सुन्दरनन्द का मन अपनी सुन्दरी की ओर इतना आसक्त था कि हजारों प्रयत्न करने पर भी वह संन्यासमार्ग में दृढ नहीं होता था। संन्यासी को गृह की ओर मुड़ने का अनौचित्य बताते समय अश्वघोष ने बड़ी सुन्दर कविता लिखी है। काव्यकला की दृष्टि से सौन्दरनन्द का यह अंश नितान्त उत्कृष्ट है—

कृपणं बत यूथलालसो महतो व्याधभयाद् विनिस्सृतः।
प्रविविक्षति वागुरां मृगश्चपलो गीतरवेण वञ्चितः॥

[जिस चपल मृग ने व्याध के बड़े भारी संकट से अपने को अभी दूर हटाया है, वह गीत की ध्वनि से वञ्चित होकर-फिर भी विषम जाल में फँस जाना चाहता है।]

कलभः करिणा खलूद्धृतो बहुपङ्काद् विषमान्नदीतलात्।
जलतर्षवशेन तां पुनः सरितं ग्राहवतीं तितीर्षति॥

संसार से हटकर फिर संसार में प्रवेश करने वाले पुरुष की दशा उस कलभ (हाथी का बच्चा) के समान होती है जिसे हाथी ने बहुत पंक वाली भयंकर नदी के तल से बाहर निकाला है, परन्तु जो प्यास के मारे उसी ग्राहवाली नदी को फिर पार करना चाहता है।

अश्वघोष करुण के वर्णन में भी अतीव दक्ष हैं। दोनों महाकाव्यों में करुण को उद्दीप्त करने वाले प्रसंग अनेक हैं—नन्द की पत्नी सुन्दरी का अपने पति के प्रव्रज्या ग्रहण करने पर विलाप, पत्नी के लिये नन्द का शोक, सिद्धार्थ के अभिनिष्क्रमण के अवसर पर यशोधरा, माया तथा शुद्धोदन का विलाप। इस प्रकार अश्वघोष ने अपनी काव्यतूलिका से अनेक रसमय प्रसङ्गों का अभिराम चित्रण किया है। वे वाल्मीकि तथा कालिदास के काव्यों के मर्मज्ञ तथा गाढ अनुशीलनकर्ता हैं।

—×—

३. भारवि

विमर्दव्यक्तसौरभ्या भारती भारवेः कवेः।
धत्ते बकुलमालेव विदग्धानां चमत्क्रियाम् ॥

भारवि का नाम संस्कृत साहित्य में खूब प्रसिद्ध है। इनका 'किरातार्जुनीय' महाकाव्य संस्कृत साहित्य के तीन महाकाव्यों (बृहत्त्रयी) में अन्यतम माना जाता है। भारवि दक्षिण भारत के रहने वाले थे। महाकवि दण्डी के चतुर्थ पूर्वपुरुष दामोदरभट्ट के साथ इनकी गहरी मित्रता थी दक्षिण के चालुक्यवंशी नरेश विष्णुवर्धन के ये सभापण्डित थे। चालुक्यवंशी नरेश पुलकेशी द्वितीय के समय का एक शिलालेख 'अइहोड़' नामक ग्राम के एक जैन मन्दिर में मिला है, जिसमें कालिदास के साथ भारवि का भी नाम निर्दिष्ट है। प्रशस्ति के रचयिता रविकीर्ति ने कविता-निर्माण करने में अपने को कालिदास तथा भारवि के समान बतलाया है।[1]

स्थिति काल

इस शिलालेख का समय ५५६ शाकाब्द, अर्थात् ईस्वी सन् ६३४ है। इससे यह स्पष्ट है कि इस समय तक ये प्रसिद्ध हो चुके थे। इनका आश्रयदाता विष्णुवर्धन महाराज पुलकेशी द्वितीय का अनुज था और ६१५ ईस्वी के आस-पास महाराष्ट्र प्रान्त में अपने भाई की आज्ञा से राज्य करता था। इस प्रकार भारवि का समय ६०० ईस्वी के आस-पास प्रतीत होता है।

रचना

इनके महाकाव्य का नाम 'किरातार्जुनीय' है। इसमें १८ सर्ग हैं। कथानक महाभारत से लिया गया है। जब अर्जुन इन्द्रकील पर्वत पर अस्त्र के लिये तपस्या कर रहे थे, तब किरात-वेषधारी भगवान् शङ्कर के साथ उनका युद्ध हुआ। इसी युद्ध का विस्तृत रोचक वर्णन इस महाकाव्य में किया गया है। किरात का आरम्भ 'श्री' शब्द से होता है और प्रत्येक सर्ग के अन्तिम श्लोक में 'लक्ष्मी' शब्द का प्रयोग किया गया है। काव्य के नेता अर्जुन हैं और उन्हीं के

---

१. येनायोजि न वेश्म स्थिरमर्थविधौ विवेकिना जिनवेश्म।
स विजयतां रविकीर्तिः कविताश्रितकालिदास-भारविकीर्तिः ॥

चरित का उत्कर्ष दिखलाने के लिये किरातरूपधारी शङ्कर का वर्णन किया गया है। प्रधान रस वीर है, शृंगारादि रस गौण हैं। स्थान-स्थान पर पर्वत, सूर्यास्त तथा जलक्रीडा का बड़ा स्तृित वर्णन है। पाशुपत अस्त्र का प्राप्त करना ही इस महाकाव्य का फल है[1]।

भारवि का काव्य अपने अर्थगौरव के लिये विवेचकों में प्रसिद्ध है। विद्वत्समाज कालिदास की उपमा के समान भारवि के अर्थगौरव पर मुग्ध है—'भारवेरर्थगौरवम्'। अल्प शब्दों में विपुल अर्थ का सन्निवेश कर देना अर्थगौरव की पहचान है। भारवि ने अपनी कविता में इसे भली-भाँति दरसाया है। प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन भी मनोहारी है। चतुर्थ सर्ग का शरद् वर्णन तो संस्कृत-साहित्य में बेजोड़ है। भारवि चित्रकाव्य लिखने में भी सिद्धहस्त हैं इस कला में अपनी चातुरी दिखलाने के लिये इन्होंने एक पूरा सर्ग (१५वाँ) ही लिख डाला है, जिसमें सर्वतोभद्र, यमक, विलोम के साथ-साथ एकाक्षर श्लोक भी हैं। एक में नकार के अतिरिक्त अन्य वर्ण हैं ही नहीं[2]। चित्रकाव्य तथा श्लेष के कारण यह काव्य क्लिष्ट है इसलिये मल्लिनाथ ने भारवि की कविता को नारिकेल फल के समान बताया है—"नारिकेलफलसंनिभं वचो भारवेः"। भारवि नीति, विशेषतः राजनीति, के बड़े भारी ज्ञाता प्रतीत होते हैं। इनकी अनेक सूक्तियाँ पण्डितों की जिह्वा पर नाचती हैं।

प्रकृति के मनोहर दृश्यों को भारवि ने पैनी दृष्टि से देखा था और उनका हृदय उन दृश्यों की अभिरामता में खूब रमा था। इसी से इनके प्राकृतिक वर्णनों में इतनी सजीवता दृष्टिगोचर होती है। सायंकाल का यह मनोहारी वर्णन कितना चमत्कारपूर्ण है—

---

१. नेता मध्यमपाण्डवो भगवतो नारायणस्यांशज-
स्तस्योत्कर्षकृतेऽनुवर्ण्यचरितो दिव्यः किरातः पुनः।
शृंगारादिरसोऽङ्गमत्र विजयी वीरप्रधानो रसः
शैलाद्यानि च वर्णितानि बहुशो दिव्यास्त्रलाभः फलम् ॥
(मल्लिनाथ)

२. न नोनन्नुनो नुन्नोनो नाना नानानना ननु।
नुन्नोऽनुन्नो ननुन्नेनो नानेनानुन्न नुन्न नुत् ॥
(किरात० १५।१४)

मध्यमोपलनिभे लसदंशावेकतश्च्युतिमुपेयुषि भानौ।
द्यौरुवाह परिवृत्तिविलोलां हारयष्टिमिव वासरलक्ष्मीम् ॥

सायंकाल में जब सूर्य डूबने लगता है तब वह वर्तुलाकार बनकर पश्चिम में एक तरफ नीचे को लटक जाता है। किरणों की प्रभा ऊपर फैल जाती है। ऐसे सायंकाल की लक्ष्मी को मणिमाला के समान आकाश धारण किए हुए है जिस माला में डूबता हुआ सूर्य मध्यमणि (सुमेरु) है। 'परिवृत्तिविलोला' का औचित्यपूर्ण प्रयोग नितान्त रम्य है। मणिमाला हिला करती है और सायाह्न की लक्ष्मी भी चंचल होती है।

उपारताः पश्चिमरात्रगोचरादपातयन्तः पतितुं जवेन गाम्।
तमुत्सुकाश्चक्रुरवेक्षणोत्सुकं गवां गणाः प्रस्नुतपीवरौधसः॥

इस पद्य में भारवि ने सायंकाल को चरागाह से घर लौटने वाली, बछड़ों के प्रेम से दूध चुने वाले थनवाली गायों का स्वाभाविक वर्णन प्रस्तुत किया है।

कवि की विशिष्टता

भारवि का संसार का अनुभव उच्चकोटि का है। संसार के सुख-दुःख की पहिचान इन्हें खूब है। वे बड़े मानी प्रतीत होते हैं। उनकी दृष्टि में मान का—स्वात्माभिमान का—बड़ा आदर है। द्रौपदी तथा भीम ने अपने सम्मान की रक्षा के लिए युधिष्ठिर को जिस प्रकार उत्साहित किया है वह मनन करने का विषय है। कवि के स्वभाव में जितना मान का गौरव है, उससे कहीं अधिक विनय का महत्त्व है। किरात में जितने संभाषण मिलते हैं उनमें कहीं भी शिष्टाचार तथा विनय का उल्लंघन नहीं है। उनके पात्रों में अपने विरोधियों की बातें शान्तचित्त से सुनने की क्षमता है। वे अपने पक्ष का मण्डन बड़े तर्क से करते हैं, तथा अपने विपक्षियों के कथन का भी खूब खण्डन करते हैं, परन्तु उनमें उद्वेग नहीं दीखता। भारवि माँगने को बड़ा बुरा मानते थे। इसे वे पण्डितों की मर्यादा को भंग करने वाली बतलाया है—"धिग् विभिन्नबुधसेतुमर्थिताम्।" वे जानते हैं कि गुण प्रेम में रहते हैं, वस्तु में नहीं 'वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुनि।" सज्जनता के विशिष्ट गुणों के वे मर्म जानते हैं कि सज्जनों की वाणी निन्दा करना जानती ही नहीं, वह तो केवल गुणों का ही प्रकाश करती है—"अयातपूर्वा परिवादगोचरं, सतां

हि वाणी गुणमेव भाषते"। राजनीति का उनका ज्ञान सिद्धान्त ग्रन्थों के अध्ययन का फल नहीं है, प्रत्युत व्यावहारिक कार्यों के अवलोकन का परिणाम है। राजनीति के तत्वों का तथा राजदूतों का इतना सजीव वर्णन किरात में मिलता है कि वह कवि-कल्पना नहीं हो सकता—वह तो आँखों से देखा हुआ स्वानुभूत यथार्थ वर्णन है।

अलंकृत शैली की उद्भावना

भारवि ने महाकाव्य को प्राकृतिक विषयों के वर्णन से परिपुष्ट करने का प्रथम उद्योग किया। काव्य को अलंकारों से भूषित करने की पद्धति इन्होंने ही चलाई, जिसका अनुसरण पिछले कवियों ने बहुलता के साथ किया। किरात का मूल कथानक बहुत ही छोटा है, परन्तु भारवि के हाथों उसमें विशेष चमत्कार, कमनीयता तथा व्यापकता आ गई है। किरातार्जुनीय का कलेवर इन्हीं अलंकृत वर्णनों से वृद्धिगत हुआ है। चतुर्थ सर्ग में शरत् का वर्णन है, पंचम में हिमालय का, अष्टम में गन्धर्व सहित अप्सराओं के कुसुमावचय और जलक्रीडा का, नवम में सन्ध्या, चन्द्रोदय, पानगोष्ठी, रतिक्रीडा तथा प्रभात का; दशम में षट् ऋतुओं का, पन्द्रहवें में चित्रात्मक युद्ध का। इस प्रकार महाकाव्य के इतिहास में 'अलंकृत शैली' के उद्भावक होने के कारण महाकवि भारवि की भूयसी प्रतिष्ठा है।

भारवेरर्थगौरवम्

भारवि कलापक्ष के प्रथम आचार्य हैं। इनकी रचना में कालिदास की भावपक्षीय परम्परा को छोड़कर कलापक्ष का उन्मेष पूर्ण वैभव के साथ परिलक्षित होता है। ये चित्रात्मक काव्य के जन्मदाता माने जाते हैं। तात्पर्यमूलक परिष्कृत भाषाशैली के प्रयोगवाद के फलस्वरूप थोड़े शब्दों में विपुल अर्थ की अभिव्यञ्जना इनकी निजी विशेषता है। इसीलिये इनकी रचनाओं की समीक्षा करने वाले आचार्यों ने 'भारवेरर्थगौरवम्' के द्वारा इनके अर्थगाम्भीर्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। वस्तुतः भारवि ने बड़े से बड़े अर्थ को थोड़े से शब्दों के द्वारा प्रकट कर अपनी अनुपम काव्यचातुरी दिखलाई है। भारवि ने भीम के भाषण की प्रशंसा युधिष्ठिर के द्वारा जिन शब्दों में कराई है; वे ही शब्द इनकी कविता के भी यथार्थ निदर्शन हैं—

स्फुटता न पदैरपाकृता न च न स्वीकृतमर्थगौरवम्।
रचिता पृथगर्थता गिरां न च सामर्थ्यमपोहितं क्वचित्॥

(किरात० २। २७)

भारवि नीति शास्त्र के, विशेषतः राजनीति के सर्वातिशायी मर्मज्ञ विद्वान् हैं। इनके पूरे काव्य में लोकनीति, शास्त्रनीति और राजनीति भरी पड़ी है। 'वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः', 'न वञ्चनीयाः प्रभवोऽनुजीविभिः', 'हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः', 'विश्वासयत्याशु सतां हि योगः', 'सुदुर्लभाः सर्वमनोरमा गिरः', 'गुरुतां नयन्ति हि गुणाः न संहतिः', 'गुणाः प्रियत्वेऽधिकृता न संस्तवः'--आदि भारवि के अनेक वाक्य इतने लोकप्रिय और प्रसिद्ध हैं कि सर्वसाधारण इसका प्रयोग भारवि के नाम से अनवगत होने पर भी करते हैं।

भारवि ने भी अन्य कविसम्प्रदाय के अनुसार बहुत से छन्दों में कविता की है, परन्तु सबसे अधिक सुन्दरता से वंशस्थ का प्रयोग किया है। क्षेमेन्द्र ने वंशस्थ वृत्त को राजनीतिक विषयों के वर्णन के लिये सबसे अधिक उपयुक्त माना है--

षाड्गुण्यप्रगुणा नीतिर्वंशस्थेन विराजते।

अत एव कोई आश्चर्य की बात नहीं कि राजनीति के विशेषज्ञ भारवि का वंशस्थ सबसे अच्छा हुआ है। लेखक को तो यही प्रतीत होता है कि भारवि के द्वारा वंशस्थ के इतने सुचारु रूप से प्रयोग किये जाने के कारण ही सम्भवतः क्षेमेन्द्र ने वंशस्थ को राजनीति के वर्णन के लिये उपयुक्त माना है। क्षेमेन्द्र ने भारवि की प्रशंसा में यह श्लोक लिखा है--

वृत्तच्छत्रस्य सा कापि वंशस्थस्य विचित्रता।
प्रतिभा भारवेर्येन सच्छायेनाधिकीकृता॥

(सुवृत्ततिलक)

अब भारवि के कुछ श्लोक नमूने के तौर पर दिये जाते हैं—

अवन्ध्यकोपस्य विहन्तुरापदां
भवन्ति वश्याः स्वयमेव देहिनः।
अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना
न जातहार्देन न विद्विषादरः॥

दुर्योधन के सुव्यवस्थित शासन की कथा सुनकर द्रौपदी व्यग्र हो जाती है और युधिष्ठिर को क्रोध कर लड़ाई करने की सलाह दे रही है। क्रोध की प्रशंसा करती हुई वह कह रही है कि जिस मनुष्य का क्रोध व्यर्थ नहीं होता, वही अपदाओं को पार करता है, इतर प्राणी आप ही आप उसके वश में हो जाते हैं; परन्तु यदि कोई प्राणी क्रोधशून्य है तो मित्र होने पर भी न तो उसका आदर ही होता है और न शत्रु होने पर उससे भय। दोनों अवस्थाओं में उसकी स्थिति व्यर्थ है। अतः उचित स्थान पर क्रोध अवश्य करना चाहिये।

करोति यः सर्वजनातिरिक्तां
सम्भावनामर्थवतीं क्रियाभिः।
संसत्सु जाते पुरुषाधिकारे
न पूरणी तं समुपैति संख्या॥

किसी मनुष्य में योग्यता होना ही पर्याप्त नहीं है। उसे उचित है कि वह सब व्यक्तियों से बढ़कर होनेवाली अपनी योग्यता को कार्यों के द्वारा अर्थवती—सफल—बनावे। यदि वह ऐसा करता है, तो सभा में योग्य पुरुषों की गणना में उसे दूसरा नम्बर कभी नहीं मिलता—वह सदैव पहला गिना जाता है।

उपारताः पश्चिमरात्रगोचरा-
दपारयन्तः पतितुं जवेन गाम्।
तमुत्सुकाश्चक्रुरवेक्षणोत्सुकं
गवां गणाः प्रस्नुतपीवरौधसः॥

सायंकाल का दृश्य है। शाम को गोचर भूमि से, जहाँ वे रात के पिछले पहर में गई थीं, गायें झुण्ड को झुण्ड लौटी आ रही हैं। उनके थन दूध से भर गये हैं, जल्दी चल नहीं सकतीं। अतः धीरे-धीरे चल रही हैं। अपने प्यारे बछड़ों की याद आ रही है इसलिये उनके मोटे थनों से दूध चू रहा है। गायों के इस झुण्ड ने अर्जुन को देखने के लिए अपने आप को अत्यन्त उत्सुक बना डाला। शाम को चरागाह से घर लौटने वाली गायों का यह चित्र कितना नैसर्गिक है! गाँवों में इस दृश्य को देखने वाले इसकी सचाई की सराहना जरूर करेंगे।

गायों को चराने वाले बेचारे ग्वाले भी क्या ही सरलता की मूर्ति हैं। भारवि ने क्या ही अच्छा कहा है—

गतान् पशूनां सहजन्मबन्धुतां
गृहाश्रमं प्रेम वनेषु बिभ्रतः।
ददर्श गोपानुपवेनु पाण्डवः
कृतानुकारानिव गोभिराजंवे ॥

ये गोपाल पशुओं के साथ भाई का सा प्रेम करते हैं। घर का सा प्रेम बन में रखते हैं—जंगल को घर सा समझते हैं। इतने सीधे हैं कि गायें उनकी सफलता का अनुकरण करती सी दीख पड़ती हैं। गायों के इन सच्चे सेवकों का यह वर्णन कितना यथार्थ है।

उपैति शस्यं परिणामरम्यता
नदीरनौद्धत्यमपङ्कता महीम्।
नवैर्गुणैः सम्प्रति संस्तवस्थिरं
तिरोहितं प्रेम घनागमश्रियः ॥

सरद् ऋतु का स्वाभाविक वर्णन है। धान पक गये हैं, अतः सुन्दर मालूम पड़ रहे हैं। नदियों में वर्षाकाल वाली उद्धता नहीं है। पृथ्वी पर पंक बिल्कुल सूख गया है। वर्षाकाल की शोभा के प्रेम को अत्यन्त परिचित, अतः स्थिर होने पर भी, इस शरद् ने अपने नये गुणों के कारण छिपा डाला है—शरद् के सामने अब वर्षा को सब भूल गये हैं। ठीक है, गुण की कद्र होती है, परिचय की नहीं !

अमी पृथुस्तम्बभृतः पिशङ्गतां
गता विपाकेन फलस्य शालयः।
विकासि वप्राम्भसि गन्धसूचितं
नमन्ति निघ्रातुमिवासितोत्पलम् ॥

खेत में बालियों के पक जाने पर धान के पौधे पीले पड़ गये हैं। बालियों के बोझ के कारण पौधे झुक गये हैं। जान पड़ता है कि खेत के जल में खिले हुए, गन्ध द्वारा जाने गये, इन नीले कमलों को सूँघने के लिए ये पौधे झुके हैं। कवि ने बहुत ठीक कहा। बालियों के बोझ से अवनत धान के पौधों पर क्या ही सुन्दर उत्प्रेक्षा है। कवि ने अपना प्रकृतिज्ञान खूब अच्छे ढंग से अभिव्यक्त किया है।

मृणालिनीनामनुरञ्जितं त्विषा
विभिन्नमम्भोजपलाशशोभया ।
पयः स्फुरच्छालिशिखापिशङ्गितं
द्रुतं धनुष्खण्डमिवाहिविद्विषः ॥

धान के खेतों में जल कितना सुन्दर मालूम पड़ता है। कमलिनी खिली है। कमल-लता के हरे रंग के कारण जल भी हरा हो गया है। कमल के पत्तों की शोभा के साथ जल की शोभा मिल रही है। खेत में धानों की पकी-पकी पीली शिखा (बालियां) सिरे पर हिल रही हैं जिनसे जल भी पीला हो गया है। इस प्रकार खेत का जल ऐसा मालूम पड़ता है कि मानों वृत्र के शत्रु इन्द्र महाराज का रंगबिरंगा धनुष, गलकर पानी के रूप में बह रहा हो। क्या ही अनोखा कल्पना है।

—×—

४. भट्टि

भट्टि ने 'शास्त्र-काव्य' लिखने को परिपाटी संस्कृत साहित्य में चलाई। शास्त्रकाव्य उसे कहते हैं जिसमें काव्य के साथ-साथ व्याकरण के प्रयोगों का भी पूरा परिचय पाठकों को मिल जाय। इनका काव्य 'रावण-वध' है, जो इन्हीं के नाम पर 'भट्टिकाव्य' के नाम से सर्वत्र विख्यात है। इसमें २० सर्ग हैं तथा लगभग साढ़े तीन हजार श्लोक हैं। रामचन्द्र की जीवन-घटनाएं विस्तार से वर्णित हैं। कवि का लक्ष्य यह था कि व्याकरण के आवश्यक प्रयोगों से पाठक परिचित हो जायं। इसी कारण इन्होंने स्वयं अपने काव्य के विषय में कहा है कि व्याकरण जानने वालों के लिये तो यह दीपक के समान है, परन्तु दूसरों के लिये अन्धे के हाथ की आरसी की तरह है[1]। इन्होंने चार सर्गों में (१० से लेकर १३ तक) काव्य की समस्त विशेषताओं को भी दिखलाया है। काश्मीर देश के कवि भट्टभौमक ने 'रावणार्जुनीय' काव्य में भट्टि का सफल अनुकरण किया है।

१. दीपतुल्यः प्रबन्धोऽयं शब्दलक्षणचक्षुषाम् ।
हस्तादर्श इवान्धानां भवेद् व्याकरणादृते ॥

वलभी के राजा श्रीधरसेन के ये सभापण्डित थे[1]। वलभी के राजाओं में चार 'श्रीधरसेन' का नाम मिलता है, जिनमें श्रीधरसेन द्वितीय के द्वारा भट्टि नामक विद्वान् को भूमिदान देने का उल्लेख एक शिलालेख में (६१० ई०) मिलता है। इसके अनुसार इनका समय छठीं शताब्दी का उत्तरार्ध तथा सातवीं का आरम्भ सिद्ध होता है।

भट्टिकाव्य की विशेषता

भट्टिकाव्य में व्याकरण सम्मत प्रयोगों की प्रचुरता होने से ही हम इसे कवित्व की दृष्टि से असफल नहीं मान सकते, क्यों कि इसमें काव्योचित गुणों से युक्त तथा प्रसंशनीय प्रतिभा के द्योतक पद्यों का प्राचुर्य कम नहीं है। वैयाकरण प्रयोगों के निदर्शन में बड़ी सुव्यस्था है। कवि ने प्रयत्न पूर्वक एक ही लकार का, कृदन्त अथवा तद्धितान्तों का या समासों का इतना विधिवत् प्रयोग किया है कि कोई भी सचेता आलोचक महाकवि भट्टि के संस्कृत भाषा के प्रभुत्व की भूरि-भूरि प्रसंशा किये बिना नहीं रह सकता। काव्य के प्रथम सर्ग में ही कवि ने जम कर केवल लुङ् का ही प्रयोग किया है। इसके लिये ऐसे प्रयोग चुने गये हैं जो व्याकरण की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं, सर्ग के सर्ग एक विशिष्ट लकार के लिये रचे गये हैं। इतना ही नहीं, भट्टि ने पाणिनि के अष्टाध्यायी के क्रम का पूर्णतया निर्वाह किया है। तेरहवें सर्ग के जटायु तथा रावण के संवाद में कवि ने चुनकर कृदन्त पदों का ही प्रयोग किया है, जैसे—

> द्विषन् वनेचराग्र्याणां त्वमादायचरो वने।
> अग्रेचरो जघन्यानां मा भूः पूर्वसरो मम॥

यहाँ पर वनेचर, आदायचर, अग्रेचर तथा पूर्वसर में चारो पद विशिष्ट सूत्रों के द्वारा निष्पन्न होते हैं। भट्टि का काव्य हृदयपक्ष से शून्य नहीं है। रसों का विन्यास इतना रुचिर तथा हृदयावर्जक है कि उनको पढ़ने से ऐसा प्रतीत नहीं होता कि किसी शुष्क वैयाकरण की यह रचना है। नीचे के पद्य में सम्भोग का वर्णन पर्याप्त रूप से सरस है—

---

१. काव्यमिदं विहितं मया वलभ्यां श्रीधरसेननरेन्द्रपालितायाम्।
कीर्तिरतो भवतान्नृपस्य तस्य क्षेमकरः क्षितयो यतः प्रजानाम्॥

स्रस्ताङ्गचेष्टो विनिमीलिताक्षः
स्वेदाम्बुरोमोद्गमगम्यजीवः ।
अशेषनष्टप्रतिभापटुत्वो
गाढोपगूढो दयितैर्जनोऽभूत् ॥

श्लोक का आशय है कि प्रिय पतियों के द्वारा गाढ आलिंगन में बद्ध दयिताओं के अंगों की चेष्टायें शिथिल पड़ गईं। आनन्द के अतिरेक से नेत्र निमीलित हो गये। बुद्धि की समस्त प्रतिभा तथा पटुता नष्ट हो गई।

कवि की दृष्टि प्रकृति के रमणीय दृश्यों के देखने में रमती थी तथा उसकी लेखनी अनुभव को चित्रों में विन्यस्त कर देने में अग्रसर होती थी। सुर्योदय का यह सुन्दर वर्णन इस तथ्य का उपोद्बलक है—

दुरुत्तरे पङ्क इवान्धकारे
मग्नं जगत् संततरश्मिरज्जुः ।
प्रनष्टमूर्तिप्रविभागमुद्यन्
प्रत्युज्जहारेव ततो विवस्वान् ॥

गहरे पङ्क की भाँति गाढ अन्धकार में निमग्न तथा अव्यक्तमूर्ति वाले जगत् को जगाता हुआ प्रातःकाल का सूर्य जान पड़ता है रज्जुरूपी अपनी किरणों को फैलाकर उसे उठा रहा है। इसमें प्रातःकालीन सूर्य के निरीक्षण तथा वर्णन में मार्मिक उत्प्रेक्षा प्रस्तुत की गयी है।

इनका सर्व-प्रसिद्ध श्लोक शरद् ऋतु का वर्णनपरक अलंकार ग्रन्थों में उद्धृत मिलता है, जो इस प्रकार है—

न तज्जलं यन्न सुचारु पङ्कजं न पङ्कजं तद् यदलीनषट्पदम् ।
न षट्पदोऽसौ न जुगुञ्ज यः कलं न गुञ्जितं तन्न जहार यन्मनः ॥

श्लोक का भाव यह है कि शरद् ऋतु में ऐसा कोई सरोवर नहीं है जिसमें सुन्दर कमल न खिले हों, ऐसा कोई कमल नहीं है जिस पर भौंरे न बैठे हों, ऐसा कोई भौंरा नहीं है जो गूंज न रहा हो और ऐसी कोई गूंज भी नहीं है जो मन को न हर लेती हो। एकावली का उदाहरण इससे सुन्दर मिलना अत्यन्त दुष्कर है।

भट्टिकाव्य की रचना व्याकरण तथा अलंकार-शास्त्र के तत्त्वों को समझाने के लिए की गई है। कवि को इस उद्देश्य की सिद्धि में पूर्ण सफलता मिली है।

—×—

५. माघ कवि

संस्कृत भाषा में निबद्ध महाकाव्यों में 'शिशुपालवध' की ख्याति इतनी अधिक है कि वह महनीय तीन बृहत्काव्यों में—बृहत्त्रयी में—अन्यतम माना जाता है। अपने रचयिता की एकमात्र कृति होने पर भी यह उनकी प्रतिभा तथा कविकौशल के प्रदर्शन में नितान्त समर्थ है। 'शिशुपालवध' के रचयिता का नाम माघ कवि है और प्रबन्धचिन्तामणि आदि प्राचीन प्रबन्धों की सहायता से इनके जीवन की मान्य घटनाओं से हम अपरिचित नहीं हैं। इनका जन्म गुजरात के प्रसिद्ध नगर भीनमाल या श्रीमाल में हुआ था जिसे बहुत दिनों तक उस देशकी राजधानी तथा विद्याकेन्द्र होने का गौरव प्राप्त था। ये एक धनाढ्य तथा सम्पन्न ब्राह्मणकुल में उत्पन्न हुए थे, क्योंकि इनके पितामह सुप्रभदेव वर्मलात नामक राजा के प्रधान मन्त्री थे तथा इनके पिता 'दत्तक' भी उसी प्रकार धनी-मानी तथा दानी थे। किसी राजाभोज के साथ माघ की बड़ी घनिष्ट मैत्री थी और अपने घर आने पर इन्होंने भोज का बड़े ही राजसी ढंग से स्वागत और सत्कार किया था। अधिक दान देने से इनकी विपुल लक्ष्मी क्षीण हो गई, तब ये भोज के यहाँ गये थे। शहर के बाहर ही रह कर इन्होंने अपनी पत्नी को राजा के पास अपनी दुरवस्था की सूचना में अपने काव्य का एक प्रख्यात पद्य 'कुमुदवनमपश्रि श्रीमदम्भोजखण्डम्' भेजा था, जिसके उत्तर में भोज ने प्रभूत धनराशि दी। उसे माघपत्नी ने रास्ते में ही निर्धन याचकों को दान में दे डाला। छूछे हाथ देख कर माघ ने अपने प्राण छोड़ दिये। इस प्रसिद्ध कथा के भीतर से माघ का दानशील चरित्र भली-भाँति झलक रहा है।

माघ में कवि प्रतिभा के साथ हो साथ पाण्डित्य का अद्भुत प्रकर्ष था। उनकी शास्त्रों की परिचयचारुता देखते ही बनती है। सम्पन्न ब्राह्मणपरिवार में जन्म लेने से उन्हें प्रभूत विद्या तथा नाना शास्त्रों का अनुशीलन रिक्थ के रूप में प्राप्त हुआ था। माघ का पाडित्य सर्वगामी है। वेद तथा दर्शन से लेकर राजनीति तक का विशिष्ट पाण्डित्य उनके काव्य को पण्डितजनों के मनोविनोद का एक अद्भुत साधन बनाये हुये है। अपने काव्य के १४ वें सर्ग में यज्ञ का इतना सुन्दर तथा विस्तृत वर्णन सांगोपांग रूप से कवि ने किया है कि जान पड़ता है जैसे उन्होंने किसी विशाल यज्ञ को स्वयं अपनी आँखों देखा हो। दर्शन में सांख्य तथा योग, बौद्ध दर्शन तथा मीमांसा के मूल तत्त्वों को अवतारणा

उपमा तथा तुलना के प्रसंग में बड़ी रुचिरता से की है। विशाल वैभव के साथ संगीत प्रेम का गठबन्धन सदा ही रहा करता है। फलतः माघ को संगीतशास्त्र का विशिष्ट ज्ञान था, जिसका परिचय उन्होंने प्रचुर मात्रा में दिया है। निष्कर्ष यह है कि शिशुपालवध के रचयिता माघ एक असामान्य व्यक्ति थे जिनका जीवन वैभव तथा विलास में, विनोद तथा आनन्द में बीता था और जिनकी प्रतिभा ने शब्द के सुन्दर विन्यास में तथा अर्थ के नूतन सन्निवेश में अपना पूर्ण वैभव प्रदर्शित किया है। ये सप्तम शती के उत्तरार्ध में उत्पन्न हुए थे और उस युग में भारतीय संस्कृति अपनी पूर्ण कीर्ति के साथ विराजमान थी। उत्तर भारत में राजा हर्षवर्धन का राज्य काल समाप्त अवश्य हो चुका था, परन्तु अभी तक साम्राज्य की भावना विस्मृत नहीं हुई थी। शिशुपालवध में वर्णित 'राजसूय' का वर्णन इसी का विशद निदर्शन है।

समय

माघ के समय-निरूपण में बड़ा मतभेद है। कोई इनको सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में मानता है तो कोई आठवीं शताब्दी के मध्य भाग में, परन्तु शिलालेख के आधार पर पहिला समय ज्यादा सम्भव जान पड़ता है। पूर्वोक्त भोज को प्रसिद्ध धारानरेश मानकर कोई-कोई इन्हें ग्यारहवीं शताब्दी में मानते हैं; परन्तु यह नितान्त अनुचित है, क्योंकि नवीं शताब्दी में होनवाले आनन्दवर्धनाचार्य ने अपने 'ध्वन्यालोक' में माघकाव्य के कई पद्यों को उद्धृत किया है। 'रम्या इति प्राप्तवतीः पताकाः' (५।५३) तथा 'त्रासाकुलः परिपतन्' (५।२६)—माघ के इन दोनों पद्यों को आनन्द ने उदाहरण के लिये 'आलोक' में दिया है। इतना ही नहीं, नवम शतक के 'कविराजमार्ग' नामक एक दूसरे अलंकार-ग्रन्थ में भी माघ का नाम मिलता है। यह ग्रन्थ कन्नड़ भाषा में है। इसमें दण्डी के काव्यादर्श के आधार पर ही अलंकारनिरूपण किया गया है। सुप्रसिद्ध दक्षिणदेशीय राजा अमोघवर्ष (८१४ ई०) के समय में नृपतुंज नामक कवि ने इसकी रचना की थी। कन्नड़ भाषा की सबसे पुरानी तुस्तक होने से भी यह मूल्यवान् है।

अत एव यह निश्चिय है कि माघ का समय नवीं सदी (८००) से उतर कर नहीं हो सकता। इसके ऊर्ध्वतर काल को निश्चित करने वाले एक प्रमाण की उपलब्धि हुई है। डाक्टर किलहार्न को राजपूताने के वसन्तगढ़ नामक

किसी स्थान से 'वर्मलात' राजा का एक शिलालेख मिला है। शिलालेख का समय संवत् ६८२ अर्थात् ६२५ ई० है। शिशुपालवध की हस्तलिखित प्रतियों में सुप्रभदेव के आश्रयदाता का नाम भिन्न-भिन्न मिलता है। धर्मनाम, वर्मनाम धर्मलात, वर्मलात आदि अनेक पाठभेद पाये जाते हैं। भीनमाल के आसपास के प्रदेश में इस शिलालेख की उपलब्धि से डाक्टर किलहार्न 'वर्मलात' को असली पाठ मानकर इस राजा तथा सुप्रभदेव के आश्रयदाता को यथार्थतः एक ही मानते हैं। अतः सुप्रभदेव का समय ६२५ ई० के आसपास है। अत एव इनके पौत्र माघ का समय भी लगभग ६५० ई० से लेकर ७०० ई० तक होगा, अर्थात् माघ का भी आविर्भाव काल सातवीं सदी का उत्तरार्द्ध मानना उचित है।

इस समय-निरूपण के विरोधी प्रमाणों का खण्डन आवश्यक है। माघ ने द्वितीय सर्ग के एक पद्य[१] में व्याकरण के प्रधान ग्रन्थों का उल्लेख किया है। पातञ्जल महाभाष्य तथा काशिका वृत्ति के साथ उन्होंने जिनेन्द्रबुद्धिकृत न्यास नामक ग्रन्थ का भी उल्लेख किया है। ह्वेनसाङ्ग के अनन्तर भारत में आने वाले इत्सिङ्ग नामक चीनी यात्री ने काशिकाकार वामन तथा जयादित्य का वर्णन किया है, वाक्यपदीय के कर्ता भर्तृहरि की मृत्यु का भी उल्लेख किया है, परन्तु जिनेन्द्रबुद्धि जैसे प्रचण्ड बौद्ध विद्वान् के विषय में वह बिल्कुल मौन है, अतः जान पड़ता है कि जिनेन्द्रबुद्धि ने अपने न्यास की रचना उसके जाने के समय (६९५ ई०) तक नहीं की थी। यदि इत्सिङ्ग व्याकरण के अन्य ग्रन्थों का उल्लेख कर गया है तो जिनेन्द्रबुद्धि के इतने प्रसिद्ध होने पर उनके उल्लेख करने से वह विरत नहीं होता। अतः जिनेन्द्रबुद्धि के न्यास की रचना ७०० ई० के आसपास की गई होगी। जब माघ स्वयं ७०० ई० के आसपास के बने ग्रन्थ का उल्लेख अपने ग्रन्थ में करते हैं, तो उनका समय ६५० ई० से ७०० ई० तक कैसे माना जा सकता है ?

इस पद्य में माघ ने श्लेष के द्वारा राजनीति की समता शब्द-विद्या (व्याकरण-शास्त्र) से की है। 'न्यास' से तात्पर्य मल्लिनाथ ने जिनेन्द्रबुद्धि कृत 'न्यास' ग्रन्थ ही माना है।

---

१. अनुत्सूत्रपदन्यासा सद्वृत्तिः सन्निबन्धना।
शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा॥

परन्तु न्यास ग्रन्थ के उल्लेख से भी यह कहना ठीक नहीं है कि माघ यहाँ जिनेन्द्रबुद्धि के ग्रन्थ का ही उल्लेख कर रहे हैं। जिनेन्द्र-बुद्धि के पहले भी बहुत से न्यास ग्रन्थ लिखे जा चुके थे। जिनेन्द्रबुद्धि ने ही कुणि, चुल्लि तथा नल्लूर आदि के न्यासग्रन्थों का उल्लेख किया है। बाणभट्ट ने जो न्यास की रचना के पहिले अवश्य हो चुके थे, 'हर्षचरित' में ठीक इसी श्लेष की उद्भावना की है— "कृतगुरुपदन्यासा लोक इव व्याकरणेऽपि"। अत एव हम माघ को निश्चय-पूर्वक जिनेन्द्रबुद्धि के पीछे नहीं मान सकते। बाणभट्ट के समान माघ ने भी इन्हीं न्यासों की ओर संकेत किया है, न कि जिनेन्द्र-बुद्धि के न्यास की ओर। अत एव माघ के समय को सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में होने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है।

माघ और भारवि

माघ के महाकवि होने में तनिक भी सन्देह नहीं है। माघ ने साम्प्रदायिक प्रेम से उत्तेजित होकर अपने पूर्ववर्ती 'भारवि' से बढ़ जाने के लिए बड़ा प्रयत्न किया। भारवि शैव थे, जिनका काव्य शिव के वरदान के विषय में है; माघ वैष्णव थे, जिन्होंने विष्णुविषयक महाकाव्य की रचना की। वह स्वयं अपने ग्रन्थ को 'लक्ष्मीपतेश्चरितकीर्तनमात्रचारु' कहते हैं। भारवि की कीर्ति को ध्वस्त करने में माघ ने कुछ भी उठा नहीं रखा। 'किरातार्जुनीय' को अपना आदर्श मानकर भी माघ ने अपने काव्य में बहुत कुछ अलौकिकता पैदा कर दी है। किरात के समान ही माघ-काव्य भी मंगलार्थक 'श्री' शब्द से आरम्भ होता है। किरात के आरम्भ में 'श्रियः कुरूणामधिपस्य पालनीं' है, उसी प्रकार माघ के प्रारम्भ में 'श्रियः पतिः श्रीमति शासितुं जगत्' है। भारवि ने किरात में प्रत्येक सर्ग के अन्त में 'लक्ष्मी' शब्द का प्रयोग किया है। माघ ने इसी तरह अपने काव्य के सर्गान्त पद्यों में 'श्री' का प्रयोग किया है।

शिशुपालवध तथा किरातार्जुनीय के वर्णन-क्रम में समानता है। दोनों महाकाव्यों के प्रथम सर्ग में सन्देश-कथन है। दूसरे सर्ग में राजनीति-कथन है। अनन्तर दोनों में यात्रा का वर्णन है। ऋतु-वर्णन भी दोनों में है—किरात के चतुर्थ सर्ग में तथा माघ के षष्ठ सर्ग में। पर्वत का वर्णन भी एक समान है—किरात के पांचवें सर्ग में हिमालय का तथा माघ के चौथे सर्ग में रैवतक पर्वत का। अनन्तर दोनों में सन्ध्याकाल, अंधकार, चन्द्रोदय, सुन्दरियों की जलकेलि—आदि विषयों के वर्णन कई सर्गों में दिये गये हैं। किरात के तेरहवें

तथा चौदहवें सर्ग में अर्जुन तथा किरातरूपधारी शिव में वाण के लिये वाद-विवाद हुआ है, माघ के सोलहवें सर्ग में ऐसा ही विवाद शिशुपाल के दूत तथा सात्यकि के बीच हुआ है। किरात के पन्द्रहवें तथा माघ के उन्नीसवें सर्ग में चित्रबंधों में युद्ध-वर्णन है। इस प्रकार को दोनों कवियों में समता होने पर भी रसिक जन माघ के सामने भारवि को हीन समझते हैं :—

तावद्भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः।

'माघे सन्ति त्रयो गुणाः' यह तो सब पण्डित जानते हैं कि माघ में तीनों गुण हैं—उपमा, अर्थ-गौरव तथा पदलालित्य। इन तीनों गुणों का सुभग दर्शन हमें माघ की कमनीय कविता में होता है। बहुत से आलोचक पूर्वोक्त वाक्य को किसी माघ-भक्त पण्डित का अविचारितरमणीय हृदयोगार भले ही बतावें, परन्तु वास्तव में पूर्वोक्त आभाणक में सत्यता है। माघ में कालिदास जैसी उपमाएँ भले न मिलें, फिर भी इनमें न सुन्दर उपमाओं का अभाव है, न अर्थगौरव की कमी। पदों का ललित विन्यास तो निःसन्देह प्रशंसनीय है। माघ की 'पदशय्या' इतनी अच्छी है कि कोई भी शब्द अपने स्थान से हटाया नहीं जा सकता।

माघ की विद्वता

माघ केवल सरस कवि ही नहीं थे, प्रत्युत एक प्रचण्ड सर्वशास्त्र तत्त्वज्ञ विद्वान् भी थे। माघ जैसी विद्वता किसी भी संस्कृत कवि में कम मिलेगी। भिन्न-भिन्न शास्त्रों का अध्ययन जितना माघ ने किया है, इन शास्त्रों के सिद्धान्तों का जिस सुन्दर रीति से माघ ने प्रतिपादन किया है, उस भाँति संस्कृत-साहित्य के किसी महाकाव्य में उपलब्ध नहीं होता। भारवि में राजनीति-पटुता अवश्य दीख पड़ती है, श्रीहर्ष में दार्शनिक उद्भटता अवश्य उपलब्ध होती है, परन्तु माघ में सर्वशास्त्रों का जो परिनिष्ठित ज्ञान दृष्टिगोचर होता है वह उन दोनों कवियों में कहाँ? उनमें भी पाण्डित्य है, परन्तु वह केवल एकाङ्गी है। इसके विपरीत माघ का पाण्डित्य सर्वगामी है। वेद तथा दर्शनों से लेकर राजनीति तक का विशिष्ट परिचय इनके काव्य में पाया जाता है।

माघ का श्रुति-विषयक ज्ञान प्रशंसनीय है। प्रातःकाल के समय इन्होंने अग्निहोत्र का सुन्दर वर्णन किया है। हवनकर्म में आवश्यक सामधेनी ऋचाओं का उल्लेख किया (११ सर्ग, ४१ श्लोक)। वैदिक स्वरों की विशेषता भी

आपको भली-भाँति मालूम थी। स्वरभेद से अर्थभेद हो जाया करता है—इस नियम का उल्लेख मिलता है (१४।२४)। एक पद में होनेवाला उदात्त स्वर अन्य स्वरों को अनुदात्त बना डालता है, एक स्वर के उदात्त होने से अन्य स्वर 'निघात' हो जाते हैं। इस स्वर-विषयक प्रसिद्ध नियम का प्रतिपादन माघ ने शिशुपाल के वर्णन में बड़ी सुन्दर रीति से किया है—"निहन्त्यरीनेकपदे य उदात्तः स्वरानिव" (२।९५)। चौदहवें सर्ग में युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ का बड़ा ही विस्तृत तथा सुन्दर वर्णन किया हुआ मिलता है। दर्शनों का भी विशिष्ट ज्ञान माघ में दिखाई पड़ता है। सांख्य के तत्त्वों का निदर्शन अनेक स्थलों पर पाया जाता है। प्रथम सर्ग में नारद ने श्रीकृष्णचन्द्र की जो स्तुति की है (१।२३) वह सांख्य के अनुकूल है। योगशास्त्र की प्रवीणता भी देखने में आती है। 'मैत्र्यादिचित्तपरिकर्मविदो विधाय' आदि (४।५५) पद्य में चित्त-परिकर्म, सबीजयोग, सत्त्वपुरुषान्यथाख्याति—योगशास्त्र के परिभाषिक शब्द हैं। आस्तिक दर्शनों की कौन कहे ? नास्तिक दर्शनों में भी माघ का ज्ञान उच्चकोटि का था। माघ बौद्धदर्शनों से भी भली-भाँति परिचित थे (२।२८)। वे उसके सूक्ष्म विभेदों के भी ज्ञाता थे। वे राजनीति के भी अच्छे जानकार थे। बलराम तथा उद्धव के द्वारा राजनीति की खूबियाँ दिखलायी गयी हैं। माघ ने नाट्यशास्त्र के विभिन्न अंगों की उपमा बड़ी सुन्दरता से दी है। माघ एक प्रवीण वैयाकरण थे। उन्होंने व्याकरण के सूक्ष्म नियमों का पालन अपने काव्य में भली-भाँति किया है। व्याकरण के प्रसिद्ध ग्रन्थों का भी उल्लेख उन्होंने किया है।

माघ का ज्ञान ललित कलाओं में भी ऊँची कक्षा का था। वे संगीतशास्त्र के सूक्ष्म विवेचक थे। जगह-जगह पर संगीत-शास्त्र के मूल तत्त्वों का निदर्शन कराया गया है। अलंकार-शास्त्र में माघ की प्रवीणता की प्रशंसा करना व्यर्थ है। वह तो कवि का अपना प्रदेश है। माघ ने राजनीति के गूढ तत्त्वों को सम्यक् रूप से समझाने के लिये अलंकार-शास्त्र के नियमों का सहारा लिया है। माघ ने एक सच्चे कवि-आलंकारिक के ऊँचे पद से शब्द तथा अर्थ दोनों को 'काव्य' माना है (२।८६)।

कहने का सारांश यह है कि माघ एक महान् कवि-पण्डित थे। उनका ज्ञान हिन्दूदर्शन, नाट्य शास्त्र, अलंकारशास्त्र, व्याकरण, संगीत आदि शास्त्रों में बड़ा

उत्कृष्ट था। माघ ने अपना सम्पूर्ण ज्ञान कविता-कामिनी को अर्पण कर दिया। उन्होंने कविता की बाँकी छटा दिखाने के लिये समग्र संस्कृत-साहित्य के उपयोग करने में कुछ भी उठा नहीं रखा।

शिशुपालवध का कथानक

'शिशुपालवध' मात्रा में काफी विस्तृत है। इसमें २० सर्ग हैं और पद्यों को संख्या साढ़े १६ सौ के लगभग है। कथानक बहुत ही थोड़ा है। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में शिशुपाल का श्रीकृष्ण के द्वारा मारना ही इस काव्य का प्रधान वर्ण्य विषय है, परन्तु कवि ने अपनी प्रतिभा के बल पर उसे बखूबी सजाकर एक भव्य काव्य-प्रसाद का रूप दिया है। द्वारिका में निवास करते समय श्रीकृष्णजी के पास नारद मुनि पधारते हैं और धर्मरक्षण के प्राचीन वृत्त का स्मरण कराकर उन्हें वर्तमान समय में शिशुपाल के उत्पातों से उत्पन्न मानवों के उत्पीडन का वर्णन कर शिशुपाल के मारने की ओर संकेत करते हैं। उसी समय युधिष्ठिर के राजसूय में उपस्थित होने का निमन्त्रण पाकर श्रीकृष्णचन्द्र बड़े ही असमंजस में पड़ जाते हैं। बलराम तथा उद्धव से इस विषय में मन्त्रणा करते हैं। बलपक्ष के आश्रयी बलरामजी शिशुपाल पर तुरन्त आक्रमण करने की सलाह देते हैं, परन्तु बृहस्पति के शिष्य, राजनीति के मर्मज्ञ, उद्धव राजसूय में जाने की राय देते हैं जिसे श्रीकृष्ण स्वीकार करते हैं और अपने दल-बल के साथ, पुरजन तथा परिजन के संग इन्द्रप्रस्थ की यात्रा करते हैं। रास्ते के वर्णन तथा मार्ग-निवास का चित्रण करने में माघ ने बड़ा विस्तार दिखलाया है। रैवतक पर्वत तथा वहाँ श्रीकृष्ण के निवास के वर्णन में दो सर्ग खर्च किये गये हैं। षड् ऋतुओं के विस्तृत चित्रण में एक लम्बा सर्ग (छठा) लगाया गया है। सप्तम सर्ग में वनविहार का कमनीय चित्रण है, तो अष्टम सर्ग में यादवरमणियों की नाना प्रकार की जलकेलि का बहुरंगी वर्णन किया गया है। नवम सर्ग को कवि ने सूर्य के अस्त होने, सन्ध्याकाल में अन्धकार के विस्तार तथा तदनन्तर चन्द्रोदय के चारु वर्णन में लगाया है। तदनन्तर रात्रि का आगमन कवि को मधुपानगोष्ठी तथा सुरतक्रीडा की मनोरम झाँकी दिखलाने के लिए प्रलुब्ध करता है। इसके पीछे होता है प्रभात, जिसका सुन्दर चमत्कृत वर्णन पूरे एकादश सर्ग का वर्ण्य विषय है। दीर्घ अभियान के अनन्तर श्रीकृष्ण अपनी यादवी सेना के साथ इन्द्रप्रस्थ पहुँचते हैं और युधिष्ठिर के सभास्थल में विराजने लगते हैं। अनन्तर

यज्ञ का समारोह अपने पूर्ण विलास के साथ आरम्भ होता है तथा अपने अवसान पर पहुँचता है (१४ वाँ सर्ग)। यज्ञ में किसी विशिष्ट व्यक्ति की पूजा अवश्यमेव होती है। भीष्मपितामह की सम्मति से युधिष्ठिर श्रीकृष्ण की वह 'अग्रपूजा' करते हैं और यहीं होता है घोर विद्रोह तथा भीषण संघर्ष का सूत्रपात। चेदि का राजा शिशुपाल इस अग्रपूजा से अपने को वंचित समझ कर स्वपक्षीय राजाओं को कृष्ण के प्रति उभाड़ता है (१५ सर्ग)। अन्त में दोनों पक्षों के सैनिकों के बीच प्रथमतः युद्ध होता है (१६-१९ सर्ग) और अन्ततोगत्वा शिशुपाल के साथ श्रीकृष्णचन्द्र का रोमांचकारी युद्ध होता है, जिसमें श्रीकृष्ण अपने शत्रु को परास्त कर सुदर्शन चक्र से उसका शिर काट डालते हैं। इस महाकाव्य की कथा का यही संक्षेप है।

माघ कवि परम वैष्णव थे और इसीलिए वे अपने काव्य को 'लक्ष्मीपतेश्चरित-कीर्तनमात्रचारु' बतला कर अपनी नम्रता तथा अहंकार हीनता सुन्दर ढंग से प्रकट करते हैं। भगवान् लक्ष्मीपति के केवल कीर्तन होने से ही यह काव्य रुचिर है—यह कथन माघ कवि की सहज नम्रता का द्योतक है, अन्यथा यह काव्य शब्द तथा अर्थ दोनों प्रकार के सौन्दर्य से पूर्णतया मण्डित है। माघ कवि का शब्दों पर प्रभुत्व सर्वातिशायी है और तभी तो आलोचक वर्ग नव सर्ग के बीत जाने पर किसी नव शब्द के अस्तित्व का सर्वथा विरोधी है—"नवसर्गगते माघे नवशब्दो न विद्यते"।

माघे सन्ति त्रयो गुणाः

माघ की प्रतिभा के पारखी प्राचीन आलोचक एक स्वर से कालिदास की उपमा, भारवि का अर्थगौरव तथा दण्डी का पदलालित्य—इन तीनों का मंजुल समन्वय उनकी कविता में स्वीकार करते हैं। उपमा, अर्थगौरव एवं पदलालित्य माघ की कविता में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है। परन्तु माघ की अपनी भी एक निजी विशेषता है। वह है किसी वर्णन को अलंकृत करने की कला। प्रत्येक वर्णन तथा प्रत्येक भाव साधारण शब्दों में न होकर अलंकारों से विभूषित भाषा में प्रकट किया गया है। इस रहस्य को न जानने के कारण नवीन आलोचकों को उनकी कविता में कृत्रिमता की गन्ध आती है, परन्तु यह सर्वथा अनुचित है। माघ की कविता कृत्रिम नहीं है, अपितु अलंकृत है। वह युग ही पांडित्य का युग था। सामान्य पाठकों को रिझाना कविकर्म की कसौटी नहीं थी। शास्त्रवेत्ता पण्डितों के हृदय में किसी भाव को उतारना

ही कवि का मुख्य प्रयोजन था। समय की यही माँग थी। युग का यही धर्म था। फलतः माघ ने भी उसी धर्म का अनुसरण किया। इसमें न तो कहीं अनौचित्य है, न अस्वाभाविकता।

माघ की उपमाएँ अपने सौन्दर्य के कारण पर्याप्तरूपेण आकर्षक हैं। उपमाओं में नवीनता है। वे प्रकृति से भी ली गई हैं, परन्तु युगधर्मानुरूप शास्त्रों से भी प्रचुर मात्रा में उनका संग्रह किया गया है। इस विषय में सुन्दर उपमा का एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा।

अरुणजलजराजीमुग्धहस्ताग्रपादा बहुलमधुपमाला कज्जलेन्दीवराक्षी।
अनुपतति विरावैः पत्रिणां व्याहरन्ती रजनिमचिरजाता पूर्वसन्ध्या सुतेव॥

(शिशु० व० ११।४०)

[रात बीत गई है। पूर्वसन्ध्या (प्रातःकाल) आ रही है। जिस प्रकार कमल के समान सुन्दर हाथ-पैर वाली, आँखों में मनोहर अञ्जन लगाकर कोई बालिका अपने बालसुलभ तोतले शब्दों को कहती हुई अपनी माता के पीछे-पीछे दौड़ती है, उसी भाँति पूर्वसन्ध्या—जिसके लाल कमल की श्रेणी ही हाथ-पाँव हैं, भ्रमरमालारूपी कज्जल से युक्त कमल ही जिसके नेत्र हैं—पक्षियों के शब्दों से बोलती हुई रात्रि के पीछे-पीछे दौड़ती चली आ रही है।]

शास्त्रीय उपमाओं के सौन्दर्य के लिए रस शास्त्र की यह उपमा कितनी सुन्दर, विशद तथा चमत्कारपूर्ण है—

स्थायिनोऽर्थे प्रवर्तन्ते भावाः सञ्चारिणो यथा।
रसस्येकस्य भूयांसस्तथा नेतुर्महीभृतः॥

(शिशु० व० २।८७)

बौद्ध दर्शन में स्कंधपंचक को ही आत्मा मानते हैं। इस उपमा की अवतारणा राजनीति के मुख्य तत्त्व को समझाने के लिए कितनी सुन्दरता से माघ ने की है—

सर्वकार्यशरीरेषु मुक्त्वाङ्गस्कन्धपञ्चकम्।
सौगातानामिवात्मान्यो नास्ति मन्त्रो महीभृताम्॥

(शिशु० व० २।२८)

माघ में भी अर्थगौरव की कमी नहीं है। अर्थगौरव का तात्पर्य है थोड़े शब्दों में अधिक अर्थों का समावेश करना। इस कार्य में भी माघ का नैपुण्य अवलोकनीय है। सांख्यदर्शन के मूल सिद्धान्त एक ही पद्य में इतनी विशदता के साथ वर्णित है कि उसके भीतर समस्त सांख्य दर्शन सिमट कर वर्तमान है। इस अर्थगौरव की अभिव्यक्ति के लिए इस श्लोक का अवलोकन उचित होगा—

उदासितारं निगृहीतमानसैर्गृहीतमध्यात्मदृशा कथञ्चन।
बहिर्विकारं प्रकृतेः पृथग्विदुः पुरातनं त्वां पुरुषं पुराविदः॥

(शिशु० व० १।३३)

पदलालित्य वहाँ होता है जहाँ पदों में परस्पर मैत्री होती है, पद इतने जमे-जमाये होते हैं, इतने नपे-तुले होते हैं कि वे अपने स्थान से हटाये नहीं हटते, डिगाये नहीं डिगते। अनुप्रास की छटा ऐसे स्थानों पर विशेष रूप से पाठकों का मनोरंजन करती है। माघ के पद्यों में श्रुतिमधुर शब्दों की संगीतात्मक एकरसता वीणा के झनकार की भाँति अर्थावबोध की प्रतीक्षा बिना किए ही हृदय को रसाप्लुत बना डालती है। यमक पर आश्रित द्रुतलम्बित की यह रुचिरता माघ के पदविन्यास की विशेषता है। बसन्तकालीन शोभा का निदर्शक एक दो पद्य ही पर्याप्त होगा—

वदनसौरभलोभपरिभ्रमद्   भ्रमरसंभ्रमसंभृतशोभया।
चलितया विदधे कलमेखला कलकलोऽलकलोलदृशान्यया॥
मधुरया मधुबोधितमाधवी मधुसमृद्धिसमेधितमेधया।
मधुकराङ्गनया मुहुरुन्मदध्वनिभृता निभृताक्षरमुज्जगे॥

(शिशु० व० ६।२०)

माघ की कविता में कलापक्ष की कमनीयता एक अविस्मरणीय घटना है। वक्रोक्ति से मण्डित तथा शाब्दिक और आर्थिक चमत्कार के उत्पादक अलंकारों से सुसज्जित पदविन्यास ही माघ की दृष्टि में सच्चे काव्य का निदर्शन है। मेरी दृष्टि में माघ के प्रवीण पद्य उस गुलदस्ते के समान हैं जिसे माली ने अनेक रंगीन फूलों के मञ्जुल मिश्रण से तैयार किया है और जो खूब कटे-छटे नपे-तुले होने से विदग्धजनों के मनोविनोद की नयनाभिराम कलात्मक वस्तु

होते हैं। कवि में वस्तु के अन्तस्तल को परखने की क्षमता है तथा उसे सुन्दर शब्दों में प्रकट करने की अद्भुत कला है। माघ की रमणीयता की भावना सौन्दर्य शास्त्र का एक रहस्यमय मन्त्र है—

क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति
तदेव रूपं रमणीयतायाः

जो क्षण-क्षण में नवीनता को प्राप्त करता है, वही पुरातन या फीका नहीं पड़ता। वही तो रमणीयता का रूप है। प्रातःकालीन सूर्य का परिचित रूप हमारे कवि की दृष्टि में एक अलोकसामान्य रूप का प्रतीक बन जाता है।

माघ-काव्य के वर्णन--प्राकृतिक या मानुषिक--खूब सजीव हैं। प्रत्येक वर्णन में स्वाभाविकता पूरी प्रदर्शित की गई है। कवि की प्रकृति-पर्यवेक्षण-शक्ति का पूरा पता इन्हीं स्वाभाविक वर्णनों से भली-भाँति लगता है। इन वर्णनों में वास्तविकता भरी पड़ी है। रैवतक पर्वत, ऋतु, जलक्रीडा, सन्ध्या, चन्द्रोदय आदि का वर्णन आलंकारिक तथा साम्प्रदायिक है। माघ का प्रभात-वर्णन संस्कृत साहित्य में अनुपम माना जाता है। इसकी कल्पनायें कवि के उर्वर मस्तिष्क की मनोहर उपज है।

प्रहरकमपनीयं स्वं निदिद्रासतोच्चैः
प्रतिपदमुपहूतः केनचिज्जागृहीति।
मुहुरविशदवर्णां निद्रया शून्यशून्यां
दददपि गिरमन्तर्बुध्यते नो मनुष्यः॥
(शिशु० व० ११।४)

प्रातःकाल में झपकी लेनेवाले सिपाही का नितान्त स्वाभाविक वर्णन है। चौकीदार अपने समय को बिताकर सोना चाहता है। वह दूसरे पहरेदार को 'जागो' 'जागो' कहकर पद-पद पर जगा रहा है। वह पहरेदार जागते हुए भी सो रहा है। नींद के मारे अनर्थक आँय-बाँय कुछ शब्द करता है अवश्य, परन्तु फिर भी वह सो जाता है। जागकर भी अपने पहरे पर नहीं जाता। क्या ही सुन्दर स्वाभाविक वर्णन है!

सूर्योदय का वर्णन देखिये—

विततपृथुवरत्रा तुल्यरूपैर्मयूखैः
कलश इव गरीयान् दिग्भिराकृष्यमाणः।

कृतचपलविहङ्गालापकोलाहलाभि-
जंलनिधिजलमध्यादेष उत्तार्यतेऽर्कः ॥
(शिशु० व० ११।४४)

प्राची क्षितिज पर प्रातःकाल उदीयमान सूर्य गोलाकार अग्निपिण्ड के रूप में दिखलाई पड़ता है, जिसकी लम्बी-लम्बी किरणें चारों ओर फैली रहती हैं। मालूम पड़ता है कि यह सूर्य नहीं है, प्रत्युत एक सोने का विशाल घड़ा है, जिसे दिशा रूपी रमणियाँ चपल विहङ्गमों के कोलाहल के संग में किरणरूपी रस्मियों में बाँधकर समुद्र के जल के भीतर से बाहर निकाल रही हैं। इस पद्य में वास्तविकता की पूरी झलक है।

उधर रैवतक से बहने वाली नदियों के वर्णन में कवि के हृदयपक्ष का भी हमें पूरा परिचय मिलता है—

अपशङ्कमङ्क-परिवर्तनोचिताः
चलिताः पुरः पतिमुपेतुमात्मजाः।
अनुरोदितीव करुणेन पत्त्रिणां
विरुतेन वत्सलतयैष निम्नगाः॥
(शिशु० व० ४।४७)

(यह रैवतक पर्वत पक्षियों के करुण रुदन के बहाने उसकी गोदी में विना किसी डर-भय के लोट-पोट करने वाली नदी रूपी पुत्रियों के अपने पति समुद्र के घर मिलने के लिए जाते समय जान पड़ता है कि रो रहा है।]

कन्या के पतिगृह जाने के समय पिता का हृदय चाहे वह कितना भी कठोर क्यों न हो पिघल जाता है और वह जोरों से रोने लगता है। रैवतक के विषय में कवि की यह उक्ति कितनी मार्मिक है—इसके ऊपर विशेष कहने की आवश्यकता नहीं।

माघ प्रतिभा के धनी कवि हैं। इनकी प्रतिभा वर्णन करने में कभी पुरानी उक्ति का सहारा नहीं लेती, प्रत्युत नूतन उपमा तथा दृष्टान्त का व्यूह खड़ी कर देती है। आकाश से उतरने वाले नारद का वर्णन इस तथ्य को प्रकट करने के लिए पर्याप्त होगा। राज-दरबार में रहने पर भी कवि ने इस काव्य में सामान्य जनजीवन की बड़ी सुन्दर झाँकी प्रस्तुत की है। माघ हमारे ग्रामजीवन के नाना रूपों के चित्रित करने में सिद्ध लेखनी के धनी कवि हैं।

लज्जा के मारे सीधे न देखकर बगीचे की ओट से कृष्ण को देखने वाली लज्जालु ग्रामीण बधू, गोणी के बड़े बोझ से बलबलाने वाला ऊँट, साड़िनियों के कारण तितर-बितर होने वाला जनसमूह—आदि सब माघ के स्वानुभूति से चित्रित पदार्थ हैं। धान की उन रखवालिनियों का वर्णन सचमुच बड़ा ही सुन्दर है, जो सुग्गों से धान को बचाने के लिए एक ओर ज्यों ही दौड़कर जाती हैं त्यों ही दूसरी ओर से मृगों का आक्रमण उन्हें व्याकुल बना डालता है। बेचारी कभी इधर दौड़ती हैं, तो कभी उधर—

स व्रीहिणां यावदपासितुं गता
शुकान् मृगैस्तावदुपद्रुतश्रियान् ।
केदारिकाणामभितः समाकुलाः
सहासमालोकयति स्म गोपिकाः ।।
(शिशु० व० १२।४२)

माघ 'पण्डित कवि' कहे जाते हैं, परन्तु मैं तो इसे प्रायोवाद ही मानता हूँ। उनका शिशुपालवध सचमुच संस्कृत साहित्य का एक उज्ज्वल हीरक है, जिसकी प्रभा आज भी उसी विमलता के साथ चमक रही है। सामान्य जनता के हृदय के चित्रण में तथा अभिजात जनों के वर्णन में, कोमल पदावली के विन्यास में तथा उदात्त कल्पना के चमत्कार में शिशुपालवध देववाणी का मनोरम शृंगार है—इसमें दो मत नहीं हो सकते।

—×—

६. कुमारदास

कुमारदास सिंघल के निवासी, संस्कृत के महाकवि थे। उनकी एक मात्र रचना 'जानकीहरण' बहुचर्चित महाकाव्य है, जिसमें रामायण की कथा का आधार लेकर कवि ने बड़ी ही सुन्दर काव्यकला का प्रदर्शन किया है। कुमारदास का व्यक्तित्व आज भी पूरे तौर पर निर्णीत नहीं हुआ है। वे राजा थे या सामान्य जन ? यह प्रश्न आज भी यथार्थ उत्तर की अपेक्षा रखता है। सिंहल देश की किंवदन्ती के अनुसार कुमारदास वहाँ के राजा थे, कालिदास की कविता के प्रेमी थे। उनके निमन्त्रण पर कालिदास लंका गये और वहीं

स्वर्गवासी हो गये। कुमारदास अपने प्रिय मित्र के आकस्मिक वियोग से इतने क्षुब्ध हुये कि उन्होंने मित्र की चिता पर अपने प्राण दे दिये। इस किंवदन्ती का ऐतिहासिक महत्त्व अनिर्णीत है, परन्तु जानकीहरण के अन्तिम २० वें सर्ग के अन्त में उपलब्ध चार पद्यों से इनके जीवनचरित का जो कुछ परिचय मिलता है वह पूर्वोक्त किंवदन्ती का साक्षात् विरोधी है। उन पद्यों से यही पता चलता है कि (१) कवि के पूज्य पिता का नाम मानित था, जो विद्वान् होने के अतिरिक्त लंकानरेश कुमारमणि के सेनानी तथा वीर योद्धा थे। (२) कवि के दो मातुल थे—मेघ तथा अग्रबोधि नामक। ये दोनों भी बड़े शूर-वीर थे। (३) इन दोनों ही मामाओं ने पैदा होने के समय से ही कवि को पुत्र के समान बड़े लाड़-प्यार से पाला-पोसा, क्योंकि कवि के पिता युद्ध में मारे गये थे और कवि जन्म से ही व्याधिग्रस्त थे। जानकीहरण की रचना में कवि को इन दोनों मातुलों से सहायता प्राप्त हुई थी।

इन पद्यों की समीक्षा से स्पष्ट है कि कुमारदास लंका के राजा नहीं थे, प्रत्युत लंकाधिपति कुमारमणि के आश्रित एक वीर और विद्यानुरागी वंश में उत्पन्न हुये थे। व्याधिग्रस्त होने के कारण ये रण-क्षेत्र में न जाकर साहित्यक्षेत्र में रम गये।

समय

ग्रन्थ के समय का पता उसके उद्धरणों से लगता है। राजशेखर (९२० ई०) से भी प्राचीन माधव वर्मा द्वारा रचित 'जानाश्रयी छन्दोविचिति' छन्दः-शास्त्रीय ग्रन्थ में जानकीहरण के दो पद्य (१।३० तथा १।३७) उद्धृत हैं। माधववर्मा का शासनकाल ५८० ई० ६२० ई० है। फलतः जानकीहरण का समय इतः पूर्व होना चाहिए; सप्तमशती के आरम्भ में ६०० ई० के आसपास। इस प्रकार कुमारदास का समय भारवि तथा माघ के मध्ययुग के अन्तर्गत मानना सर्वथा उचित है।

ग्रन्थ

इनके महाकाव्य का नाम जानकीहरण[1] है, जो २० सर्गों में विभक्त है। राजा दशरथ की कथा से आरम्भ कर रावणवध के अनन्तर राम के राज्याभिषेक

---

१. सम्पूर्ण महाकाव्य का अविराम संस्करण दो स्थानों से प्रकाशित है—
(क) पण्डित व्रजमोहन व्यास कृत हिन्दी अनुवाद के साथ प्रयाग से, १९६६; (ख) सिंहल की साहित्य एकेडमी द्वारा प्रकाशित १९६८।

तक की कथा विस्तार के साथ वर्णित है। कवि कालिदास के रघुवंश की कथा को अपना आदर्श मानता है । राजशेखर की दृष्टि से रघुवंश के रहते जानकीहरण पर काव्य लिखने की क्षमता कुमारदास में मानना नितान्त उचित है—

जानकीहरणं कर्तुं रघुवंशे स्थिते सति ।
कविकुमारदासश्च रावणश्च यदि क्षमः ॥

कालिदास की अपेक्षा कुमारदास भारवि के ही विशेष अनुरागी प्रतीत होते हैं, जिनका आश्रयण कर उन्होंने नगर, नायिका-नायक, जलक्रीडा, रतोत्सव आदि का विशद वर्णन किया है, किन्तु वे हमेशा सावधान रहे कि ये वर्णन अनुचित रूप से लम्बे न हों। इस औचित्याश्रयण में ये कालिदास के सहज अनुगामी हैं। कविता में सरलता तथा स्वाभाविकता की कमी नहीं है। बालकाण्ड से सम्बद्ध इन श्लोकों की निसर्गता पर दृष्टिपात करें—

राजा दशरथ के बाण से विद्ध श्रवणकुमार की ये उक्तियाँ कितनी स्वाभाविक, सरस तथा मर्मस्पर्शी हैं—

एकं त्वया साधयतापि लक्ष्यं नीतं विनाशं त्रितयं निरागः ।
मच्चक्षुषा कल्पितदृष्टिकृत्यौ वृद्धौ वने मे पितरावहं च ॥

[हे राजन् ! तुमने एक ही लक्ष्य पर बाण छोड़ा, परन्तु निरपराधी तीन मनुष्यों का तुमने नाश कर डाला। मेरी ही आँखों से दृष्टि का काम लेने वाले मेरे बूढ़े माता-पिता और मैं—ये तीनों एक ही बाण से मारे गये ।]

राम की बाल-लीला में कितनी स्वाभाविकता है—

न स राम इह क यात इत्यनुयुक्तो वनिताभिरग्रतः ।
निजहस्तपुटावृताननो विदधेऽलीकनिलीनमर्भकः ॥

[राम को खोजती हुई स्त्रियाँ चारों ओर पुकारती थीं कि राम यहाँ नहीं हैं, कहाँ चले गये ? उधर वह बालक अपने हाथों से नेत्रों को बन्द कर आँख मिचौनी खेल रहा था ।]

प्रकृति का कोमल मधुर भाव कुमारदास को नितान्त प्रिय था, तभी तो प्रभात का यह कमनीय चित्र सहृदयों के लिए अनुपम रत्न है। भाषा कितनी साफ-सुथरी और भाव कितने सरस-सुबोध हैं—

विरामः शर्वर्या हिमरुचिरपास्तोऽस्तशिखरं
किमद्यापि स्वापस्तव मुकुलिताम्भोरुहदृशः।
इतीवायं भानुः प्रमदवनपर्यन्तसरसीं
करेणाऽऽताम्रेण प्रहरति विबोधाय तरुणः॥
(जा० ह० ३।७८)

[प्रभात का वर्णन है। सरसी अलसाई हुई प्रमदवन तक फैली हुई है। उसके कमलरूपी नेत्र मुदे हैं। इतने में तरुण सूर्य का उदय हो रहा है। वह अपने आताम्र (ताँबे की तरह लाल) कर (किरण तथा हाथ) से सरसी को थपकियाँ देता हुआ जगा रहा है—यह कह कर कि रात बीत चली; शीतरश्मि चन्द्रमा अस्ताचल पर चले गये। अरी मुकुलित कमलनयने ! तू अभी तक सो रही है ? अरी, जल्दी उठ।

कुमारदास रससिद्ध कालिदास की कोटि को नहीं छूते, परन्तु अलंकृत काव्यकला के आचार्य भारवि, माघ तथा श्रीहर्ष जैसे महान् कवियों के साथ उनकी गणना अपरिहार्य रहेगी।

—×—

७. रत्नाकर

मा स्म सन्तु हि चत्वारः प्रायो रत्नाकरा इमे।
इतीव स कृतो धात्रा कवी रत्नाकरोऽपरः॥
(राजशेखर)

रत्नाकर काश्मीर के महाकवियों की रत्नमालिका के मध्यमणि हैं। काव्य का पूर्ण लालित्य इनकी कविता में लक्षित होता है। इनके पिता का नाम 'अमृतभानु' था। ये 'बालबृहस्पति' की उपाधि धारण करनेवाले काश्मीर नरेश चिप्पट जयापीड (८०० ई०) के सभापण्डित थे। इस बात का उल्लेख उन्होंने अपने को 'बालबृहस्पत्यनुजीविनः' लिखकर किया है। ये दीर्घजीवी प्रतीत होते है, क्योंकि कल्हण ने इन्हें अवन्तिवर्मा (८५५-८८४ ई०) के राज्यकाल में प्रसिद्धि प्राप्त करने की घटना का उल्लेख किया है—

मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः॥

अतः साधारण रीति से हम कह सकते हैं कि ये नवम शतक के प्रथमार्द्ध में विद्यमान थे।

इनके महाकाव्य का नाम 'हरविजय' है। यह संस्कृत महाकाव्यों में परिमाण तथा गुण की दृष्टि से श्रेष्ठ माना जाता है। इसमें पूरे पचास सर्ग हैं। कम से कम इस काव्य का विपुल परिमाण ही इसकी अद्वितीयता का पर्याप्त परिचायक है, परन्तु काव्यगुणों के चमत्कार के कारण भी यह काव्य सचमुच अद्वितीय है। रत्नाकर के समय माघ की विपुल ख्याति थी। उस काव्य को दबा डालने के उद्देश्य से ही रत्नाकर ने इस महाकाव्य का प्रणयन किया है। माघ वैष्णव थे। उन्होंने अपने काव्य को 'लक्ष्मीपतेश्चरितकीर्त्तनमात्र-चारु' (अर्थात् भगवान् कृष्ण के चरितकीर्तन के कारण सुन्दर) कहा है। उसी प्रकार शिवभक्त रत्नाकर ने अपने काव्य को 'चन्द्रार्धचूल-चरिताश्रय-चारु' लिखा है। कवि की यह गर्वोक्ति कि उनकी ललित, मधुर, सालंकार, प्रसाद-मनोहर, विकट यमक तथा श्लेष से मण्डित, चित्रमार्ग में अद्वितीय वाणी को सुनकर बृहस्पति के चित्त में भी शंका उत्पन्न हो जाती है—निरी गर्वमयी उक्ति ही नहीं है, उसके सत्य होने का पर्याप्त कारण भी विद्यमान है—

ललितमधुराः सालङ्काराः प्रसादमनोहरा
विकटयमकश्लेषोद्गारप्रबन्धनिरर्गलाः ।
असदृशगतीश्चित्रे मार्गे ममोद्गिरतो गिरो
न खलु नृपते चेतो वाचस्पतेरपि शङ्कते ॥

कथानक तो बहुत ही स्वल्प है—शंकर के द्वारा अन्धक असुर का वध; परन्तु इसे अलंकृत, परिष्कृत तथा रसपेशल बनाने में कवि ने कुछ उठा नहीं रखा है। जलक्रीडा, संध्या, चन्द्रोदय, समुद्रोल्लास, प्रसाधन, विरह, पानगोष्ठी आदि के वर्णन में १५ सर्ग खर्च किये गये हैं। भाषा के सौन्दर्य में, ललित पदों की मैत्री में, नवीन चमत्कारी अर्थ की कल्पना में, अभिनव वर्णनों के उपन्यास में, शब्दों के अद्भुत प्रभुत्व में यह महाकाव्य संस्कृत साहित्य में बेजोड़ है, यह कथन पुनरुक्तिमात्र है। माघ सचमुच रत्नाकर के सामने काव्यप्रतिभा के प्रदर्शन में हतप्रभ से दीख पड़ते हैं। रत्नाकर का अध्यात्मशास्त्र का ज्ञान भी पूर्ण, बहुमुख तथा परिनिष्ठित था। छठे सर्ग में लगभग दो सौ सुन्दर श्लकों में भगवान् की बड़ी ही पाण्डित्यपूर्ण स्तुति है, जिसके एक-एक पद्य से इनका गहरा शास्त्रानुशीलन प्रकट होता है। ४७वें सर्ग की 'चण्डिका-स्तुति' इनके शाक्तागाम के उच्च ज्ञान को अभिव्यक्त कर रही है। इस महनीय काव्य में ४३२१ पद्य हैं जिनमें 'वसन्ततिलका' को प्रचुरता है। क्षेमेन्द्र ने रत्नाकर की 'वसन्ततिलका' की प्रशंसा की है—

वसन्ततिलकारूढा वाग्वल्ली गाढसङ्गिनी।
रत्नाकरस्योत्कलिका चकास्त्याननकानने।

रात के अन्धकार में प्रियतम गृह जाने वाली अभिसारिकायें उपकार सूचित करने के लिये केशपाश के रूप में अन्धकार को सिर पर चढ़ा रही हैं—

व्यक्तोपकारमधुना स्थगितासु दिक्षु
प्रेयोगृहं सुखमलक्षितमेव यामः।
धम्मिल्लबन्धरुचिरैरभिसारिकाभिः
प्रेम्णा तमश्चिरमितीव शिरोभिरूढे॥
(ह० वि० १९।४३)

चन्द्रोदय के ऊपर कवि की यह समासोक्ति सचमुच अनुपम है—

स्रस्तान्धकारवसनां रजनीपुरन्ध्रि-
मालिङ्गति प्रियासुधास्रुतिदिक्सखीभिः।
दूरं मृणाल - शकलामल - तन्मयूख-
हासच्छटाञ्चितमुखीभिरवावसस्रे॥
(ह० वि० २०।४७)

भगवान् की स्तुति का यह पद्य नितान्त अभिराम है—

अपि बालकोटिशतभागविग्रहः
बहुपाधिकामपि विधाय पद्धतिम्।
स्थित एक एव भगवन्नहो
भवान् विदधाति चेतसि न कस्य विस्मयम्॥
(ह० वि० ३३।११७)

—०—

८. क्षेमेन्द्र

संस्कृत के कवियों में क्षेमेन्द्र का स्थान अद्वितीय है। इन्होंने साहित्य के विभिन्न विषयों पर अपनी लेखनी चलायी है। इन्होंने संस्कृत में इतने अधिक ग्रन्थों की रचना की है जिसका वर्णन करना कठिन है। सम्भवतः महाभारत के प्रणेता व्यास के बाद रचना की विपुलता को ध्यान में रखते हुये दूसरा स्थान

आप ही को देना पड़ेगा। दूसरी बात यह है कि जिस प्रकार व्यास जी ने लोकोपकार के लिये अनेक ग्रन्थों की रचना की उसी प्रकार इन्होंने भी नीति तथा शिक्षा देने वाले और लोकव्यवहार को सिखलाने वाले कई ग्रन्थों का प्रणयन किया है। शायद इन्हीं दोनों कारणों से ये अपने को 'व्यासदास' भी लिखा करते थे[1]।

जीवन-वृत्त

ये काश्मीर के एक धनाढ्य ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुये थे। इनके पितामह का नाम 'सिन्धु' तथा पिता का नाम 'प्रकाशेन्द्र' था। इनके पिता बड़े दानी थे। इन्होंने अपने पिता के विषय में लिखा है कि वे मेरु के समान उदार और कल्याणप्रद सम्पत्ति से युक्त थे तथा उनके गृह में असंख्य ब्राह्मणों का भोजन हुआ करता था[2]। क्षेमेन्द्र ने आचार्य अभिनवगुप्त से साहित्यविद्या पढ़ी थी[3]। इस प्रकार काश्मीर के सर्वश्रेष्ठ साहित्य के विद्वान् के ये शिष्य थे। इन्होंने साहित्यविद्या से अपनी आचार्यता और निपुणता अच्छी तरह से अभिव्यक्त की है। ये योग्य गुरु के योग्य शिष्य थे। ये काश्मीर के राजा अनन्त (१०२८ ई० से १०६३ ई०) और कलश (१०६३–१०८९ ई०) के राज्य काल में विद्यमान थे। इस प्रकार इनका समय एकादश शतक का मध्यकाल समझना चाहिए। इन्होंने अपने ग्रन्थ दशावतारचरित की समाप्ति ४१ लौकिकाब्द (१०६६ ई०) में की। संभवतः यह उनका अन्तिम ग्रन्थ है। शैव-मण्डल में रहकर भी ये परम वैष्णव थे, जिसका कारण भागवताचार्य सोमपाद की शिक्षा का प्रभाव था।

---

१. इत्येष विष्णोरवतारमूर्तेः कथामृतास्वादविशेषभक्त्या।
श्रीव्यासदासान्यतमाभिधेन क्षेमेन्द्रनाम्ना विहितः स्ववाग्रयः॥
(दशावतारचरित १०।४१)

२. यस्य मेरोरिवोदारकल्याणपूर्ण-सम्पदः।
अगण्येयमभूद् गेहे यस्य भोज्यं द्विजन्मनाम्॥
(बृहत्कथामञ्जरी १९।६२)

३. श्रुत्वाऽभिनवगुप्ताख्याद् साहित्यं बोधवारिधेः।
आचार्यशेखरमणेः विद्या-विवृतिकारिणः॥
(बृहत्कथामञ्जरी १९।३७)

ग्रन्थ

इन्होंने अनेक विपुलकाय ग्रन्थों की रचना की है, जिनमें प्रधान ये हैं:— (१) रामायण-मञ्जरी, (२) भारत-मञ्जरी, (३) बृहत्कथा-मञ्जरी। ये तीनों ग्रन्थ क्रमशः रामायण, महाभारत और गुणाढ्य की बृहत्कथा के कवित्वमय सारांश हैं। ये तीनों स्वतन्त्र काव्यमय ग्रन्थ हैं। (४) दशावतारचरित—इनका नितान्त प्रौढ महाकाव्य है, जिसमें भगवान् विष्णु के दशावतारों का बड़ा ही रोचक तथा विस्तृत वर्णन है। (५) बोधिसत्त्वावदान-कल्पलता—इसमें बौद्ध जातक की कथाओं का बड़े ही सुन्दर तथा सुबोध पद्यों में वर्णन है। इसके अतिरिक्त इनके लघुकाय ग्रन्थों में (६) कला-विलास, (७) चतुर्वर्ग-संग्रह, (८) चारुचर्या, (९) नीतिकल्पतरु, (१०) समय–मातृका, (११) सेव्य-सेवकोपदेश नितान्त प्रसिद्ध हैं।

कविता

क्षेमेन्द्र ने सच्चा कवि-हृदय पाया था। संसार का इन्हें पूर्ण अनुभव था। ये भली-भाँति जानते थे कि संसार के प्रलोभन इतने अधिक हैं कि वे कच्चे हृदयों को अपनी ओर खींचकर दुर्गति के गड्ढे में गिराने के लिये सदा तैयार रहते हैं। जगत्-कल्याण की इसी भावना से प्रेरित होकर इन्होंने अपने नीतिमय ग्रन्थों की रचना की है। इनकी भाषा बड़ी ही मीठी, सरस तथा सुबोध है। न तो कहीं पाण्डित्य का प्रदर्शन है और न कहीं शब्द में अनावश्यक चमत्कार उत्पन्न करने का व्यर्थ प्रयास है। इनकी भाषा में प्रवाह है। पदावली इतनी स्निग्ध है कि कहीं भी अनमेल शब्दों का प्रयोग नहीं दीखता।

दूसरे की स्त्री को चुराना कितना बड़ा अपराध है यह कवि के शब्दों में ही सुनिये:—

सर्वापकारः सुकृतप्रहारः क्लेसावतारः कुशलापसारः।
शीलापचारः कुपदाभिसारः पापप्रकारः परदारहारः॥

(दशावतारचरित ७।११९)

अरण्यवास के आनन्द का यह वर्णन कितना सुन्दर है—

दयितजनवियोगोद्वेगरोगातुराणां
विभवविरहदैन्यम्लानमानाननानाम्।
शमयति शितशल्यं हन्त नैराश्यनश्य-
द्भवपरिभवतान्तिः शान्तिरत्ने वनान्ते॥

अब इनके कुछ नीति के श्लोक दिये जाते हैं —

अद्वेषपेशलं कुर्याद् मनः कुसुमकोमलम्।
बभूव द्वेषदोषेण देवदानव-संक्षयः॥
यत्नेन शोषयेद् दोषान् न तु तीव्रव्रतैस्तनुम्।
तपस्या कुम्भकर्णोऽभूद् नित्यनिद्राविचेतनः॥
कविभिर्नृपसेवासु वित्तालङ्कारहारिणि।
वाणी वेश्येव लोभेन परोपकरिणी कृता॥

—×—

९. मङ्खक

निष्कलङ्कं तवैकस्य श्रीमङ्ख कवितादभुतम्।
स्पष्टोक्तिर्यस्य नास्तुत्य-स्तुतिकीर्तनपांसुभिः॥

(तेजकण्ठ)

क्षेमेन्द्र के बाद एक शताब्दी के भीतर ही काश्मीर के एक दूसरे महाकवि ने नवीन महाकाव्य रचा। इनका नाम मंखक है। 'श्रीकण्ठचरित' में मंखक ने भगवान् शंकर और त्रिपुर के युद्ध का साहित्यिक वर्णन प्रस्तुत किया है। अपने कैलाशवासी पिता के आदेश से कवि ने इसका प्रणयन किया था। प्रसिद्ध आलंकारिक 'रुय्यक' इनके गुरु थे। ये गुरु-शिष्य काश्मीर के राजा जयसिंह (११२९-५० ई०) के सभापण्डित थे।

श्रीकण्ठचरित में २५ सर्ग हैं। मूल कथानक तो छोटा है, पर महाकाव्य की पूर्ति के लिये दोला, पुष्पावचय, जलक्रीडा, सन्ध्या, चन्द्र, चन्द्रोदय, प्रसाधन, पानकेलि, क्रीडा तथा प्रभात का विस्तृत वर्णन ७वें सर्ग से लेकर १६वें सर्ग तक क्रमशः किया गया है। २५वां सर्ग तो तत्कालीन काश्मीरी कवियों का साहित्यिक वर्णन है, जो कवि के ज्येष्ठ भ्राता अमात्य 'अलंकार' की सभा को अलंकृत करते थे। यह बड़ा ही जीवन्त तथा रोचक वर्णन है। इसका साहित्यिक मूल्य बहुत ही अधिक है। कविता उच्च कोटि की है। काश्मीरी कवियों की कविता का एक राग ही अलग है, जिसकी माधुरी सहृदयों को बरबस अपनी ओर आकृष्ट करती है। पदों का सुन्दर विन्यास, अर्थों की मनोहर कल्पना, भक्ति का उद्रेक—इसकी कुछ विशिष्टतायें हैं। द्वितीय सर्ग में कवि और काव्य की मार्मिक समीक्षा है। रमणीय उक्तियों में दोष का पता उसी प्रकार जल्दी चलता है जिस प्रकार धुले हुए वस्त्र में जरा सा धब्बा—

सूक्तौ शुचावेव परे कवीनां
सद्यः प्रमादस्खलितं लभन्ते ।
अधौतवस्त्रे चतुरं कथं वा
विभाव्यते कज्जलबिन्दुपातः ।
(२।६)

बिना कठिन परिक्षा के कविता का गुण नहीं ज्ञात होता । बिना आँधी के मणिदीप और साधारण दीपक का अन्तर नहीं मालुम पड़ता—

नो शक्य एव परिहृत्य दृढां परीक्षां
ज्ञातुं मितस्य महतश्च कवेर्विशेषः ।
को नाम तीव्रपवनागममन्तरेण
भेदेन वेत्ति शिखिदीपमणिप्रदीपौ ।
(२।३७)

ये उक्तियाँ मंखक के समीक्षात्मक विचार को प्रकट करती हैं ।

अन्धकार का यह वर्णन कितना मौलिक, चमत्कारपूर्ण और मनोरम है । कवि कहता है कि सायंकाल का सूर्य जगत् के व्यवहार की गणना करने वाले भगवान् का सोने का बना हुआ मसीपात्र (दावात) है । सायंकाल में जब वह (सूर्य) उल्टा मुख करके गिर पड़ता है तो वही काली स्याही दावात से निकल कर सारे संसार में अन्धकार के रूप में फैल जाती है—

किन्नु कालगणनापतेर्मषीभाण्डमर्यमवपुर्हिरण्मयम् ।
तत्र यद्विपरिवर्तिताननेलिम्पति स्म धरणिं तमोमषी ॥
(श्रीकण्ठचरित १०।१९)

—×—

१०. श्रीहर्ष

तावद् भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः ।
उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः ॥

श्री हर्ष के पिता का नाम 'हीर' तथा माता का नाम 'मामल्लदेवी' था । हीर पण्डित काशी के राजा गहड़वालवंशी विजयचन्द्र की सभा के प्रधान

पण्डित थे। सभा में किसी एक विशिष्ट पण्डित के साथ इनका शास्त्रार्थ हुआ। सुनते हैं कि यह विशिष्ट विद्वान् मिथिला देश के प्रसिद्ध नैयायिक उदयनाचार्य थे। शास्त्रार्थ में हीर हार गये। मरते समय श्रीहर्ष से कह गये कि मुझे पराजय होने का बड़ा दुःख है। यदि तुम सुपुत्र हो तो उस पण्डित को शास्त्रार्थ में अवश्य जीतना। श्रीहर्ष ने गंगा के तट पर 'चिन्तामणि' मंत्र का वर्ष भर तक जप किया। भगवती त्रिपुरा प्रत्यक्ष हुई। अप्रतिभ पण्डित्य का वरदान दिया। श्रीहर्ष की वैदुषी ऐसी प्रखर निकली कि इनकी कविताओं को कोई समझता ही न था, अतः पुनः तपस्या करनी पड़ी। भगवती ने कहा—आधी रात के समय माथे को जल से गीला रखो और दही पीओ। श्रीहर्ष ने वैसा ही किया। तब कहीं जाकर लोग इनके काव्यों को समझने में समर्थ हुए। समय के साथ इनकी ख्याति फैलने लगी। एक दिन ये यथासमय विजयचन्द्र की सभा में गये और सभा में जाते ही राजा की प्रशस्ति में यह सुन्दर पद्य कह सुनाया—

गोविन्दनन्दनतया च वपुःश्रिया च
मास्मिन् नृपे कुरुत कामधियं तरुण्यः।
अस्त्रीकरोति जगतां विजये स्मरः स्त्री-
रस्त्री जनः पुनरनेन विधीयते स्त्री॥

कश्मीर में इनके ग्रन्थ का बड़ा आदर किया गया। प्रसिद्धि है कि ये मम्मट के भांजे थे।

श्रीहर्ष के ऊपर लिखित वृत्तान्त की परिपुष्टि नैषध में उल्लिखित कथनों से ठीक-ठीक होती है। पिता का 'हीर' तथा माता का 'मामल्लदेवी' नाम था[1]। कान्यकुब्ज के राजा की सभा में इनका बड़ा सम्मान होता था, क्योंकि इन्होंने कान्यकुब्जेश्वर से आसन तथा पान के बीड़ा मिलने की बात लिखी है[2]। कान्यकुब्ज (कन्नौज) के राजा जयचन्द्र की सभा में श्रीहर्ष रहते थे।

---

१. श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरं सुतं
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम्।
यह पद्यार्ध प्रत्येक सर्ग के अन्तिम श्लोक में आता है।

२. ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्।
(२२ सर्ग का अन्तिम पद्य)

सम्भवतः जयचन्द्र के पिता विजयचन्द्र के दरबार में भी ये बहुत दिन तक रहे होंगे, क्योंकि इन्हीं के नाम पर कविवर ने 'विजयप्रशस्ति' लिखी थी[1]। कश्मीर में इनके काव्य की बड़ी प्रशंसा हुई थी। इस वृत्तान्त को कविवर ने स्वयं लिखा है[2]। इस प्रकार ऊपर लिखित घटनायें सत्य प्रमाणित होती हैं और श्रीहर्ष कान्यकुब्ज के नरेश विजयचन्द्र तथा जयचन्द्र की सभा के एक परम मूल्यवान् रत्न ठहरते हैं।

योग्यता

श्रीहर्ष केवल प्रथम कक्षा के महाकवि ही नहीं थे, प्रत्युत ऊँचे दर्जे के प्रकाण्ड पण्डित भी थे। श्रीहर्ष में पाण्डित्य तथा वैदग्ध्य का अनुपम सम्मिलन था। ये जिस प्रकार हृदयकली को खिलानेवाली स्वभावतः मधुर कविता लिखने में नितान्त दक्ष थे, उसी प्रकार मस्तिष्क को आश्चर्यान्वित करनेवाली अनेक पण्डितों का मदचूर्ण करनेवाली, तर्ककर्कशा वाणी के गुम्फन में भी अत्यन्त प्रवीण थे। जिस श्रीहर्ष ने काव्यकला के अनुपम शृङ्गारभूत नैषधीय-काव्य की रचना की है, उसी श्रीहर्ष ने प्रखर पाण्डित्य के चूडान्त निदर्शन रूप 'खण्डनखण्डखाद्य' जैसे उच्चकोटि के वेदान्त ग्रन्थ की भी सृष्टि की है। जिस श्रीहर्ष ने अपनी मनोहारिणी कविता के कारण कश्मीरदेश में अपनी विमलकीर्ति-पताका फहराई, उसीने जयचन्द्र के दरबार में अपने पूज्य पिता को परास्त करने वाले मानी तार्किक-प्रकाण्ड उदयन का भी मद चूर्ण कर डाला। कविवर की यह उक्ति नितान्त युक्ति-युक्त है—

> साहित्ये सुकुमारवस्तुनि दृढन्यायग्रहग्रन्थिले
> तर्के वा मयि संविधातरि समं लीलायते भारती।
> शय्या वास्तु मृदूत्तरच्छदवती दर्भाङ्कुरैरास्तृता
> भूमिर्वा हृदयङ्गमो यदि पतिस्तुल्या रतिर्योषिताम्॥

इस वचन को सुनकर ही उस तार्किक को अपनी हार माननी पड़ी और इनकी श्रेष्ठता स्वीकार करनी पड़ी थी—

---

१. तस्य श्रीविजयप्रशस्तिरचना तातस्य............(५५०)
२. काश्मीरैर्महिते चतुर्दशतयीं विद्यां विदद्भिर्महा-   (१६।१३१)

हिंस्राः सन्ति सहस्रशोऽपि विपिने शौण्डीर्यवीर्योद्यता-
स्तस्यैकस्य पुनः स्तुवीमहि महः सिंहस्य विश्वोत्तरम् ।
केलिः कोलकुलैर्मदो मदकलैः कोलाहलं नाहलैः
संहर्षो महिषैश्च यस्य मुमुचे साहङ्कृते हुङ्कृते ।।

सच तो यह है कि श्रीहर्ष को हुये आज लगभग आठ सौ वर्ष व्यतीत हो गये, परन्तु इस दीर्घ काल में केवल पण्डितराज जगन्नाथ को छोड़ इनके जोड़ का कोई कवि हुआ ही नहीं ।

हमारे चरित्रनायक केवल कवि-पण्डित ही नहीं थे, प्रत्युत एक प्रचण्ड साधक तथा उन्नत योगी भी थे। कहा जा चुका है गुरु से दीक्षा लेकर श्रीहर्ष ने चिन्तामणि मन्त्र को सिद्ध किया था, जिससे प्रसन्न होकर भगवती सरस्वती ने इन्हें अलौकिक प्रतिभा प्रदान की थी । चिन्तामणि मंत्र का उद्धार तथा मंत्र जपने का उच्चफल कवि ने स्वयं नैषध में सरस्वती के मुख से कहलाया है । जब चिन्तामणि मंत्र के जापक के किसी व्यक्ति के सिर पर हाथ रख देने से वह सुन्दर श्लोकों की अनायास ही रचना करने लगता है, तब पावन गंगा के तीर पर इस परम प्रसिद्ध मंत्र को सिद्ध करने वाले श्रीहर्ष ने अद्भुत कल्पनामय नैषधकाव्य की रचना कर डाली, इसमें कौन सा आश्चर्य है ? अपने योगी होने की बात भी स्वयं उन्होंने ही लिखा है कि वे समाधि में ब्रह्मानन्द का आस्वादन किया करते थे । धन्य है ऐसा परमश्लाघनीय महात्मा कवि और धन्य है उसकी लोकोत्तर कल्पना का विकाश तथा अद्भुत पाण्डित्य की प्रखरता ! अपने महाकाव्य के अन्त में श्रीहर्ष ने अपने विषय में जो लिखा है वह निःसन्देह सत्य है :—

ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वराद्
यः साक्षात्कुरुते समाधिषु परं ब्रह्मप्रमोदार्णवम् ।
यत् काव्यं मधुवर्षि धर्षितपरास्तर्केषु यस्योक्तयः
श्री-श्रीहर्षकवेः कृतिः कृतिमुदे तस्याभ्युदीयादियम् ।।

आविर्भाव काल

ऊपर दी गई श्रीहर्ष की जीवनी पढ़ने से पाठकों को पता चल ही गया होगा कि ये कान्यकुब्ज नरेश जयचन्द्र की सभा में विद्यमान थे। जयचन्द्र के वंश वाले राजपूत गहड़वाल कहलाते थे। एगारहवीं तथा बारहवीं सदी में

इस वंश का उत्तरीय भारत में बड़ा नाम था। ये लोग कन्नौज के राजा कहलाते थे। परन्तु पीछे चलकर इन्होंने काशी को अपनी राजधानी बनाई। जयचन्द्र काशी से ही अपने विस्तृत साम्राज्य पर शासन करते थे। ये वही जयचन्द्र हैं जिनके नाम को साधारण लोगों ने बदनाम कर रखा है। वास्तव में ऐतिहासिकों की नई खोज ने इनके सब कलङ्कों का मार्जन कर डाला है। इनके पिता विजयचन्द्र तथा इन्होंने ११५६ ईस्वी से लेकर ११९३ ईस्वी तक राज्य किया था। अत एव कविवर श्रीहर्ष का आविर्भाव-काल विजयचन्द्र तथा जयचन्द्र के सभापण्डित होने के कारण द्वादश शताब्दी का उत्तरार्ध ठहराता है।

ग्रन्थ

श्रीहर्ष ने अनेक ग्रन्थों की रचना की। इन सब ग्रन्थों का नाम कविवर ने अपने नैषधीयचरित में उल्लिखित किया है। नैषध में उल्लेख-क्रम से ग्रन्थों के नाम नीचे दिये जाते हैं :—

(१) स्थैर्य-विचारण प्रकरण—नाम से ही यह ग्रन्थ दार्शनिक विषय पर लिखा हुआ जान पड़ता है। अनुमान से कहा जा सकता है कि इसमें क्षणिकवाद का निराकरण होगा।

(२) विजय-प्रशस्ति—जान पड़ता है कि इस ग्रन्थ में जयचन्द्र के पिता विजयचन्द्र की, जो उस समय के प्रसिद्ध योद्धा तथा विजयी वीर थे, प्रशंसात्मक प्रशस्ति लिखी गई थी। गुरुवर महामहोपाध्याय पण्डित रामावतार शर्माजी इस ग्रन्थ को ऐतिहासिक ग्रन्थ कहा करते थे।

(३) खण्डनखण्डखाद्य—श्रीहर्ष का यही प्रसिद्ध वेदान्त-ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ वेदान्त शास्त्र का एक अनुपम रत्न है। इसमें नैयायिक तर्क प्रणाली का अनुसरण कर लेखक ने न्याय के सिद्धान्तों का खण्डन तथा अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों का मण्डन किया है। पाण्डित्य की दृष्टि से यह ग्रन्थ उच्च कोटि का है और श्रीहर्ष की अलोकसामान्य शास्त्र-चातुरी को प्रदर्शित कर रहा है।

(४) गौडोर्वीशकुलप्रशस्ति—नं० २ की तरह यह भी प्रशस्ति है, जिसको ग्रन्थकार ने किसी गौड-भूमि (बंगाल) के राजा की प्रशंसा में बनाया था।

(५) अर्णव-वर्णन—नाम से ही समुद्र का वर्णन जान पड़ता है।

(६) छिन्द-प्रशस्ति—छिन्द नामक किसी राजा के विषय में लिखी गई काव्य-पुस्तक जान पड़ती है। 'छिन्द' किस देश का राजा था और उसका निवास-स्थान कहाँ था ? यह आज कल बिल्कुल अज्ञात है।

(७) शिवशक्तिसिद्धि—यह ग्रन्थ शिव तथा शक्ति की साधना के विषय में लिखा गया प्रतीत होता है। कहीं-कहीं शक्ति के स्थान पर 'भक्ति' पाठ है। तदनुसार इसका 'शिवभक्तिसिद्धि' भी नाम हो सकता है।

(८) नवसाहसाङ्कचरितचम्पू—श्रीहर्ष के शब्दों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उन्होंने नवसाहसांक के चरित्र को चम्पू के रूप में वर्णन किया था। 'नवसाहसांक' राजा भोज के पिता सिन्धुराज का विरुद विख्यात है। पद्मगुप्त ने 'नवसाहसांकचरित' नामक महाकाव्य में सिन्धुराज के ही चरित का बखान किया है। आज नहीं कहा जा सकता कि श्रीहर्ष का यह चम्पू सिन्धुराज के विषय में था अथवा 'नवसाहसांक' विरुदधारी किसी अन्य राजा के विषय में।

९) नैषधीयचरित—इस महाकाव्य में निषध देश के अधिपति राजा नल के पावन चरित्र का बड़ी ही उत्तम रीति से वर्णन किया गया है। इसमें २२ लम्बे-लम्बे सर्ग हैं जिसमें २८३० श्लोक हैं। तिसपर नल-चरित्र का एक देश ही श्रीहर्ष ने वर्णन किया है। आरम्भ में राजा नल का विशद वर्णन है; नल का मृगया-विहार, हंस का ग्रहण तथा मुक्ति का हाल है। राजा हंस को दमयन्ती के पास भेजते हैं। हंस वहाँ जाता है और अकेले में नल के सौन्दर्य का वर्णन करता है। दमयन्ती के पूर्वानुराग का बड़ा ही प्रशस्त वर्णन है। राजा भीम अपनी कन्या दमयन्ती के लिये स्वयंवर की रचना करते हैं। इन्द्र, वरुण, अग्नि और यम देवता भी दमयन्ती के अलोकसामान्म रूपवैभव की कथा सुनकर स्वयंवर में पधारना चाहते हैं। प्रथम ये देवता राजा नल को ही तिरस्कारणी विद्या के सहारे अपना दूत बना कर महल में भेजते हैं। नल देवताओं की ओर से खूब पैरवी करते हैं, परन्तु दमयन्ती का नलविषयक निश्चय तनिक भी नहीं डिगता। स्वयंवर रचा जाता है। चारो देवता नल का ही रूप धारण कर सभा में उपस्थित होते हैं। सरस्वती स्वयं उस सभा में आती है और राजाओं का परिचय देती है। नल की प्रतिकृति वाले पाँच पुरुषों को देख दमयन्ती घबड़ा जाती है। अन्त में देवतागण उसकी पतिभक्ति से प्रसन्न होकर अपने विशिष्ट चिह्नों को प्रकट करते हैं, जिनसे दमयन्ती राजा नल को सहज ही में पहचान लेती है। दोनों का विवाह होता है। जब देवतागण स्वर्ग को

लौटते हैं तब कलि के साथ घनघोर वाग्युद्ध छिड़ जाता है। देवता कलि को हरा कर नास्तिकवाद का मुँहतोड़ उत्तर देते हैं। नल दमयन्ती के प्रथम मिलनरात्रि का रुचिर वर्णन कर ग्रन्थ समाप्त होता है। संक्षेप में नैषध का यही सार है। जिस प्रकार 'खण्डनखण्डखाद्य' श्रीहर्ष के दार्शनिक ग्रन्थों में मुकुट-मणि है, उसी प्रकार यह नैषध उनके काव्यों का अलङ्कार है।

उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः

श्रीहर्ष की कविता संस्कृत साहित्य की एक मनोहर वस्तु है। शब्दों का सुन्दर विन्यास तथा भावों का समुचित निवेश किस सहृदय के मन को नहीं हरण कर लेता? कविवर ने अपने महाकाव्य को 'शृङ्गारामृत-शीतगुः'—शृङ्गाररूपी अमृत के लिये चन्द्रमा कहा है, यह वास्तव में ठीक ही है। श्रीहर्ष ने शृङ्गाररस के वर्णन करने में बड़ी सहृदयता दिखलाई है। विप्रलम्भ के लम्बे-लम्बे रमणीय वर्णनों को पढ़कर जिस प्रकार हृदय में आनन्द उत्पन्न होता है उसी प्रकार संभोग का मधुर रूप देख चित्त प्रफुल्लित हो उठता है। अलंकारों से कविजी ने अपनी भारती को इस प्रकार विभूषित किया है कि उसकी भव्यमूर्ति देखते ही बनती है। अलंकारों में उपमा, रूपक, यमक, अतिशयोक्ति, श्लेष—सबका उचित प्रयोग श्रीहर्ष की कविता में पाया जाता है। श्लेष-काव्य लिखने में इनकी बड़ी प्रवीणता झलकती है। नैषध में पञ्चनली (१३।३४) प्रसिद्ध ही है जहाँ कविवर ने श्लेष से एक ही पद्य में पाँचों नलों का वर्णन किया है। अतिशयोक्ति की कथा मत पूछिये। श्रीहर्ष के समान कल्पना की ऊँची उड़ान बहुत कम कवियों में दीख पड़ती है। उसी प्रकार उपमा तथा रूपक का विन्यास भी प्रशंसनीय है।

संस्कृत भाषा पर श्रीहर्ष का इतना प्रभुत्व है कि उचित शब्द आप ही आप अनायास जुटे चले आते हैं। पदशय्या इतनी सुन्दर बन पाई है कि एक पद के हेर-फेर से कविता-कामिनी के रूप को विकृत होने का भय लगा हुआ है। उसी प्रकार अर्थों की सूझ है। श्रीहर्ष ने 'एकामत्यजतो नवार्थघटनाम्' की जो प्रतिज्ञा की है उसे सचमुच पूरी कर दिखाई है। एक ही विषय पर कई श्लोकों में लम्बे-लम्बे भी वर्णन हैं; पर क्या मजाल कि अर्थ की पुनरावृत्ति हो। जब देखिये तब नये भाव, जब पढ़िये तब नवीन शब्दावली। श्रीहर्ष के समान पद तथा अर्थ का इतना मनोहर सन्निवेश साहित्य में बहुत ही दुर्लभ है। सबसे विलक्षण है इनकी अलोकसामान्य काव्य-प्रतिभा। इस प्रतिभा

के बल पर इन्होंने किसी भाव को अछूता नहीं छोड़ा है। शास्त्रों के अर्थ का भी सन्निवेश किया है परन्तु बड़े ही मार्मिक ढंग से। कविता के इन्हीं गुणों के कारण रसिक पण्डित-मण्डली नैषध के सामने किरात तथा शिशुपालवध को फीका बतलाती है।

अब श्रीहर्ष को कविता के कुछ नमूने दिये जाते हैं—

तदोजसस्तद्यशसः स्थिताविमौ
वृथेति चित्ते कुरुते यदा यदा।
तनोत्ति भानोः परिवेषकैतवात्
तदा विधिः कुण्डलनां विधोरपि॥

(नैष० १।१४)

कवि राजा नल का वर्णन कर रहा है कि राजा के प्रबल प्रताप तथा उज्वल कीर्ति को जब कभी ब्रह्मा देखते हैं तब सूर्य तथा चन्द्रमा को वृथा समझ कर उनके चारों ओर परिवेष के व्याज से व्यर्थता सूचक कुण्डलना लगा देते हैं।

चन्द्रमा में दीख पड़ने वाले कलङ्क के विषय में श्रीहर्ष ने बड़ी अनूठी बातें कहा है। दो सूक्तियाँ यहाँ दी जाती हैं—

यदस्य यात्रासु बलोद्धतं रजः
स्फुरत्प्रतापानलधूममञ्जिम।
तदेव गत्वा पतितं सुधाम्बुधौ
दधाति पङ्कीभवदङ्कतां विधौ॥

(नैष० १।८)

विजय यात्रा के लिये जब राजा की सेनायें चलीं, तब उनके चलने से उसके प्रतापानल के धुएं की तरह काली-काली धूलि चारों ओर छा गई थी। सागर में वही धूलि जाकर गिरी अतः समुद्र मन्थन के समय पंकीभूत उस धूलि को आज भी चन्द्रमा अपने अंक में धारण कर रहा है।

हृतसारमिवेन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनाय वेधसा।
कृतमध्यबिलं विलोक्यते धृतगम्भीरखनीखनीलिम॥

(नैषी० २।२५)

दमयन्ती के मुख को रचना करने के लिये ब्रह्मा ने चन्द्रमण्डल के सारभाग को काट लिया है। अतः चन्द्रमा के मध्य में जो छिद्र बन गया है उसी के द्वारा अत्यन्त नीले आकाश की नीलिमा दीख रही है, ये कलङ्क क्या हैं ? नभोमण्डल की नीलिमा दिखाने वाले बिल हैं।

सन्ध्याकाल का वर्नन पढ़िये—

कालः किरातः स्फुटपद्मकस्य
वधं व्यधाद् यस्य दिनद्विपस्य।
तस्यैव सन्ध्यारुचिरास्रधारा
ताराश्च कुम्भस्थलमौक्तिकानि॥
(नैष० २२।१९)

कालरूपी किरात ने विकसित कमल रखनेवाले दिवसरूपी (सूंढपर लाल बिन्दुओं को धारण करने वाले) हाथी को मार डाला है। यही कारण है कि सन्ध्या के रूप में उसकी रुचिर रुधिरधारा दीख पड़ती है, तथा उसके मस्तक के जो मोती बिखरे हैं वे ही गगनमण्डल में उदित तारायें हैं। क्या ही रमणीक रूपक है !

आदाय दण्डं सकलासु दिक्षु
योऽयं परिभ्राम्यति भानुभिक्षुः।
अब्धौ निमज्जन्निव तापसोऽयं
सन्ध्याभ्रकाषायमधत्त सायम्॥

यह भानुरूपी भिक्षु (संन्यासी) दण्ड लेकर सब दिशाओं में दिनभर घूमता रहा है। अब सायंकाल को जलाशय में स्नान करने के लिये मानो वह सन्ध्याकाल के लाल गगनमण्डलरूपि काषाय वस्त्र को अपने शरीर के ऊपरी भाग पर धारण कर रहा है। सूर्य के अस्त होने के समय का यह रक्त आकाश नहीं बल्कि किसी स्नानार्थी संन्यासी का रक्त काषाय वस्त्र रखा हुआ जान पड़ता है। क्या ही मौलिक सूझ है !

ऊपर कहा गया है कि श्रीहर्ष बड़े भारी दार्शनिक थे। नैषध का सतरहवां सर्ग दार्शनिकता से ओतप्रोत है, परन्तु अन्य सर्गों में भी इनका दर्शन-ज्ञान स्पष्ट झलक रहा है। इन्होंने शास्त्रकारों को बड़ी फबतियां सुनाई है। 'औलूक' नाम धारण करने वाला वैशेषिक दर्शन ही अन्धकार के स्वरूप का वर्णन करने में पूरा समर्थ है , इसका वर्णन कवि ने बड़े ही अच्छे ढंग से किया है:—

ध्वान्तस्य वामोरु विचारणायां
वैशेषिकं चारु मतं मतं मे।
औलूकमाहुः खलु दर्शनं तत्
क्षमं तमस्तत्त्वनिरूपणाय॥

—×—

११. हरिचन्द्र

जैन महाकवियों में धर्मशर्माभ्युदय के रचयिता महाकवि हरिचन्द्र का नाम विशेष उल्लेखनीय है। जैन साहित्य में इस महाकाव्य का वही स्थान तथा आदर है जो माघ-काव्य तथा नैषध-काव्य को प्राप्त है। ग्रन्थकार का समय निश्चित नहीं है। ये नोमक नामक वंश में उत्पन्न हुये थे। ये जाति के कायस्थ थे। इनके पिता का नाम 'आर्द्रदेव' और माता का नाम 'रथ्या देवी' था। हर्षचरित के आरम्भ में बाणभट्ट ने जिस भट्टार हरिचन्द्र का उल्लेख किया है[1] उनसे तो इन्हें भिन्न ही मानना पड़ेगा, क्योंकि भट्टार हरिचन्द्र गद्य के लेखक थे, महाकाव्य के नहीं। कर्पूरमञ्जरी की प्रथम जवनिका में हरिचन्द्र का नाम सादर उल्लिखित है। ये ही कवि 'धर्मशर्माभ्युदय' काव्य के रचयिता हैं, यह भी कथन संदेश रहित नहीं है, परन्तु ये कवि पुराने अवश्य हैं। संभवतः ये एकादश शताब्दी में उत्पन्न हुये थे। इनके ग्रन्थ की एक हस्तलिखित प्रति का समय १२८७ वि० सं० है। अतः इस संवत् से पूर्व ही इनका अविर्भाव हुआ होगा। वाग्भट ने 'नेमि-निर्वाण' काव्य में धर्मशर्माभ्युदय की शैली की छाया ग्रहण की है। 'नेमि-निर्वाण' की रचना १२वीं सदी में हुई थी। अतः इससे भी इनका समय एकादश शतक ही ठहरता है।

धर्मशर्माभ्युदय काव्य में २१ सर्ग हैं, जिसमें पन्द्रहवें तीर्थङ्कर धर्मनाथ जी का चरित वर्णित है। इस काव्य की भाषा बड़ी ही सुन्दर तथा अलंकृत है।

यह काव्य वैदर्भी रीति का आश्रय लेकर लिखा गया है। शब्द-सौष्ठव तथा नवीन अर्थ की कल्पना के लिये यह काव्य प्रसिद्ध है। कवि आलोचकों के

---

१. पदबन्धोज्ज्वलो हारी कृतवर्णक्रमस्थितिः।
भट्टारहरिचन्द्रस्य गद्यबन्धो नृपायते॥

विषय में कह रहा है कि रमणीय काव्य होने पर भी कतिपय विदग्ध ही उससे आनन्द ले सकते हैं। जैसे चञ्चल-नयनी सुन्दरी के कटाक्ष-विक्षेप करने पर तिलक नामक वृक्ष ही खिल उठता है, अन्य वृक्ष नहीं।

श्रव्येऽपि काव्ये रचिते विपश्चित् ।
कश्चित्, सचेताः परितोषमेति
उत्कोरकः स्यात् तिलकश्चलाक्ष्याः,
कटाक्षभावैरपरे न वृक्षाः ॥
१।१७

अपने पुत्र को गोदी में लेने से जो आनन्द प्राप्त होता है उसका सुन्दर तथा अनुभूत वर्णन कवि के ही शब्दों में सुनिये :—

न चन्दनेन्दीवरहारयष्टयो
न चन्द्ररोचींषि न चामृतच्छटाः ।
सुताङ्गसंस्पर्शसुखस्य निस्तुलां
कलामयन्ते खलु षोडशीमपि ॥

—×—

ऐतिहासिक महाकाव्य

लोगों में एक धारण सी फैली हुई है कि भारतवर्ष के साहित्य में ऐतिहासिक ग्रन्थों का अस्तित्व नहीं है। कुछ लोगों का तो यहाँ तक कहना है कि भारतीय लोग ऐतिहासिक भावना से परिचित ही न थे। परन्तु ये धारणाएँ नितान्त निराधार हैं। भारतीय साहित्य में पुराणों के साथ इतिहास वेद के समकक्ष माना जाता है। ऋक् संहिता में ही इतिहास से युक्त मन्त्र हैं[1]। छान्दोग्य उपनिषद् में सनत्कुमार के पास ब्रह्मविद्या सीखने के समय अपनी अधीत विद्याओं में नारद मुनि ने इतिहास-पुराण को पञ्चम वेद बतलाया है[2]। यास्क ने निरुक्त में ऋचाओं के विशदीकरण के लिये ब्राह्मण ग्रन्थ तथा प्राचीन आचार्यों की

१. त्रितं कूपेऽवहितमेतत् सूक्तं प्रति बभौ। तत्र ब्रह्मेतिहासमिश्र-मृङ्मिश्रं गाथा-मिश्रं भवति—निरुक्त ४।६।

२. ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि, यजुर्वेदं सामवेद माथर्वणम् इतिहास-पुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्—छान्दोग्य ७।१।

कथाओं को 'इतिहासमाचक्षते' ऐसा कहकर उद्धृत किया है। वेदार्थ के निरूपण करने वाले विभिन्न सम्प्रदायों में ऐतिहासिकों का भी एक अलग सम्प्रदाय था, इसका स्पष्ट परिचय निरुक्त से चलता है—'इति ऐतिहासिकाः'। इतना ही नहीं वेदों के यथार्थ अर्थ को समझने के लिये इतिहास-पुराण का अध्ययन आवश्यक बतलाया गया है। व्यास का स्पष्ट कथन है कि वेद का उपबृंहण इतिहास और पुराण के द्वारा होना चाहिये, क्योंकि इतिहास-पुराण से अनभिज्ञ लोगों से वेद सदा भयभीत रहता है[1]। राजशेखर ने उपवेदों में इतिहास वेद को अन्यतम माना है। कौटिल्य ने ही सबसे पहले इतिहास वेद की गणना अथर्ववेद के साथ की है, तथा उसके अन्तर्गत पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र तथा अर्थशास्त्र का अन्तर्भाव माना है[2]। इतने पुष्ट प्रमाणों के रहते हुए भारतीयों को इतिहास की कल्पना से ही शून्य मानना नितान्त अनुचित है। हमारे प्राचीन साहित्य में इतिहास-विषयक ग्रन्थ थे, जो धीरे-धीरे उपलब्ध हो रहे हैं। परन्तु पाश्चात्य इतिहास-कल्पना और हमारी इतिहास-कल्पना में एक अन्तर है जिसे समझ लेना आवश्यक है। पाश्चात्य इतिहास घटना-प्रधान है, अर्थात् उसमें युद्ध आदि की घटनाओं का विवरण प्रस्तुत करना ही मुख्य उद्देश्य रहता है। इसके विपरीत भारतीय कल्पना के अनुसार घटना-वैचित्र्य विशेष महत्त्व नहीं रखता। हमारे जीवन सुधार से उनका जहाँ तक लगाव है वहीं तक हम उन्हें उपादेय समझते आये हैं।

संस्कृत के कवियों ने अपने आश्रयदाताओं के चरित्र को रोचक भाषा में लिखकर उसे व्यापक बनाने का प्रयत्न किया है। यह उनका प्रयत्न विशुद्ध ऐतिहासिक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वे कभी-कभी अपने आश्रयदाताओं के जन्म आदि की आवश्यक तिथियों का भी उल्लेख नहीं करते। बाणभट्ट ने 'हर्षचरित' लिखकर ऐतिहासिक काव्य के लिखने की परिपाटी आरम्भ की। गुप्त काल के कवि वत्सभट्टि आदि ने कतिपय प्रशस्तियाँ ही प्रस्तुत की थीं।

---

१. इतिहास-पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति
(महाभारत)

२. अथर्ववेद इतिहासवेदौ च वेदाः। पश्चिमं (अहर्भागं) इतिहासश्रवणे। पुराणमितिवृतमाख्यायिकोदाहरणं धर्मशास्त्रमर्थशास्त्रं चेतीतिहासः— अर्थशास्त्र, २ प०।

१२. पद्मगुप्त (परिमल)

संस्कृत का सबसे पहला ऐतिहासिक महाकाव्य 'नवसाहसाङ्कचरित' है, जिसमें धारा के प्रसिद्ध नरेश भोजराज के पिता सिन्धुराज (नवसाहसाङ्क) का विवाह शशिप्रभा नामक राजकुमारी के साथ वर्णित है। रचयिता का नाम है पद्मगुप्त परिमल। ये पहले सिन्धुराज के जेठे भाई वाक्पतिराज उपाधिधारी राजा मुञ्ज के सभाकवि थे। मुञ्ज बड़े गुणग्राही तथा स्वयं सरस्वती के उपासक थे। उनकी मृत्यु के अनन्तर पद्मगुप्त ने अपने को निराश्रय पाया। परन्तु सिन्धुराज ने कविवर का इतना सत्कार किया कि उनकी प्रसन्नता कविता के रूप में प्रकट हुई। इस प्रकार यह ग्रन्थ १००५ ईस्वी के लगभग लिखा गया। इस महाकाव्य में १८ सर्ग हैं। इसके १२वें सर्ग में सिन्धुराज के पूर्ववर्ती समस्त परमारवंशी राजाओं का कालक्रम से वर्णन है जिसकी सत्यता शिलालेखों से प्रमाणित हो चुकी है। काव्य की दृष्टि से यह महाकाव्य वैदर्भी रीति का उत्कृष्ट उदाहरण है। वैदर्भी अपने पूर्ण शृङ्गार के साथ इसमें प्रकट हुई है। प्रसाद गुण की चारुता अवलोकनीय है। प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में कवि सिद्धहस्त है। कालिदास की कविता का जितना सफल अनुकरण इस महाकाव्य में दृष्टिगोचर हो रहा है उतना अन्यत्र मिलना दुर्लभ है।

पद्मगुप्त के लिये कालिदास आदर्श हैं। वैदर्भी रीति में प्रसाद और माधुर्य को आश्रित कर रुचिर कविता का प्रणयन कवि का वैशिष्ट्य है। कालिदास के विषय में यह कवि कहता है कि उन्होंने प्रसाद तथा माधुर्य और उज्ज्वल अलंकारों के द्वारा वाणी को विभूषित किया था।

प्रसादहृद्यालङ्कारैस्तेन सूतिरभूष्यत।
अत्युज्ज्वलैः कवीन्द्रेण कालिदासने वागिव॥

यह वैशिष्ट्य पद्मगुप्त की कविता में भी उपलब्ध होता है। अतः यह आश्चर्य की बात नहीं है कि इनकी कविता का उदाहरण काव्य पारखी मम्मट ने अपने 'काव्यप्रकाश' में दिया है। काव्यप्रकाश में विषमालंकार के उदाहरण में उद्धृत यह श्लोक पद्मगुप्त की लोकप्रियता का परिचायक है—

सद्यः करस्पर्शमवाप्य चित्रं रणेरणे यस्य कृपाणलेखा।
तमालनीला शरदिन्दुपाण्डु यशस्त्रिलोक्याभरणं प्रसूते॥

श्लोक का आशय है कि तमाल के समान नीले रङ्ग वाली तलवार राजा के करस्पर्श को पाकर शरद्कालीन चन्द्रमा के समान यश उत्पन्न कर रहा है। यहाँ कारण गुण एवं कार्य गुण में विरोध है। कृष्ण गुण से शुक्ल गुण की उत्पत्ति होने की घटना का वर्णन करना कवि की प्रतिभा का विलास है।

यह काव्य साहित्यिक दृष्टि से जितना उपादेय है, उतना ही वह ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्व रखता है। परमार राजाओं के यथार्थ इतिहास को जानने के लिए यह महाकाव्य नितान्त उपादेय है। यह स्पष्ट बतलाता है कि वाक्पति राज के अनन्तर सिन्धुराज राजगद्दी पर बैठे। तदनन्तर भोजराज का शासन आरम्भ हुआ। यह कथन उस लोकप्रसिद्धि का पूर्णतः खण्डन करता है जो भोज को वाक्पतिराज के अनन्तर शासक बतलाती है।

— × —

१३. बिल्हण

दूसरा ऐतिहासिक महाकाव्य इतिहास के घटनाचक्र पर विशेष जोर देता है। इस काव्य का नाम 'विक्रमाङ्कदेव-चरित' है, जिसके रचयिता महाकवि बिल्हण कश्मीर के निवासी थे। १८वें सर्ग में कवि ने अपने जीवनचरित का बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया है। उनके प्रपितामह का नाम मुक्तिकलश था, पितामह का राजकलश तथा पिता का ज्येष्ठकलश। उनकी माता का नाम नागादेवी था। इष्टराय और आनन्द उनके दो भाई थे। आश्रयदाता की खोज में बिल्हण कश्मीर से निकल पड़े और मथुरा, कन्नौज, प्रयाग, काशी आदि अनेक स्थानों को पार करते हुए वे दक्षिण भारत के कल्याण नगर के चालुक्यवंशीय प्रसिद्ध नरेश विक्रमादित्य षष्ठ (१०७६—११२७ ई०) के दरबार में जा पहुँचे। गुणग्राही राजा ने इनका खूब स्वागत किया।

'विक्रमाङ्कदेव-चरित' में इन्हीं विक्रमादित्य तथा उनके वंश का विस्तृत वर्णन दिया हुआ है। ऐतिहासिक घटनाओं के निर्देश करने में बिल्हण ने इतनी तत्परता दिखलाई है कि यह काव्य कल्याण के चालुक्यवंशी नरेशों का इतिहास जानने के लिये परम उपयोगी हो गया है। काव्य की दृष्टि से बिल्हण वैदर्भी मार्ग के कवि हैं। ग्रन्थ के १८हों सर्गों में माधुर्य तथा प्रसाद का पर्याप्त पुट है। इस कवि की प्रौढि प्राचीन साहित्यिकों में चिरकाल से प्रसिद्ध है। इनकी अनूठी सूक्तियाँ विदग्धों की जिह्वा पर नाचा करती हैं। रसों में वीर तो

प्रधान है ही, परन्तु शृङ्गार तथा करुण का पुट भी कम मनोरंजक नहीं है। विल्हण के काव्य में कुछ विलक्षण प्रौढि है जिससे विदग्धहृदय सदा से इनकी कविता पर रीझता आया है। इनका कहना है कि कवीश्वरों के भावों को अन्य कवि कितना भी ग्रहण करते जायँ उनमें किसी प्रकार की न्यूनता नहीं आती। राक्षसों ने असंख्य रत्नों को छीन लिया, तथापि आज भी समुद्र रत्नाकर ही बना हुआ है।

गृह्णन्तु सर्वे यदि वा यथेष्टं नास्ति क्षतिः कापि कवीश्वराणाम्।
रत्नेषु लुप्तेषु बहुष्वमर्त्यैरद्यापि रत्नाकर एव सिन्धुः॥

ये राजदरबार में कविजनों के रखने के तथा प्रतिष्ठा देने के बड़े भारी पक्षपाती हैं। इनका कथन है कि राम का यश जगत् में फैलाने का तथा रावण के यश के संकुचित होने का एकमात्र कारण महर्षि वाल्मीकि ही हैं। इसलिये कविजनों का तिरस्कार कभी नहीं करना चाहिये।

लङ्कापतेः संकुचितं यशो यत् यत्कीर्तिपात्रं रघुराजपुत्रः।
स सर्व एवादिकवेः प्रभावो न कोपनीया कवयः क्षितीन्द्रैः॥

सुन्दर रसीली कविता को सुनकर भी उसके दोषों को खोजने में ही दुर्जन लोग लगे रहते हैं। सुन्दर केलि-वन में आने पर भी ऊँट केवल काँटों को ही खोजता है, कोमल फूलों तथा पत्तों की ओर उसकी दृष्टि कदापि नहीं जाती :—

कर्णामृतं सूक्तिरसं विमुच्य दोषे प्रयत्नः सुमहान् खलानाम्।
निरीक्षते केलिवनं प्रविष्टः क्रमेलकः कण्टकजालमेव॥
(१।२९)

साहित्यविद्या से अनभिज्ञ लोगों के ऊपर कवियों की उक्तियों का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। स्त्रियों के न भींगे हुये केशों के ऊपर काले अगुरु और धूप का वास क्या प्रभाव कर सकता है?

कुण्ठत्वमायाति गुणः कवीनां साहित्यविद्याश्रमवर्जितेषु।
कुर्यादनार्द्रेषु किमङ्गनानां केशेषु कृष्णागुरु-धूपवासः॥
(१।१७)

—x—

१४. कल्हण

इनकी लिखी हुई 'राजतरङ्गिणी' विशुद्ध इतिहास के रूप में ग्रहण की गई है। इसमें काश्मीर के राजाओं का इतिहास बहुत प्राचीन काल से आरम्भ करके १२वें शतक तक साङ्गोपाङ्ग रूप से दिया गया है। कवि ने आरम्भ में अपने कुल का भी इतिहास दिया है। कश्मीर-नरेश जयसिंह (११२७-११४९) के राज्यकाल में कल्हण ने इस ग्रन्थ की रचना की थी। इनके गुरु का नाम 'अलकदत्त' था, जिसका मंखक ने 'श्रीकण्ठचरित' में वर्णन किया है। कल्हण तो काश्मीरी नाम है, इसका संस्कृत रूप 'कल्याण' है जिसे मंखक ने अपने काव्य में दिया है। बिल्हण की कविता का इन्होंने पर्याप्त अनुशीलन किया था। इसीलिये इनके काव्य को उनकी कविता से 'संक्रान्त' कहा गया है। इन्होंने ११४९ ई० में ग्रन्थ आरम्भ किया और दूसरे वर्ष उसे समाप्त कर दिया।

जीवन-वृत्त

कल्हण का जन्म काश्मीर के एक ब्राह्मण कुल में हुआ था। इनके पिता चणपक (चम्मक ?) महाराज हर्ष (१०८९-११०१) के विश्वासपात्र राजनैतिक सचिव थे। हर्ष के वध किये जाने पर इन्होंने राजनीति में भाग लेना छोड़ दिया। इनके चाचा 'कनक' भी राजा हर्ष के प्रियपात्रों में से थे, जिनकी मृत्यु के अनन्तर ये काशी चले आये और यहाँ उन्होंने वैराग्यमय जीवन बिताया। कल्हण ने राजनीति से वञ्चित होकर अपने देश का राजनैतिक इतिहास लिखना प्रारम्भ किया। इसके लिये इन्होंने तत्कालीन उपलब्ध सामग्री का अच्छा उपयोग किया।

ग्रन्थ की महत्ता

संस्कृत साहित्य में कल्हण का एक विशेष स्थान है। घटनाओं को काल-क्रम से निबद्ध करना तथा उससे उपदेश ग्रहण करने की कला का सर्वप्रथम प्रचार इन्होंने ही किया। राजतरंगिणी में पौराणिक काल से लेकर १२वीं सदी तक का विस्तृत तथा क्रमबद्ध राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास लिखा पाया जाता है। नवम शताब्दी के पहिले का इतिहास बिल्कुल अधूरा तथा धुँधला है। अन्तिम शताब्दियों का इतिहास बड़ा ही स्पष्ट, विस्तृत और घटना-बहुल

है। कल्हण की ऐतिहासिक कल्पना राजाओं की तिथि तथा युद्ध के समय दे देने में न ीं है, बल्कि सांस्कृतिक इतिहास प्रस्तुत करने में है। इसलिये इन्होंने कवियों की भी स्थान-स्थान पर विस्तृत चर्चा की है।

काव्य सुषमा

कल्हण अपने को इतिहास वेता न मानकर विशेष रूप से कवि मानते हैं। वे जानते हैं कि सुकवि की वाणी अमृत रस का भी तिरस्कार करने वाली होती है। अमृत के पीने से केवल पीने वाला ही अमर बन सकता है, परन्तु कवि की वाणी दोनों के (अपने तथा अपने वर्णित पात्रों के) यशरूपी शरीर को अमर बना देती है—

वन्द्यः कोऽपि सुधास्यन्दास्कन्दी स सुकवेर्गुणः।
येनायाति यशःकाये स्थैर्यं स्वस्य परस्य च॥

(११३)

वह कवि की तुलना प्रजापति ब्रह्मा के साथ करते हैं; क्योंकि दोनों रम्य निर्माणशाली होते हैं तथा अतीत काल को साक्षात् प्रस्तुत करने की अलौकिक क्षमता रखते हैं—

कोऽन्यः कालमतिक्रान्तं नेतुं प्रत्यक्षतां क्षमः।
कविप्रजापतींस्त्यक्त्वा रम्यनिर्माणशालिनः॥

(११४)

राजतरंगिणी काव्यदृष्टि से भी एक महर्घ रत्न है जिसकी प्रभा आज भी उतनी ही आनन्ददायिनी है तथा जिसकी वर्णनशैली सहृदयों को आज भी अपनी सरलता और सरसता से सद्यः आवर्जित कर रही है। कल्हण वाल्मीकि तथा व्यास के काव्यरत्नों से पूर्ण परिचित तथा प्रभावित हैं। काश्मीरी कवियों में उन्होंने बिल्हण के विक्रमाङ्कदेवचरित का गाढ अनुशीलन किया था और इसका प्रभाव उनकी कविता पर पूर्ण रूप से पड़ा है। श्रीकंठ-चरित के लेखक मंखक ने स्पष्ट ही लिखा है कि कल्हण ने अपने काव्य-दर्पण को इतना रमणीय तथा साफ कर रखा है कि उसमें बिल्हण की प्रौढोक्ति सद्यः प्रतिबिम्बित होती है।[१]

---

१. तयापचस्करे येन निजवाङ्मयदर्पणः।
बिल्हण-प्रौढि-संक्रान्तौ तथा योगत्वमग्रहीत्॥
(श्रीकण्ठचरित २५।७९)

अपने प्रतिभाप्रसार तथा वैचित्र्य-वर्णन के लिए पूर्ण अवसर न पाकर उन्होंने खेद प्रकट किया है, परन्तु उनकी यह माध्यस्थ-वृत्ति हानि उत्पन्न न कर कविता के लिए लाभकारी ही सिद्ध हुई है। हर्ष की कुटिलता तथा दुष्टता को उन्होंने अपनी आँखों देखा था और देखा था उच्चल तथा सुस्सल के परस्पर संघर्ष एवं मारकाट को। फलतः जगत् के व्यापारों से उन्हें नैसर्गिक उपरति हो गई थी। इसीलिये वे शान्तरस को अपने काव्य का प्रधान रस मानते हैं। संसार के पचड़े को सूक्ष्म दृष्टि से निरखने वाले कल्हण भाग्य की दुर्दमनीयता तथा अवश्यंभाविता में पूर्ण विश्वास रखते हैं। वे अपने इतिहास को अपना काव्यकौशल प्रदर्शित करने तथा जीवन-दर्शन को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाते हैं। वह अपनी कविता को अलंकारों की सजावट, शब्दों के चमत्कार तथा चाकचिक्य से कोसों दूर रखते हैं। उनके काव्य में एक विलक्षण सरलता तथा हृदय आकर्षण करने वाली साक्षात्-वृत्तिता है। कल्हण की कविता वर्णनात्मिका है, परन्तु उसमें पर्याप्त गति है; मनोहरता है और सबसे अधिक है लेखक की स्वतः अनुभूति का अंकन, जो उसमें जीवन-शक्ति डालने में सर्वथा समर्थ हुआ है। चरित्र-चित्रण में वह नितान्त सफल है। आरम्भिक नरपति तो केवल कल्पना-प्रसूत चरित्रों की कोटि में आते हैं, परन्तु पिछले राजाओं, जैसे अनन्त, अवन्तिवर्मा हर्ष आदि का चित्रण वैयक्तिकता तथा यथार्थता से परिपूर्ण है। वणन में वह कविता के क्षुण्ण मार्ग से अपने आपको स्वतन्त्र रखते हैं और इस दृष्टि से उनका काव्य बाण तथा बिल्हण के काव्यों के प्रभूत आलंकारिक वैचित्र्य से कहीं अधिक मनोहर और हृदयावर्जक है। तथ्य यह कि कल्हण की अपनी एक विशिष्ट शैली है जिसमें अर्थ की अभिव्यक्ति ही प्रधान लक्ष्य है, घटना का अनुभूतपूर्ण विवरण ही मुख्य उद्देश्य है, और इसी से शब्दों की सजावट तथा स्निग्धता की ओर दृष्टि नहीं है।

कविकर्म की महत्ता का प्रतिपादन करता हुआ कवि कह रहा है कि अपने प्रताप से भूमण्डल को निर्भय करने वाले राजाओं का नाम तथा काम कहाँ रहता? यदि कवि की वाणी उनके चरित्र का रम्य विवरण प्रस्तुत नहीं करती—

भुज-नवतरुच्छायां येषां निषेव्य महौजसां
जलधिरशना मेदिन्यासीदसावकुतोभया।
स्मृतिमपि न ते यान्ति क्ष्मापा विना यदनुग्रहं
प्रकृतिमहते कुर्मस्तस्मै नमः कविकर्मणे॥

राजा तारापीड के दुष्ट कर्मों का अन्त हुआ—ब्राह्मणों के ऊपर आक्रमण करने से और अपनी मृत्यु से। इस वर्णन में अग्नि और मेघ का दृष्टान्त बड़ा ही सुन्दर तथा रुचिकर है :—

योऽयं जनापकरणाय श्रयत्युपायं
तेनैव तस्य नियमेन भवेद् विनाशः।
धूपं प्रसौति नयनान्ध्यकरं यमग्नि-
र्भूत्वाम्बुदः सः शमयेत् सलिलैस्तमेव ॥

अनुष्टुप् छन्द में ही समस्त ग्रन्थ की रचना है, परन्तु स्थान-स्थान पर बड़े छन्दों का भी प्रयोग वर्णन को रुचिर तथा शैली को मंजुल बनाने के लिए किया गया है। स्निग्ध काव्य-शैली में काश्मीरी राजाओं का संघर्षमय जीवन चित्रित करने में तथा सामान्य जनता के साथ प्रचुर सहानुभूति दिखलाने में राजतरंगिणी भारतीय दृष्टि से आदर्श इतिहास प्रस्तुत करने में समर्थ होती है। उसकी यह विशिष्टता भारतीय साहित्य में कल्हण की अपूर्व कृतित्व है[1]।

कल्हण की 'राजतरङ्गिणी' को पूर्ण करने का काम पीछे के लेखक करते आये हैं। ११५० ई० से लेकर १४१२ ई० तक का इतिहास जोनराज ने द्वितीय राजतरङ्गिणी में सन्निविष्ट किया है। इन्हीं के शिष्य श्रीवर ने १४७७ ई० तक का इतिहास तृतीय राजतरङ्गिणी में लिखा है। १६ वीं शती में अकबर ने कश्मीर राज्य को जीतकर अपने विशाल साम्राज्य का अंग बनाया, फलतः प्राज्यभट्ट ने १५ वीं शती के उत्तरार्ध के बाद अकबर द्वारा कश्मीरविजय तक का इतिहास निबद्ध करने के लिए चतुर्थ राजतरङ्गिणी का निर्माण किया। इस प्रकार कल्हण के द्वारा आरब्ध लेखन-परम्परा का अनुगमन कर काश्मीर के इन विद्वानों ने राजतरङ्गिणी के तीन पूरक ग्रन्थों की रचना की। अकबर बादशाह को राजतरङ्गिणी से बड़ा प्रेम था इसलिए उसने

---

१. मूल का संस्करण और अनुवाद—बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी के द्वारा, कलकत्ता, १८३५, डाक्टर स्टाइन का संस्करण १८९२ में तथा अनुवाद १९०० में, इसी समय पण्डित दुर्गाप्रसाद का सं० निर्णयसागर प्रेस बम्बई १८९२, रणजीत पण्डित का राजतरंगिणी का पूर्ण तथा प्रामाणिक अनुवाद इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद १९३५; केवल आधे भाग का (१–७ तरंगों का) हिन्दी अनुवाद, काशी १९९८ विक्रमी संवत्।

इसका अनुवाद फारसी में कराया और मुसलमान जनता के भीतर इसे लोकप्रिय बनाया।

इसका प्रथम फारसी अनुवाद कश्मीर के राजा जैन उल-आबीदीन (१४२१ ई०–१४७२ ई०) की आज्ञा से किया गया, परन्तु कठिन भाषा में होने के कारण अकबर ने कश्मीरविजय के अनन्तर अल-बदाऊँनी से चलती-फिरती फारसी में अनुवाद कराया। जहाँगीर के समय में काश्मीर के ही एक उच्चकुलीन मुस्लिम विद्वान् हैदर मलिक ने इसका फारसी में संक्षिप्त संस्करण किया।

—×—

१५. हेमचन्द्र

हेमचन्द्र (१०८९ ई०–११७३ ई०) अपने समय के एक महान् युगस्रष्टा कवि थे। उनके जीवन का लक्ष्य संसार में धर्म तथा विद्या का विस्तार करना था, केवल ग्रन्थों का प्रणयन कर अपने आश्रयदाता को रिझाना नहीं था। गुजरात के नरेश सिद्धराज जयसिंह (१२ शती) तथा उनके उत्तराधिकारी कुमारपाल (मृत्युकाल ११७४) के सभापण्डित तथा उपदेष्टा होने का श्रेय हेमचन्द्र को प्राप्त था। कुमारपाल ११४४ ई० में सिंहासनारूढ हुए और ११५२ ई० में हेमचन्द्र ने इन्हें जैनधर्म में दीक्षित किया। अपने गुरु के आदेश से राजा ने जैनधर्म के अभ्युदय के लिए अनेक कार्य किये, जिनका उल्लेख जैनग्रन्थों में विस्तार से किया गया है। ये नाना शास्त्रों के पारंगत पण्डित थे। ये एक साथ ही वैयाकरण, कवि, योगी, पुराण और इतिहास-प्रणेता, दार्शनिक तथा कोषकार थे। हेमचन्द्र की रचनायें पर्याप्तरूपेण विस्तृत हैं तथा अनेक शास्त्रों के विषय में हैं। मुख्य ग्रन्थों के नाम विषयक्रम से यहाँ दिये जाते हैं :—

(१) व्याकरण विषय में—सिद्ध-हेमचन्द्रानुशासन (स्वोपज्ञवृत्ति के साथ)।

(२) कोष—हैमनाममाला (अभिधान-चिन्तमणिनाम्नी वृत्ति के साथ); श्लोकार्थनाममाला; देशीनाममाला (देशी शब्दों का सर्वप्राचीन कोष)।

(३) छन्दः—छान्दोऽनुशासन।

(४) अलङ्कार—काव्यानुशासन (मूल ग्रन्थ की टीका 'अलंकार-चूडामणि' नाम्नी, जिसमें विषय का गम्भीर प्रतिपादन किया गया है। अभिनवगुप्त के भाष्य का विशेष अनुसरण)।

(५) काव्य—द्व्याश्रय-महाकाव्य तथा त्रिषष्टि-शलाकापुरुष।

(६) दर्शन—प्रमाणमीमांसा (जैन न्याय का वर्णन), योगशास्त्र (१२ प्रकाशों—अध्यायों में १२ सहस्र श्लोकों में समाप्त)।

हेमचन्द्र ने सिद्ध-हेमचन्द्र-शब्दानुशासन में संस्कृत तथा प्राकृत भाषाओं का व्याकरण निबद्ध किया है। इसमें चार-चार पादों के आठ अध्याय सूत्रबद्ध हैं (सूत्रों की संख्या लगभग चार हजार पाँच सौ है)। हेमचन्द्र ने स्वयं इसके ऊपर बृहद् वृत्ति भी लिखी है। इस ग्रन्थ के अन्तिम अध्याय में प्राकृत का तथा अपभ्रंश का व्याकरण लिखा गया है। इसी व्याकरण के नियमों का दृष्टान्त रूप में प्रदर्शन के हेतु इन्होंने द्व्याश्रय-काव्य जैसा सार्थक नामवाला महाकाव्य लिखा[1]। इसके दो अंश हैं—(क) संस्कृत अंश (२० सर्ग, लगभग २५०० श्लोक) जिसमें मूलराज से आरम्भ कर चामुण्डराय, वल्लभराज, दुर्लभराज, भीम, कर्ण तथा सिद्धराज जयसिंह तक का इतिहास वर्णित है। (ख) प्राकृत अंश (८ सर्ग, ७५० प्राकृत पद्य) जिसमें कुमारपाल का चरित्र वर्णित है। संस्कृत भाग पर टीका लिखी है अभयतिलक गणि ने तथा प्राकृत भाग पर पूर्णकलश गणि ने।

त्रिषष्टि-शलाका-पुरुष-चरित्र (परिशिष्ट पर्व के साथ) अर्ध ऐतिहासिक महाकाव्य है, जिसमें जैन धर्म के ६३ महावीर के पश्चात्-कालीन आदर्श महापुरुषों का जीवन चरित निबद्ध किया गया है। यह एक विशालकाय ग्रन्थ है। परिशिष्ट पर्व की रचना कर (१३ सर्ग, ३३७९ श्लोक) हेमचन्द्र ने मूलग्रन्थ को पूर्ण किया। यह महाकाव्य की विशुद्ध शास्त्रीय परिभाषा के अन्तर्गत नहीं आता, परन्तु है अपने आप में एक व्यापक विस्तृत चरित-काव्य। जैनधर्म में ६३ महापुरुष माने जाते हैं, जिन्होंने अपने जीवन-चरित में धर्म का आदर्श पूर्णतः पालन किया था। इनकी पारिभाषिक संज्ञा है—शलाका पुरुष। इन्हीं का चरित निबद्ध करनेवाला यह महान् काव्य 'चरितकाव्य' की परम्परा में अन्तर्भुक्त माना जाना चाहिए।

इतर काव्य ग्रन्थ

उस दुर्दैव को हम किन शब्दों में कोसें जिसने हिन्दू साम्राज्य के अन्तिम सम्राट् पृथ्वीराज का जीवन-चरित 'पृथ्वीराजविजय' एक ही हस्तलिखित प्रति, सो

---

१. बाम्बे संस्कृत सीरीज से प्रकाशित (संख्या ६०, ६९, तथा ७६)।

भी अधूरी—में सुरक्षित रखा है इस महाकाव्य के टीकाकार जोनराज (१४४८ के आसपास) ही काश्मीरी नहीं हैं, प्रत्युत उसका रचयिता भी उसी देश का निवासी था। जब पृथ्वीराज की कीर्ति सर्वत्र व्याप्त हो रही थी उसी समय इस ग्रन्थ को रचना हुई थी। यह ग्रन्थ ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है[1]। इसमें गुजरात के अनेक राजा और मन्त्रियों का जीवन-चरित मिलता है, जिनमें सोमेश्वर (११७९ ई०-१२६२ ई०) की 'कीर्ति-कौमुदी' आज भी प्रकाशित है[2]। गुजरात के राजा वीरधवल के गुण-ग्राही मन्त्री वस्तुपाल की कीर्ति इस महाकाव्य में गायी गयी है। इसी कवि का 'सुरथोत्सव[3]' दुर्गासप्तशती में वर्णित राजा सुरथ के चरित होने के अतिरिक्त ऐतिहासिक महत्त्व भी रखता है। अरिसिंह का 'सुकृतसंकीर्तन' नामक महाकाव्य इसी शतक की रचना है। यह महाकाव्य १२ सर्गों में निबद्ध है और मन्त्री वस्तुपाल के ही सुकृतों का कीर्तन है। सर्वानन्द ने 'जगडू-चरित' काव्य लिखकर उस परोपकारी जगडूशाह की कीर्ति को अमर बना दिया है, जिसने १२५६-५८ ई० के भीषण दुर्भिक्ष में अन्नकष्ट से मरते हुए प्राणियों को अपनी उदारता से बचाया था। गुजरात में होने वाले इस दुर्भिक्ष का बड़ा ही रोचक वर्णन इस काव्य में किया गया है। अतः इसका सामाजिक मूल्य बहुत अधिक है।

इस प्रसङ्ग में हम 'रामपाल-चरित' को नहीं भूल सकते जिसमें सन्ध्याकर नन्दी ने पालवंशीय नरेश रामपाल (१०८४-११३० ई०) का जीवन-चरित बड़ी सुन्दर भाषा में लिखा है। बङ्गाल में लिखे गये चरित-काव्यों में यही ग्रन्थ प्रधान है।

—×—

महाकाव्यका विकास

लौकिक संस्कृत में कविता लिखने का उदय वाल्मीकि से हुआ। रामायण हमारा आदि काव्य है। वाल्मीकि हमारे आदि कवि हैं। क्रौञ्चवध की घटना जो साधारण दर्शकों के हृदय में थोड़ी सी सहानुभूति उत्पन्न करने

---

१. गौरीशंकर हीरानन्द ओझा द्वारा प्रकाशित, अजमेर।
२. वाम्बे संस्कृत सीरीज (संख्या २५)।
३. काव्य-माला नं० ७३ (निर्णयसागर, बम्बई)।

में ही समर्थ होती वाल्मीकि के रससिक्त हृदय में शोकतरङ्गिणी के प्रवाहित होने का कारण बनती है और रसावेश में महर्षि का शोक श्लोक के रूप में परिणत हो जाता है। जिस अवसर पर 'मा निषाद प्रतिष्ठां त्व' के रूप में वाल्मीकि की करुण-रसाप्लुत वैखरी स्खलित हुई उसी समय भारतीय काव्य की दिशा का परिचय सहृदयों को मिल गया। काव्यतरङ्गिणी रसकूल का आश्रय लेकर प्रवाहित होती रहेगी, इसकी पर्याप्त सूचना उसी समय मिल गयी। वाल्मीकि का आदि काव्य संस्कृत भारती का नितान्त अभिराम निकेतन है। सरसता और स्वाभाविकता ही इसका सर्वस्व है। नाना रसों का मञ्जुल समन्वय, वर्णन में नितान्त स्वाभाविकता, छोटे छोटे मनोरम पदों के द्वारा भावपूर्ण मधुर अर्थों की अभिव्यक्ति—इस काव्य को विशिष्टता है। स्थान-स्थान पर वाल्मीकि ने अपने काव्य को अलंकारों से भूषित करने का भी उद्योग किया है, पर इन अलंकारों से वस्तु का सौन्दर्य और भी अधिकता में फूटता है और रसिकों के हृदय को हठात् मुग्ध बना देता है। अलंकारों के द्वारा रस की अभिव्यक्ति होती है, शोभा का विकास होता है, गुण की गरिमा बढ़ती है। वाल्मीकि के काव्य में अलंकार की छटा कम सुहावनी नहीं है। गरुड़ की यह उपमा रामचन्द्र की उदात्तता के अनुरूप ही है—

राक्षसेन्द्रमहासर्पान् स रामगरुडो महान्।
उद्धरिष्यति वेगेन वैनतेय इवोरगान्॥
(वा० रा० ५।२१।२७)

सीता के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति का यह प्रकार कितना अनूठा है—

त्वां कृत्वोपरतो मन्ये रूपकर्ता स विश्वकृत्।
नहि रूपोपमा ह्यन्या तवास्ति शुभदर्शने॥
(वा० रा० ५।२० २३)

यह समासोक्ति भी सरसता का भव्य निदर्शन है—

चञ्चच्चन्द्रकरस्पर्श - हर्षोन्मीलिततारका।
अहो रागवती सन्ध्या जहाति स्वयमम्बरम्॥
(वा० रा० ४।३०।४५)

वाल्मीकि ने बाह्य प्रकृति का बड़ा ही मार्मिक वर्णन प्रस्तुत किया है। उनके प्राकृतिक वर्णनों में सर्वत्र बिम्बग्रहण का प्राधान्य है। बिम्बग्रहण वहीं होता है जहाँ कवि अपने सूक्ष्म निरीक्षण द्वारा वस्तुओं के अंग-प्रत्यंग, वर्ण, आकृति तथा उसके आस-पास की परिस्थिति का परस्पर संश्लिष्ट वर्णन प्रस्तुत करता है। यह तभी सम्भव है जब कवि के हृदय में प्रकृति के लिए सच्चा अनुराग रहता है। वाल्मीकि का यह हेमन्त वर्णन (अरण्य, अ० १६) अनुपम है—

अवश्यायनिपातेन किञ्चित् प्रक्लिन्न शाद्वला।
वनानां शोभते भूमिर्निविष्टतरुणातपा॥
स्पृशंस्तु विपुलं शीतमुदकं द्विरदः सुखम्।
अत्यन्ततृषितो वन्यः प्रतिसंहरते करम्॥

[वन की भूमि, जिसकी हरी-हरी घास ओस गिरने से कुछ गिली सी बन गई है, तरुण धूप के पड़ने से कैसो शोभा दे रही है।, अत्यन्त प्यासा जंगली हाथी अधिकशीतल जल के स्पर्शमात्र से ही अपनी सूँढ़ को सिकोड़ लेता है।]

वाल्मीकि की काव्यशैली को हम 'रसमयपद्धति' कह सकते हैं। रस ही उसका जीवन है। स्वाभाविकता उसका भूषण है। कालिदास ने इसी शैली को अपनाकर इतना यश अर्जन किया है। इस पद्धति के दो श्रेष्ठ कवि हैं—वाल्मीकि और कालिदास।

कालिदास में वाल्मीकीय शैली का उदात्त उत्कर्ष मिलता है। कालिदास ने अपने आप को वाल्मीकि की कविता में सिक्त कर दिया था। उनसे बढ़कर रामायण का भक्त शायद ही कोई दूसरा कवि मिले। इसीलिये उनके काव्य में वाल्मीकि की मनोरम पदावली तथा मञ्जुल भाव पूर्णतया भरे पड़े हैं। वाल्मीकि को बिना समझे कालिदास का अध्ययन पूरा नहीं हो सकता। रघुवंश (१।४) में कालिदास ने 'पूर्वसूरिभिः' के द्वारा वाल्मीकि की ओर संकेत किया है। रघु० (१५।३३) में रामायण को 'कविप्रथमपद्धति' कहा गया है। वाल्मीकि के सरस हृदय का परिचय कालिदास ने सुन्दर शब्दों में इस प्रकार किया है—

तामभ्यगच्छद् रुदितानुसारी
मुनिः कुशेध्माहरणाय यातः।
निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः
श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः॥

कालिदास को अपनी काव्यकला को पुष्ट करने में वाल्मीकि से स्फूर्ति तथा प्रेरणा मिली है, यह सिद्धान्त सन्देहहीन है। कालिदास प्रकृति के प्रवीण पुरोहित थे। उनकी दृष्टि में प्रकृति तथा मानव का परस्पर सम्बन्ध विश्व में विराजने वाली भगवद्‌विभूति की एक विस्पष्ट अभिव्यक्ति है। प्रकृति मानव पर प्रभाव डालती है। वह मनुष्य के दुःख में दुःखी और सुख में सुखी होती है। मानव भी प्रकृति को अपनी चिरसंगिनी समझता है। शाकुन्तल के चतुर्थ अंक की सुषुमा इसी उभयपक्षीय सम्बन्ध की अभिराम अभिव्यक्ति में है। प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण कवि की विशेषता है। वह प्रकृति के नानारूपों में रमता है तथा अपनी पैनी दृष्टि से वह उन सूक्ष्म अंशों को भी देखता है जिसे अन्य कवियों की आँखें देखकर भी नहीं देखती। कुमारसम्भव में कालिदास सूर्य की किरणों को झरनों के जलकणों पर पड़ने से इन्द्रधनुष का दृश्य देखते हैं—एक नहीं, दो नहीं, प्रत्युत हजारों इन्द्रधनुष रविरश्मिरञ्जित जलकणों में अपना सतरङ्गी रूप सदा दिखलाया करते हैं, परन्तु कालिदास की दृष्टि इन रङ्गों को पहचानती है और सन्ध्याकाल में सूरज के लटकने के कारण इन्द्रधनुष का अभाव उसे बेहतर खटकता है—

सीकरव्यतिकरं मरीचिभिर्दूरमत्यवनते विवस्वति।
इन्द्रचापपरिवेषशून्यतां निर्झरास्तव पितुर्व्रजन्त्यमी॥
(कुमार० ८।३१)

यह उक्ति रूढि का अनुसरण करने वाले किसी कवि की नहीं है, वरन् उस कवि की है जो मुग्ध दृष्टि से प्रकृति के सौन्दर्य को देखकर अपने आपको भूल जाता है।

इस निसर्ग-भावना के समान ही कालिदास की कविता की कमनीयता है। वह सरस, मधुर तथा प्रसादमयी पदावली का मनोरम शृंगार है। अलङ्कारों की झंकार का वह युग नहीं था। रसीली बोली पर ही रसिकसमाज अपने को निछावर करता था। कालिदास की कविता में अलंकारों का भव्य

विन्यास है, परन्तु वह विन्यास इतना भड़कीला नहीं है कि पाठकों का हृदय वर्ण्य वस्तु को छोड़कर अलंकारों की छटा की ही ओर आकृष्ट हो जाय। उस अलंकार से वस्तु का सौन्दर्य निखरता है, उसका सलोनापन अधिक बढ़ता है, वह रसिकों के हृदय में बरबस घर कर लेती है।

कालिदास की शैली को परवर्ती कवियों ने बड़ी सफलता के साथ अपनाया है। अश्वघोष के ऊपर कालिदास की स्पष्ट छाप है। गुप्तकाल के प्रशस्तिलेखक नरिषेण और वत्सभट्टि ने कालिदास के काव्यों का गहरा अनुशीलन कर उसी के आदर्श पर अपनी कविता लिखी थी। इतना ही नहीं, कालिदास के काव्यों की ख्याति भारतवर्ष के बाहर भी कम्बोज देश (आजकल का इण्डोचीन) तक फैली थी। भारतीय विद्वान् जिन-जिन उपनिवेशों में धर्म और सभ्यता के प्रचार के लिये गये वहाँ उन्होंने कालिदास के काव्यों का प्रचार किया। इसीलिये सुवर्णद्वीप (सुमात्रा) और कम्बोज, जावा, आदि देशों में उपलब्ध संस्कृत शिलालेखों में कालिदास की कविता का पर्याप्त अनुकरण पाया जाता है। उदाहरण के लिये कम्बोज के राजा भववर्मा ६०० ई० के शिलालेख की कुछ पंक्तियाँ तथा कालिदास के श्लोक साथ ही दिये जाते हैं, जिससे इस महाकवि का विपुल प्रभाव स्पष्ट दीख पड़ता है—

(क) शरत्कालाभियातस्य परानावृत्ततेजसः।
द्विषामसह्यो यस्यैव प्रतापो न रवेरपि॥
(शिलालेख ६)

दिशि मन्दायते तेजो दक्षिणस्यां रवेरपि।
तस्यामेव रघोः पाण्ड्याः प्रतापं न विषेहिरे॥
(रघुवंश ४।४९)

(ख) यस्य सेनारजोधूतमुज्झितालंकृतिष्वपि।
रिपुस्त्रीगण्डदेशेषु चूर्णभावनुपागतम्॥
(शिलालेख ७)

भयोत्सृष्टविभूषाणां तेन केरलयोषिताम्।
अलकेषु चमूरेणुश्चूर्णप्रतिनिधिः कृतः॥
(रघुवंश ४।५४)

अलंकृत शैली

संस्कृत साहित्य के विकास में महाकवि भारवि का नाम विशेष उल्लेखनीय रहेगा, क्यों कि उन्होंने महाकाव्य लिखने की एक नयी शैली को जन्म दिया। इस शैली को यदि हम 'अलंकृत शैली' कहें तो कुछ अनुपयुक्त न होगा। इस अलंकृत शैली की दो विशेषतायें हैं—१ विषय सम्बन्धी और (२) भाषा सम्बन्धी। भारवि के पहले वाल्मीकि तथा कालिदास ने अपने महाकाव्य का जो विषय चुना था वह अत्यन्त विस्तृत तथा परिमाण में विपुल है। कालिदास ने अपने रघुवंश में, केवल १९ सर्गों के भीतर दिलीप से प्रारम्भ कर अग्निवर्ण तक रघुवंश की अनेक पीढ़ियों का वर्णन बड़ी सफलता के साथ किया है, परन्तु भारवि ने अर्जुन का किरात के पास जाना और उनसे युद्ध कर अस्त्र प्राप्त करने की स्वल्प कथा को २० सर्गों में कह डाला है। इन्होंने अपने काव्य में पर्वत, नदी, सन्ध्या, प्रातः, ऋतु तथा अनेक प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में अनेक सर्ग समाप्त कर दिये हैं और इस प्रकार इस छोटे से कथानक को इतना अधिक विस्तार प्रदान किया है। कहने का तात्पर्य यह है कि भारवि के पहले काव्य का विषय विस्तृत होता था और प्राकृतिक वर्णन कम। परन्तु भारवि के बाद काव्य में कथावस्तु अत्यन्त कम होने लगी और प्रकृतिवर्णन अधिक। यही बात शिशुपालवध और नैषध जैसे महाकाव्यों में भी पायी जाती है।

दूसरी बात भाषा-सम्बन्धी है। वाल्मीकि तथा कालिदास ने अपने महाकाव्यों में सीधी-सादी, चलती-फिरती और प्रवाहपूर्ण भाषा का उपयोग किया है। उनकी कविता प्रसाद गुण से युक्त है। न तो उनमें कहीं क्लिष्ट कल्पना मिलती है और न अलंकारों की बेसुरी झनकार। इनकी कविता में अलंकारों के लाने का परिश्रम-पूर्वक प्रयास नहीं किया गया है और न चित्र काव्य लिखकर गोमूत्र और कमल का ही प्रदर्शन किया गया है। इनकी कविता में जहाँ कहीं भी अलंकार आये हैं वे स्वाभाविक रीति से अनायास प्रयुक्त हैं। उनसे कविता के समझने में कष्ट नहीं होता, बल्कि उसका सौष्ठव और अधिक बढ़ जाता है। इसके विपरीत भारवि ने एक ऐसी शैली को जन्म दिया, एक ऐसी रीति का काव्य में प्रयोग किया जो अलंकार के भार से लदी है, श्लेष के प्रयोग से अत्यन्त दुरूह बन गयी है तथा चित्रकाव्य का प्रदर्शन करने की बलवती इच्छा से पहेली के समान कठिन हो गयी है। ऐसी ही शैली के जन्मदाता भारवि हैं। अलंकारों की प्रधानता होने के कारण ही इसे 'अलंकृत शैली' नाम प्रदान किया गया है।

इस अलंकृत शैली का उत्कर्ष माघ का प्रसाद है। अतः इस शैली की उद्भावना में भारवि और माघ का नाम संश्लिष्ट रहेगा। अब कवियों के सामने दो प्रकार की शैलियाँ विद्यमान थीं—(१) वाल्मीकि-कालिदास की रसमयी शैली और (२) भारवि-माघ की अलंकृत शैली। पिछले कवियों ने अपनी रुचि के अनुसार इन शैलियों में से अन्यतम को अपनाया है। पद्मगुप्त परिमल ने 'नवसाहसांकचरित' में तथा श्रीहर्ष ने 'नैषध' में प्रथम शैली को अपनाया है, परन्तु अपने काव्य को अलंकृत करने की प्रवृत्ति भी इनमें है। 'अलंकृत शैली' का भव्य निदर्शन रत्नाकर का 'हरविजय' है। इस परवर्ती युग के कवियों की दृष्टि में नैसर्गिकता के स्थान पर 'अलंकारिता' का विशेष मूल्य है। बाह्य प्रकृति के वर्णन में भी भिन्नता आ गई है। ये कवि लोग प्रकृति के मार्मिक रूप से विश्लेषण में नितान्त असमर्थ हैं। उनमें निरीक्षण का वस्तुतः अभाव है। श्रीहर्ष जैसे विदग्ध कवि की दृष्टि में सायंकाल में पश्चिम दिशा शबरायल में प्रहर के अन्त की सूचना देनेवाले कुक्कुटों (मुर्गों) की कलँगी के कारण लाल रंग की दिखलाई पड़ती है—

अस्ताद्रिचूडालयपक्कणालि-
च्छेकस्य किं कुक्कुटपेटकस्य।
यामान्तकूजोल्लसितैः शिखौघै-
र्दिग् वारुणी द्रागरुणीकृतेयम्॥

(नैषध० २२।५)

इस श्लोक में कुक्कुट जाति की विशिष्टता का निरीक्षण अवश्य है, परन्तु सन्ध्या की किसी मार्मिक विशिष्टता की ओर संकेत कहाँ है? कालिदास के ऊपर दिये गये सन्ध्या-वर्णन की तुलना करने से इस वर्णन का हलकापन किसी भी आलोचक को स्पष्ट हो जायगा। कहाँ निर्झरकण में इन्द्रधनुष का निरीक्षण और कहाँ सन्ध्याकालीन आकाश को कुक्कुटों की कलँगी से लाल बतलाना !!

कालिदास ने अनेक साहित्यिक रूढियों को जन्म दिया है जिनमें एक रूढि है—द्रुतविलम्बित छन्द से यमकमय ऋतुवर्णन की। द्रुतविलम्बित के चतुर्थ चरण में उन्होंने यमक का बड़ा ही सरस विन्यास कर वसन्तशोभा का वर्णन रघुवंश के नवम सर्ग में किया है। बस, पिछले कवियों ने इस रूढि को अपना लिया, पर यमक का इतना अधिक प्रयोग किया कि रसवत्ता जाती रही। माघ के षष्ठ सर्ग का ऋतुवर्णन मेरे कथन का पर्याप्त परिपोषक है। कालिदास का यह यमक कितना स्वाभाविक तथा मनोरम है—

विरचिता मधुनोपवनश्रियामभिनवा इव पत्रविशेषकाः।
मधुलिहां मधुदानविशारदाः कुरवका रवकारणतां ययुः॥

इसके सामने माघ का कोई भी श्लोक खड़ा नहीं हो सकता। अलंकृत शैली का विकट रूप तब प्रकट होता है, जब कवि एक ही प्रबन्ध में राम की तथा अर्जुन की कथा सुनाने के लिये कटिबद्ध हो जाता है। कभी-कभी तो तीन-तीन अर्थ एक ही श्लोक से आदि से लेकर अन्त तक निकलते हैं। ऐसे द्व्यर्थी महाकाव्यों में धनञ्जय का 'द्विसन्धान', विद्यामाधव का 'पार्वतीरुक्मिणीय', हरिदत्तसूरि का 'राघवनैषधीय', कविराजसूरि का 'राघवपाण्डवीय' मुख्य हैं। त्र्यर्थी काव्यों में राजचूडामणि दीक्षित का 'राघवयादवीपाण्डवीय' तथा चिदम्बरसुमति का 'राघवपाण्डवयादवीय' मुख्य हैं। कहना व्यर्थ है कि इन काव्यों में पाण्डित्य का प्रदर्शन ही मुख्य है, हृदय को विकसित करनेवाली कला की अभिव्यक्ति नितरां न्यून है।

—×—

चतुर्थ परिच्छेद

गीति-काव्य

सत्कविरसनाशूर्पीनिस्तुषतरशब्दशालिपाकेन ।
तृप्तो दयिताधरमपि नाद्रियते का सुधा दासी ॥

गीति काव्य संस्कृत भारती का परम रमणीय अङ्ग है। संस्कृत में गीति काव्य मुक्तक तथा प्रबन्ध दोनों प्रकारों से उपलब्ध होता है। मुक्तक से अभिप्राय उस काव्य से है जो सन्दर्भ आदि बाह्य उपकरणों से मुक्त होकर स्वयं रसपेशल होता है। इसको समझने के लिये बाहरी सामग्री की अपेक्षा नहीं होती। संस्कृत के मुक्तक उन रसभरे मोदकों के समान हैं जिनके आस्वादमात्र से सहृदयों का हृदय सद्यः परितृप्त हो जाता है। जो आलोचक रस की पुष्टि के लिए प्रबन्ध काव्य को ही उत्तम साधन समझते हैं उन्हें आनन्दवर्धन की यह उक्ति भुलानी न चाहिए—'मुक्तकेषु हि प्रबन्धेषु इव रसबन्धाभिनिवेशिन: कवयो दृश्यन्ते।' मुक्तक काव्य के सुन्दर उदाहरण भर्तृहरि तथा अमरुक के शतक हैं। प्रबन्धात्मक गीति काव्य के दृष्टान्त कालिदास का मेघदूत तथा उसी के अनुकरण पर लिखे गये दूसरे 'सन्देश काव्य' हैं। गीति काव्यों में मधुर पदावली के साथ संगीतमय छन्दों का भी प्रयोग किया गया है। वर्णन विशेषकर शृङ्गार, नीति, वैराग्य तथा प्राकृतिक दृश्यों के हैं। यहाँ कोमल भावों की मधुरिमा प्रत्येक रसिक के हृदय को हठात् अपनी ओर आकृष्ट करती है। इसका कारण यह है कि इन गीति काव्यों का बाह्य रूप जितना अभिराम तथा सुन्दर है उतना ही सुन्दर तथा पेशल उनका आभ्यन्तर रूप भी है।

गीतियों की विशेषता

रमणी का सौंदर्य इन काव्यों में जितनी सुन्दरता तथा स्वाभाविकता के साथ प्रस्फुटित हो पाया है उतना अन्यत्र मिलना दुर्लभ सा प्रतीत हो रहा है। नारी के हृदय तथा रूप की छटा के रंगीन चित्र किस रसिक के हृदय में प्रमोद की सरिता नहीं बहाते ? शृङ्गार की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का मार्मिक चित्रण इस काव्य की महती विशेषता है। आलोचकों की यह धारणा नितान्त भ्रान्त है कि इन शृङ्गारिक काव्यों में इन्द्रिय के उत्तेजक काम का ही अभिराम चित्रण है। यह आक्षेप संस्कृत साहित्य के शृङ्गार-प्रधान काव्यों के विषय में आज भी किया जाता है। परन्तु ऐसे आक्षेपकों को संस्कृत साहित्य के प्रमुख आलोचक रुद्रट की ये उक्तियाँ कभी न भूलनी चाहिए—

> न हि कविना परदारा एष्टव्या नापि चोपदेष्टव्याः।
> कर्तव्यतयान्येषां न च तदुपायोऽभिधातव्यः॥
> किन्तु तदीयं वृत्तं काव्याङ्गतया स केवलं वक्ति।
> आराधयन्ति विदुषस्तेन न दोषः कवेरत्र॥

इन गीति काव्यो के अध्ययन से तो नारी-प्रेम की उदात्तता तथा विशुद्धता का ही परिचय हमें प्राप्त होता है। प्रकृति चित्रण का भी इनमें प्रमुख स्थान है। बाह्य प्रकृति तथा अन्तःप्रकृति इन दोनों का परस्पर प्रभाव बड़ी सजीवता के साथ दर्शाया गया है। संयोग तथा वियोग, उभय अवस्थाओं में प्रकृति मानव हृदय पर अपना प्रभाव डालने में विरत नहीं होती। उल्लसित हृदय को प्राकृतिक सौन्दर्य द्विगुणित कर देता है। परन्तु वही दृश्य विषण्ण के विषाद की रेखा को और भी गाढ़ी बना देता है। इस प्रकार ये गीति काव्य प्राकृतिक दृश्यों के चल चित्रों के समान रसिकों के सामने उपस्थित होकर अपना सौन्दर्य दिखलाते हैं।

मुक्तकों के दो प्रधान भेद किये जा सकते हैं—लौकिक तथा धार्मिक। लौकिक मुक्तक लोक के नाना विषयों के विधान से सम्बद्ध हैं। धार्मिक मुक्तक (स्तोत्र) विशिष्ट देवता की स्तुति से सम्बन्ध रखते हैं। दोनों प्रकार के काव्यों की प्राचीनता संस्कृत में पर्याप्त रूप से है। समग्र वैदिक संहिताएँ देवताओं की विशिष्ट स्तुतियाँ है। ऐसा विशाल स्तोत्र-साहित्य अन्य किसी साहित्य में

प्रस्तुत नहीं है। लौकिक मुक्तक भी पर्याप्त रूप से प्राचीन है। महाभाष्य में लौकिक विषयों से सम्बन्द्ध अनेक स्फुट श्लोक उद्धृत किये गये हैं। यहाँ लौकिक मुक्तक तथा स्तोत्रों का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

लौकिक मुक्तक

कालिदास

संस्कृत के गीति काव्यों का आदिम ग्रन्थ महाकवि कालिदास का मेघदूत है, जिसमें धनपति कुवेर के शाप से निर्वासित एक विरही यक्ष की मनोव्यथा का मार्मिक चित्रण है। मेघदूत कालिदास के नर-प्रकृति तथा बाह्य प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण का भव्य भण्डार है। यहाँ बाह्य प्रकृति को जो प्रधानता मिली है वह अन्य किसी काव्य में नहीं। पूर्वमेघ तो यहाँ से वहाँ तक प्रकृति की ही एक मनोहर झाँकी या भारत भूमि के स्वरूप का ही मधुर ब्यान है। कवि की पैनी दृष्टि में ग्रीष्म ऋतु की मन्द प्रवाहिनी नदी उस प्रोषितपतिका के समान प्रतीत होती है जो अपने पति के वियोग में मलिन वसना बन बड़े क्लेशों से अपना जीवन बीताती है। प्राकृतिक दृश्यों में विज्ञान सम्मत बातों का पर्याप्त सन्निवेश है। यक्ष तथा उसकी प्रेयसी के विरह अवस्था का वर्णन कर कवि ने मानव हृदय का मार्मिक मनोहर चित्र उपस्थित किया है। मेघदूत वस्तुतः विरह-पीडित उत्कण्ठित हृदय की मर्मभरी वेदना है, जिसके पद्य में प्रेम की विह्वलता, विवशता तथा विकलता अपने को अभिव्यक्त कर रही है। पूर्वमेघ बाह्यप्रकृति का मनोरम चित्र है, तो उत्तरमेघ अन्तःप्रकृति का अनुभव पर प्रतिष्ठित अभिराम वर्णन है। वियोगिनी यक्षपत्नी का यह अभिराम रूप किस सहृदय के हृदय में सहानुभूति उत्पन्न नहीं करता—

आलोके ते निपतति पुरा सा बलिव्याकुला वा
मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती।
पृच्छन्ती वा मधुरवचनां सारिकां पञ्जरस्थां
कच्चिद् भर्तुः स्मरसि रसिके त्वं हि तस्य प्रियेति ॥

मेघदूत कालिदास की कवि-प्रतिभा का ज्वलंत निर्दशन है। गीतिकाव्य का आदर्श उपस्थित करने वाला यह काव्य अन्त:प्रकृति एवं बाह्यप्रकृति दोनों के रुचिर चित्रण में अपूर्वता धारण करता है। यह परिमाण में थोड़ा होने पर भी गुण की दृष्टि से यह एक ही काव्य, कालिदास में लालित्य तथा सौन्दर्य को प्रकट करने में आदर्श माना जा सकता है। यदि कालिदास केवल 'मेघदूत' की ही रचना करते, तो भी वे उतने ही अमर होते, जितना वे आज हैं। उपमा की छटा, बाह्य प्रकृति का सुन्दर विन्यास, हृदय में क्षण-क्षण में उत्पन्न होने वाले कोमल भावों की रुचिर अभिव्यंजना--कालिदास के ये समस्त गुण इस लघुकाय ग्रन्थ में सर्वतोभावेन विद्यमान हैं।

चमत्कारी उपमाओं के लिए इन श्लोकों पर दृष्टिपात कीजिए—

उत्पश्यामि त्वयि तटगते स्निग्धभिन्नाञ्जनाभे
सद्यः कृत्तद्विरददशनच्छेदगौरस्य तस्य।
शोभामद्रेः स्तिमितनयनप्रेक्षणीयां भवित्री-
मंसन्यस्ते सति हलभृतो मेचके वाससीव॥

(पूर्वमेघ, श्लोक ५९)

[यक्ष मेघ से कह रहा है कि कैलाश पर्वत स्वतः हाथी दाँत के टुकड़े की तरह बिलकुल सफेद है, और तुम मल कर चिकने किये गये अंजन के समान काले हो। जब तुम कैलाश के किनारे खड़े होगे, तो उसकी मनोरम छटा वैसी ही होगी, जैसी कंधे पर नीला दुपट्टा रखे हुये शुभ्र शरीर वाले बलराम जी की होती है।]

यहाँ पर कालिदास ने उपमा के औचित्य के लिए ऐसे शब्दों का विन्यास किया है, जिनका मर्म समझना आवश्यक है। कैलाश पर्वत की कमनीय शुभ्रता का अनुमान इसी से किया जा सकता है कि वह हाथी के तुरन्त काटे गये दन्त-खण्ड के समान स्वच्छ है। हाथी का दाँत तो स्वयं सफेद होता है, परन्तु तुरन्त तराशा गया टुकड़ा कितना उज्जवल होगा, इसका अनुमान पाठक स्वयं कर सकते हैं। इसी प्रकार जलयुक्त मेघ केवल अंजन के समान ही नहीं है, प्रत्युत वह चिकने एवं गले हुये अंजन की भाँति स्निग्ध तथा मृदुल प्रतीत होता है।

यक्ष की पत्नी विरह से विधुर और चिन्ता से इतनी कृश हो गई है कि उसे देख कर किस सहृदय के हृदय में सहानुभूति नहीं उमड़ पड़ती ? कालिदास ने उत्तरमेघ में उसका जो यह चित्र खींचा है, वह अनुपमेय है। अपनी साहित्य-जगत् में समता नहीं रखता—

आधिक्षामां विरहशयने सन्निषण्णैकपार्श्वां
प्राचीमूले तनुमिव कलामात्रशेषां हिमांशोः।
(उत्तरमेघ, श्लोक २६)

[मानसिक व्यथा के कारण दुबली पड़ी हुई वह यक्षिणी विरह-शय्या पर एक करवट से लेटी होगी, मानों प्राची दिशा के क्षितिज पर चन्द्रमा की केवल एक कोर बची हो।]

यह उपमा कवि के प्रकृति-निरीक्षण का रुचिर निदर्शन है। चन्द्रमा की यह स्थिति अमावास्या से पूर्व रात्रि की होती है। यह उपमा सचमुच ही चमत्कारी तथा हृदयावर्जक है।

मेघदूत में बाह्यप्रकृति के चित्रण में कवि की अन्तरात्मा प्रत्येक दृश्य के साथ मानों रम गई है। दृश्यों का ऐसा संश्लिष्ट चित्रण किया गया है कि हमारे मानसपटल के सामने उनका चारु चित्र उपस्थित हो जाता है। समग्र पूर्वमेघ बाह्यप्रकृति का ही मनोरम संश्लिष्ट चित्रण है। वर्षा ऋतु का स्निग्ध तथा हृदयग्राही सच्चा वर्णन कवि की निरीक्षण शक्ति का दृष्टान्त उपस्थित करता है। कहीं प्रथम वृष्टि के कारण नये जुते खेतों से सोंधी महक उठ रही है, तो कहीं खिले हुए केतकी के कुसुमों के पराग से उपवन का परिसर धवल-धूसर हो रहा है। नदियों के स्वरूप-चित्रण में कालिदास की प्रतिभा रमती है। पानी पीने के लिए जब मेघ गङ्गा के ऊपर उतरता है तो उसकी शोभा गगनचारी देवताओं के लिए देखने का विषय बन जाती है।

त्वय्यादातुं जलमवनते शार्ङ्गिणो वर्णचौरे
तस्याः सिन्धोः पृथुमपि तनुं दूरभावात्प्रवाहम्।
प्रेक्षिष्यन्ते गगनगतयो नूनमावर्ज्य दृष्टि-
रेकं मुक्तागुणमिव भुवः स्थूलमध्येन्द्रनीलम्॥

[कृष्ण के समान श्याम रङ्ग वाला मेघ जल पीने के लिए जब नदी में झुकेगा, तब आकाशचारी देवतागण दृष्टि नीचे कर उसे उसीतरह देखेंगे मानों पृथ्वी के गले में पड़ी मोती की माला के बीच में एक बड़ा नीलम जड़ा हुआ हो।]

यहाँ पतली प्रवाह वाली नदी मोती की माला के समान और जल से परिपूरित घनश्याम मेघ को नीलम के समान वर्णन करने वाला कालिदास प्राकृतिक दृश्यों का कितना पारखी है—इसका अन्दाजा पाठक स्वयं लगा सकते हैं।

मेघदूत विरह काव्य है। प्रियतम के वियोग में विरहिणी की विभिन्न दशाओं के चित्रण में यह सर्वथा समर्थ तथा गम्भीर काव्य है। कालिदास की पैनी दृष्टि विरहिणी यक्षिणी के एकान्त जीवन की दशाओं के अवलोकन में पटु है। यक्ष के विरह में वह देवताओं के पूजन में संलग्न दीख पड़ेगी, या कल्पना द्वारा यक्ष के विरहकृश शरीर का चित्र बना रही होगी, या पिंजड़े में बैठी मधुर-वचना मैना से पूछ रही होगी कि हे सारिके ? क्या तुझे अपने प्रिय स्वामी की याद आती है ? वह बहने वाले पवन का आलिंगन इस विचार से करती होगी कि कहीं इसने मेरे प्रियतम के शरीर का स्पर्श तो नहीं किया है, जिससे मुझे भी उस स्पर्श से आप्यायित होने का सौभाग्य प्राप्त हो जाय। इस प्रकार के यक्षिणी का नाना दृश्य कवि हमारे अन्तःचक्षु के सामने उपस्थित करने में सकर्थ होता है। इतना ही नहीं, वह विरही यक्ष के चित्रण में भी पटु है। यक्ष अपनी दशा का एक चित्र प्रस्तुत कर रहा है—

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया-
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम्।
अस्रैस्तावद् मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः॥

(उत्तरमेघ, श्लोक ४२)

[हे प्रिये ! प्रेम में रूठी हुई तेरी, गेरू के रङ्ग से पत्थर पर तस्वीर बनाकर जब मैं अपने आपको तेरे चरणों पर गिरा हुआ चित्रित करना चाहता हूँ, तभी आँसू बार-बार उमड़ कर मेरी आँखों को ढक लेते हैं। निष्ठुर दैव को चित्र में भी तो हम दोनों का मिलन नहीं सुहाता।]

यह पद्य शब्दचित्र का ही नहीं, प्रत्युत वास्तव चित्र का निदर्शन है—कोमल तथा मधुर चित्र का।

मेघदूत शृङ्गारी काव्य अवश्यमेव है, परन्तु वह एक सार्वभौम नैतिक उपदेश अपने में सँजोये हुए है, जिससे इसका महत्त्व दार्शनिक कोटि को स्पर्श

करता है। मेघदूत काम तथा कर्तव्य के संघर्ष को दिखलाने वाला उदात्त काव्य है। आरम्भ में कुबेर के द्वारा निर्वासित होने से पूर्व यक्ष का प्रेम उद्दाम वासना से प्रेरित तथा कर्तव्य का विरोधी था। कर्तव्यच्युत वह प्रणय अपने उच्च लोकातीत धरातल (अलका) से च्युत होकर निम्न पार्थिव स्तर (रामगिरि) पर आ पड़ा था। दीर्घ वियोग ने इस प्रणय के मल को, कर्तव्य विरोध को जला कर उसे विशुद्ध प्रेम के रूप में परिणत कर दिया। काम की परिणति प्रेम में हो गई। और इस परिणति का प्रधान हेतु है वियोग, प्रियतमा से विप्रलम्भ, जो उसकी विशुद्ध भावना को जगाने में पूर्णतया समर्थ होता है। विप्रलम्भ का सच्चा रूप प्रकट करता है यह वियोगी कवि कालिदास। सचमुच संभोगदशा में निरन्तर आस्वादन के कारण जो प्रेम घटता हुआ प्रतीत होता है, वही प्रेम वियोग-दशा में स्नेह रस के उत्तरोत्तर पुञ्जीभूत होने के कारण एक महान् राशि के रूप में परिणत हो जाता है—

स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वयोगाद्
इष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशीभवन्ति।

मेघदूत का यही संदेश है कि वियोग ही सच्चे प्रेम का पोषक और परिणतिविधायक है—"न विना विप्रलम्भेन सम्भोगः पुष्टिमश्नुते"। इसकी सिद्धि पर काम कर्तव्य का सहयोगी बनता है, विरोधी नहीं। "धर्माविरुद्धः कामः" भागवती विभूति है और इसी का निदर्शक यह प्रेमकाव्य गीता के मूल सन्देश का प्रचारक है—

"धर्माविरुद्धः कामोऽस्मि लोकेऽस्मिन् भरतर्षभ।"

कालिदास की यह प्रसन्न-मधुर वाणी, मन्दाक्रान्ता की वह झूमती चाल, देश की यह मनोहर रूपमाधुरी—सबने मिलकर मेघदूत को उस अलौकिक रस से परिप्लावित कर दिया है, जो काव्यप्रकाश में "सर्वथा पुर इव परिस्फुरद्, हृदयमिव प्रविशन्, सर्वाङ्गीणमिवालिङ्गन्, अन्यद् सर्वमिव तिरोदधत्, ब्रह्मास्वाद-मिवास्वादयन् अलौकिकचमत्कारकारी रसः" रूप से वर्णित है। प्रातिभ और प्रत्यक्ष'—उभयविध गोचरों की जैसी रमणीय एकात्मकता मेघदूत में है, वैसी कहीं नहीं।" एक प्रौढ आलोचक का यह कथन[1] मेघदूत के विषय में अर्थवाद नहीं, प्रत्युत तथ्यवाद है।

---

१. पं० केशवप्रसाद मिश्र—मेघदूत का पद्यानुवाद (भूमिका)।

कालिदास ने मेघदूत में जिस शैली को जन्म दिया वह हमारे कवियों को बहुत ही प्रिय प्रतीत हुई और उन्होंने पचीसों काव्य इसके अनुकरण में बनाये। इस प्रकार संस्कृत में 'सन्देश-काव्यों' की एक अलग धारा ही है। कुछ जैन कवियों ने मेघदूत के प्रत्येक श्लोक के चरणों को लेकर समस्यापूर्ति के ढंग पर नये दूत काव्यों की रचना की। जैन कवि 'जिनसेन' ने 'पार्श्वाभ्युदय' में मेघदूत के समस्त पद्यों के चरणों की एक प्रकार से समस्यापूर्ति कर दी है। 'विक्रम कवि' ने 'नेमिदूत' में केवल चतुर्थ चरणों की ही पूर्ति की है। सन्देश-काव्यों में 'धोयी' का 'पवनदूत' मुख्य है। ये कवि जयदेव के समकालीन थे और राजा लक्ष्मणसेन (१२वीं शताब्दी) के सभापण्डितों में अन्यतम थे। 'हंसदूत' अनेक कवियों की लेखनी से प्रस्तुत हुआ है, जिनमें वेदान्तदेशिक, वामनभट्ट बाण (१५ शतक) तथा रूपगोस्वामी (१६ शतक) के हंसदूत नितान्त प्रसिद्ध हैं। वेदान्तदेशिक ने अपने दूतकाव्य में भगवती जनकनन्दिनी के पास राम का सन्देश भेजा है। रूपगोस्वामी ने पूरे एक सौ शिखरिणी पद्यों में राधा की ओर से कृष्ण को प्रेम सन्देश भेजवाया है। केरल तथा बंगाल के कवियों ने अपनी रचनाओं से साहित्य के इस अङ्ग को खूब पुष्ट किया है। चातक-दूत, कोकिलदूत—आदि अनेक दूतकाव्य हमारे साहित्य में विद्यमान हैं। दूतकाव्य का उद्देश्य मुख्यतया शृंगार प्रधान है, परन्तु पिछले काल के कवियों ने शान्तरस को पुष्ट करने के लिये भी इनका उपयोग किया है। 'मनोदूत' इसी पिछली मनोवृत्ति का सूचक है।

—×—

२. हाल

गाथासप्तशती

प्राकृत भाषा में गीतिकाव्य का उदय अत्यन्त प्राचीन काल में हुआ। प्राकृत में सरस शृंगारिक गाथाओं का नितान्त अभिराम संग्रह 'गाथासप्तशती' में सातवाहनवंशी राजा हाल ने किया है। इस ग्रन्थ की रचना महाराष्ट्रीय प्राकृत में प्रथम शताब्दी में की गई। हाल ने स्वयं लिखा है कि उन्होंने एक करोड़ गाथाओं में से चुनकर सात सौ गाथायें एकत्र संगृहीत की है। ये गीतियाँ शृंगार रस से लबालब भरी हैं। इन गाथाओं में प्राकृत कवियों की ऊँची कल्पना तथा नई सूझ के मंजुल दृष्टान्त प्रचुरमात्रा में उपलब्ध होते हैं।

सप्तशती में लोक-जीवन के विविध पटलों का सजीव चित्रण किया गया है। ग्राम्य जीवन अपनी सरलता तथा स्वाभाविकता के साथ इन सुन्दर गाथाओं में झाँक रहा है।

'गाथासप्तशती' का विषय प्रधानतः जनपदों के जनजीवन पर अवलम्बित है, परन्तु किसी मात्रा में उसकी शैली शिष्टता तथा साहित्यिक रुचि को दूषित नहीं करती। ऋतुओं की पृष्ठभूमि, देहात का काव्योपकरण, गाँव की जनता का नैसर्गिक भावविलास, और चर-अचर का यथार्थ अभिराम निरूपण—ये समग्र तत्त्व सप्तशती के एक दो ही रुचिर पंक्तियों में उभर पड़े हैं। काव्य का प्रधान भाव शृंगार और करुणा है, जिसमें प्रणय के विविध प्रसंग बड़ी ही मनोहरता से अंकित किये गये हैं। विरह और संयोग, स्नेह तथा परिताप—ये सब रोमांचक प्रवीणता से चित्रित किये गये हैं। अनेक दृश्यों में करुण का अविरल प्रवाह है। हम पिपासु पर्यटक को दोपहरी में जल पिलाने वाली उस प्रमदा की मनोदशा को भूल नहीं सकते जो ऊपर से गिरने वाली जलधारा को पतली करती जाती है और जब वह राही अपनी ऊंगलियों के बीच के विवर को फैलाकर एकटक प्रेमभरी निगाह से उस स्नेहस्निग्ध बाला को निरखता जाता है। संस्कृत की 'आर्या-सप्तशती' तथा हिन्दी की 'बिहारी सतसई' की प्रेरिका यह 'गाथा सत्तसई' रसिकों का मृदुल-मंजुल हार है।

रन्धनकर्मनिपुणिके मा क्रुध्यस्व रक्तपाटलसुगन्धम्।
मुखमारुतं पिबन् धूमायते शिखी न प्रज्वलति॥

[हे भोजन-कर्म में निपुण सुन्दरी ? आग के न जलने पर क्रोध मत करो। तुम्हारे लाल गुलाब के समान सुगन्धित मुँह से जो हवा निकलती है उसे पीकर आग धुँआं दे रहा है, जलता नहीं। यदि वह जल उठेगा तो तुम्हारे मुँह की सुगन्धित हवा उसे कहाँ मिलेगी ?]

—×—

३. भर्तृहरि

महाकवि भर्तृहरि की कविता जितनी प्रसिद्ध है, उनका व्यक्तित्व उतना ही अज्ञात है। हम उनकी स्थिति तथा जीवनचरित से एकदम अपरिचित हैं। दन्तकथा के आधार पर कुछ लोग उन्हें राजा मानते हैं और वह भी विक्रमादित्य का जेठा भाई, परन्तु उनके ग्रन्थ से राजसी भाव तो नहीं टपकता। अतः यह भी घटना निरी दन्तकथा के सिवाय

विशेष महत्त्व नहीं रखती। अधिकांश विद्वान् उन्हें महावैयाकरण भर्तृहरि से अभिन्न मानते हैं, परन्तु इसके लिये भी पोषक प्रमाण प्रस्तुत नहीं हैं। पश्चिमी शोधक लोग चीनी यात्री इत्सिंग के कथन में आस्था रखते हुए भर्तृहरि को बौद्ध मानते हैं, जो गृहस्थी और सन्यासी जीवन के बीच सात बार इधर से उधर डोलते रहे। पर उनके शतकों का अनुशीलन डंके की चोट बतलाता है कि इनका लेखक वैदिक धर्मावलम्बी ही नहीं, बल्कि पूरा अद्वैतवादी था। वैदिक धर्म के आचार-विचार की पद्धति तथा प्रक्रिया पर उन्हें पूरा विश्वास और आग्रह था। उनका समय लगभग सप्तम शताब्दी में पड़ता है।

भर्तृहरि के तीन शतक हैं—(१) नीतिशतक, (२) शृंगारशतक, (३) वैराग्यशतक। भर्तृहरि ने संसार का बखूबी अनुभव किया था और उस अनुभव के मार्मिक-पक्ष के ग्रहण करने में वे सर्वथा कृतकार्य हुये हैं। जो कवि संसार के बीच रहता हुआ अपने अनुभव के बलपर उसके हृदय को समझने तथा कविता में सुचारु रूप देने में समर्थ होता है वही सच्चा लोकप्रिय कवि है—इस दृष्टि से भर्तृहरि सचमुच जनता के कवि हैं, जिनकी सूक्ष्म दृष्टि संसार की छोटी से छोटी वस्तु को निरख उससे उदात्त शिक्षा ग्रहण करने में समर्थ होती है। नीतिशतक में वे उन उदात्त गुणों के ग्रहण करने के लिये आग्रह दिखलाते हैं, जिनका अनुशीलन समग्र मानव समाज का परम मंगलसाधक है। वे मनुष्य जीवन को सद्गुणों के उपार्जन से सफल बनाने के पक्ष में हैं। जो व्यक्ति सुन्दर नर-देह पाकर भी सद्गुणों का उपार्जन नहीं करता वह उस व्यक्ति के समान उपहास्यास्पद है जो वैदूर्यमणि के बने हुए पात्र में चन्दन की लकड़ी से लहसुन पकाता है, अथवा जो सोने के हल से अर्क की जड़ पाने के लिये जमीन को जोतता है।

भर्तृहरि की दृष्टि में वह वास्तव में सज्जन है जो दूसरों के परमाणु के समान छोटे गुण को पर्वत के समान बनाकर अपने चित्त में परम संतोष का अनुभव करता है—

परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यम्।
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः॥

शृंगारशतक में हमारा कवि शृंगार का चटकीला चित्रण करने में नहीं चूकता। वह नारी-हृदय की सच्ची परख रखता है। प्रेम से प्रभावित कामिनी और कामी के चित्त में जो प्रवृत्तियाँ अपना ललित खेल दिखलाया करती हैं उसे यह कवि सूक्ष्म दृष्टि से देखता है, परन्तु वह इस रंगीली लीलाओं के विषम परिणाम से भी भली-भाँति परिचित है।

वैराग्यशतक भर्तृहरि का सर्वस्व प्रतीत होता है। वे संतोष को परम सुख तथा वैराग्य को इसका एकमात्र साधन मानते हैं। सांसारिक विषयों में आसक्त व्यक्ति की यह उक्ति कितनी सजीव और चमत्कार-जनक है—

धन्यानां गिरिकन्दरेषु वसतां ज्योतिः परं ध्यायता-
मानन्दाश्रुकणान् पिबन्ति शकुना निःशङ्कमङ्केशयाः।
अस्माकं तु मनोरथोपरचितप्रासादवापीतट—
क्रीडाकाननकेलिकौतुकजुषामायुः परं क्षीयते॥

[वे लोग सचमुच धन्य हैं जो पर्वत की कन्दराओं में निवास करते हुए परम ज्योति का ध्यान करते हैं और जिनकी गोदी में बैठे हुए पक्षी नेत्रों से बहने वाले आनन्द के आँसुओं के कणों को पिआ करते हैं। परन्तु मनोरथ से बनाये गये महल, बावली और उपवन में विहार करने से हमारी आयु दिन प्रतिदिन क्षीण होती जाती है। सांसारिक पुरुष रात-दिन गृहस्थी की चिन्ता में डूबा रहता है।]

भर्तृहरि की दृष्टि में तपस्वी जीवन ही नितान्त श्रेयस्कर है। मुनि के लिये पृथ्वी ही रमणीय शय्या है। भुजायें ही तकिया हैं। आकाश ही चँदवा है। अनुकूल वायु ही पंखा है। शरत् का चन्द्रमा दीपक है। विरति उसकी प्रिया है। शान्त मुनि नितान्त सुख का अनुभव ऐश्वर्यशाली सम्राट् के समान करता हुआ आनन्द पाता है—

मही रम्या शय्या विपुलमुपधानं भुजलता
वितानं चाकाशं व्यजनमनुकूलोऽयमनिलः।
शरच्चन्द्रो दीपो विरतिवनितासङ्गमुदितः
सुखी शान्तः शेते मुनिरतनुभूतिर्नृप इव॥

४. अमरुक

अमरुक कवि की कविता जितनी विख्यात है उतना ही उनका व्यक्तित्व अप्रसिद्ध है। उनके देश और काल का ठीक-ठीक निर्णय अभीतक नहीं हो पाया है। उनके समय के विषय में हम इतना ही जानते हैं कि वे नवम शताब्दी से पूर्व विद्यमान थे, क्योंकि आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में उनके मुक्तकों की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है:—"मुक्तकेषु हि प्रबन्धेष्विव रसबन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते। तथा ह्यमरुकस्य कवेः मुक्तकाः शृंगारस्यन्दिनः प्रबन्धायमाणाः प्रसिद्धा एव।"

यह प्रशंसा किसी साधारण कोटि के आलोचक की न हो कर एक आलङ्कारिक शिरोमणि की है उनकी सम्मति में अमरुक के मुक्तक इतने रस और भाव से भरे हुये हैं कि अल्पकाय होने पर भी प्रबन्ध से समता रखते हैं। यह प्रशंसा तो बहुत बड़ी है, परन्तु है सच्ची। हजार वर्ष से अधिक होते आये इन पद्यों की साहित्य-सुषमा पर विदग्ध समाज आज भी उसी प्रकार रीझता है जिस प्रकार वह पहले रीझता था।

अमरुक की कविता बड़ी मनोहारिणी है। शार्दूलविक्रीडित जैसे बड़े छन्दों का उपयोग करने पर भी इनकी कविता में लम्बे-लम्बे समास नहीं आये हैं। अमरुक शब्द-कवि नहीं, रस-कवि हैं। इनकी कविताएं मनोरम शृंगार से लबालब भरी हैं। अर्जुनवर्मदेव ने बड़ी मार्मिकता से इस काव्य की आलोचना करते समय दिखलाया है कि कहीं-कहीं पददोष होने पर भी इनमें कोइ क्षति नहीं है। भला रसकवि कभी पद विन्यास के झमेले में पड़ा रहता है? उसके लिए पदविह्वलता तो वाञ्छनीय होती है।

अमरुक के शृंगारवचनों के सामने अन्य कवियों के सरस वचन नहीं टिक सकते। आनन्दवर्धन का कथन है कि इनके एक-एक पद्य पूरे प्रबन्ध के समान हैं। जितने भाव एक छोटे प्रबन्ध में दिखाये जा सकते हैं अमरुक ने उतने भाव एक छोटे से पद्य में दिखलाया है। वास्तव में इन्होंने गागर में सागर भरने की लोकोक्ति चरितार्थ की है। इन्होंने प्रेम का जीता-जागता चित्र खींचा है। कामी तथा कामिनियों की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में विभिन्न मनोवृत्तियों का सूक्ष्म विवरण प्रस्तुत किया है। कहीं पर पति को परदेश जाने के लिए तैयार देखकर कामिनी की हृदय-विह्वलता का चित्र है, तो कहीं पति के शुभागमन का

समाचार सुनकर अंग-प्रत्यंग से हर्ष की अभिव्यक्ति करने वाली सुन्दरी का कमनीय वर्णन है। ये पद्य क्या हैं? संस्कृत-साहित्य के चमकते हीरे हैं। इसलिए अर्जुनवर्मदेव की यह प्रशस्त प्रशंसा तनिक भी अत्युक्ति नहीं प्रतीत होती—

अमरुककवित्वडमरुकनादेन विनह्नुता न संचरन्ति।
शृङ्गारभणितिरन्या धन्यानां श्रवणयुगलेषु ॥

आलोचकों ने इन पद्यों को साहित्य की कसौटी पर कसा है और उन्हें चमकता खरा सोना पाया है। ये ध्वनि के नमूने हैं। इनके कारण अमरुक के प्रतिभासम्पन्न महाकवि होने में तनिक भी सन्देह नहीं रहता। हिन्दी के प्रसिद्ध कवियों ने अमरुक के भावों को अपनाया है। बिहारी के दोहों में कहीं-कहीं इनकी छाया ही दीख पड़ती है, परन्तु पद्माकर ने तो अपने 'जगद्विनोद' में इनका सुन्दर अनुवाद कर इन्हें बिल्कुल अपना लिया है।

प्रस्थानं वलयैः कृतं प्रियसखैरस्रैरजस्रं गतं
धृत्या न क्षणमासितं व्यवसितं चित्तेन गन्तुं पुरः।
यातुं निश्चितचेतसि प्रियतमे सर्वे समं प्रस्थिता
गन्तव्ये सति जीवित! प्रिसुहृत्सार्थः किमु त्यज्यते ॥

[भावी प्रोषित-पतिका अपने जीवन से कह रही है—जब मेरे प्रियतम ने जाने का निश्चय किया तब दुर्बलता के मारे मेरे हाथ के कंकण गिर गये, प्रियमित्र अश्रु भी जाने लगे। केवल जाने की खबर सुनकर नेत्रों से सतत अश्रु-धारा छनने लगी। सन्तोष एक क्षण भी न रहा। मन तो पहले ही जाने के लिए तैयार हो गया— ये सब एक साथ ही चलने के लिये तैयार हो गये। हे प्राण! तुम्हें भी तो एक दिन जाना ही है तो अपने मित्रों का साथ क्यों छोड़ रहे हो? प्राणप्यारे के जाने की खबर सुन तुम भी चल बसो।]

मुग्धे मुग्धतयैव नेतुमखिलः कालः किमारभ्यते
मानं धत्स्व धृतिं बधान ऋजुतां दूरे कुरु प्रेयसि।
सख्यैवं प्रतिबोधिता प्रतिवचस्तामाह भीतानना
नीचैः शंस हृदि स्थितो हि ननु मे प्राणेश्वरः श्रोष्यति ॥

कोई सखी मुग्धा नयिका को सिखला रही है—हे मुग्धे ! क्या तुम इसी प्रकार लड़कपन में दिन बिता देगी। जरा नखड़ा करना सीखो, धैर्य धारण करो। अपने प्यारे के विषय में इस सरलता को दूर करो। इसप्रकार सखी द्वारा समझाई गई नायका डरकर उसे कहने लगी कि जरा धीरे से कहो। कहीं ऐसा न हो कि हृदय में रहने वाले प्राणेश्वर इन बातों को सुन लें ! नायिका का पति पर कितना अनुराग है ! मुग्धा का कितना अच्छा शाब्दिक चित्र खींचा गया है।

—+—

५. गोवर्धनाचार्य

ये बंगाल के अन्तिम राजा लक्ष्मणसेन (१११६ ई०) की सभा के मान्य कवि थे। इनकी एकमात्र रचना 'आर्या-सप्तशती' है, जिसमें नाना विषयों पर सात सौ आर्यायें स्वयं लेखक ने रची हैं। इस सप्तशती का आदर्श हाल द्वारा संगृहीत 'गाथासप्तशती' है। हाल की सप्तशती तत्कालीन प्राकृत कवियों के विशाल कविताओं का चुना हुआ संग्रह है, पर 'आर्यासप्तशती' एक ही कवि की रचना है। भाव तथा अर्थ में अनेक स्थानों पर आश्चर्य-जनक साम्य है। गोवर्धन शृंगार रस के आराधनीय आचार्य हैं, इसकी पुष्टि स्वयं जयदेव ने की है—

शृंगारोत्तरसत्प्रमेयरचनैराचार्यगोवर्धन-
स्पर्धी कोऽपि न विश्रुतः .... ।

गोवर्धन आर्या के बादशाह हैं। इससे पहले किसी कवि ने इस छन्द को इतने व्यवस्थित, सुचारु तथा सुन्दर रूप में नहीं लिखा था। यहाँ शृङ्गार की नाना अवस्थाओं का वर्णन बड़ी मार्मिकता से किया गया गया है। नागरिक स्त्रियों की शृङ्गारिक चेष्टाओं का चित्रण जितना चटकदार है उतना ही ग्रामीण महिलाओं की रसभरी स्वाभाविक उक्तियाँ मनोहर हैं। कवि मानव-हृदय की प्रवृत्तियों का सच्चा पारखी है। संयोग तथा वियोग के समय कामिनियों के हृदय में जो कल्पनायें ललित खेल किया करती हैं उनकी परख गोवर्धन कवि को खूब है। तथ्य बात यह है कि कवि ने छोटे से छन्द में विविध भावों को भरकर गागर में सागर भरने की लोकोक्ति चरितार्थ की है।

सा सर्वथैव रक्ता रागं गुञ्जेव न तु मुखे वहति।
वचनपटोस्तव रागः केवलमास्ये शुकस्येव ॥

[नायिका नायक के प्रति पूर्णतया अनुरक्त है, पर अपने अनुराग को वह मुख से प्रकट नहीं करती। अतः वह उस लाल गुंजाफल के समान है जो मुख को छोड़ सर्वाङ्ग में रक्तवर्ण है। दूसरी ओर वचनचातुरी में अत्यन्त, दक्ष, नायक है जो मुखमात्रसे ही अपने प्रेम का ख्यापन करता है। अतः वह उस हरे शुक के समान है जिसका केवल मुख ही लाल होता है।]

विरह से संतप्त नायिका का यह वर्णन कितना चमत्कार जनक है:—

न स वर्णो न च रूपं न संस्क्रिया कापि नैव सा प्रकृतिः।
बाला त्वद्विरहादपि जाताऽपभ्रंशभाषेव॥

अपभ्रंश भाषा के साथ विरहणी की समता सचमुच में अनूठी है। वियोग की आग ने तन्वङ्गी को इतना झुलसा दिया है कि उसका वह पुराना रंग ही गायब हो गया, वह सुभग रूप स्मृति का विषय बन गया। शरीर की वह सुन्दर शृंगारिक सज्जा अतीत की स्मृति बन गई। उसके स्वभाव के परिवर्तन ने रसिकों को अचरज में डाल दिया है। सच तो यह है कि संस्कृत से वर्ण, रूप, संस्कार तथा प्रकृति में विकृति पानेवाली अपभ्रंश भाषा के समान ही वह वियोगिनी इन चारों विषयों में विकृत बन गई है। समता में अद्भुत चमत्कार उमड़ पड़ा है !!!

—×—

६. जयदेव

राजा लक्ष्मणसेन की सभा में ही वे महाकवि रहते थे, जिनकी लेखनी ने 'गीत-गोविन्द' जैसे अमर काव्य की सृष्टि की है। ये महाकवि जयदेव हैं, जो बंगाल के केन्दुबिल्व नामक स्थान के निवासी थे। आज भी 'केन्दुली' में हजारों वैष्णव साधुजन एकत्र होकर इस महाकवि के प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हैं। भक्तों ने इनकी लोकातीत जीवनी का संरक्षण भक्त-चरितों में बड़ी तत्परता के साथ किया है। इनका जीवन क्या था, आनन्दकन्द व्रजचन्द की दिव्य भक्ति में पगे हुए भक्त का जीवन था। इनका जीवन एक ही रस से बाहर भीतर ओतप्रोत था और वह रस था भक्ति-रस।

इनके 'गीतगोविन्द' में १२ सर्ग हैं। प्रत्येक सर्ग गीतों से ही समन्वित हैं। सर्गों को परस्पर मिलाने के लिए तथा कथा के सूत्र को बतलाने के लिए

कतिपय वर्णनात्मक पद्य भी हैं। 'गीत-गोविन्द' क्या है ? भगवती संस्कृत भारती के सौन्दर्य तथा माधुर्य की पराकाष्ठा है। महाकवि कालिदास की कविता में भी इस रसपेशल मधुर भाव का हमें दर्शन नहीं मिलता। इस काव्य में कोमल, कान्त पदावली का सरस प्रवाह है तथा मधुर भावों का मधुमय सन्निवेश है। आनन्दकन्द ब्रजचन्द तथा भगवती राधिका की ललित लीलाओं का जितना ललाम वर्णन यहाँ मिलता है, वह अन्यत्र कहाँ देखने को मिल सकता है। छन्दमाधुर्य के लिये 'ललितलवङ्गलतापरिशीलनकोमलमलयसमीरे' वाली अष्टपदी का पठनमात्र पर्याप्त होगा।

भावों का सौष्ठव भी उतना ही हृदयावर्जक है। विरहिणी राधिका के वर्णन में कवि की यह उक्ति कितनी अनूठी है। राधा के दोनों नेत्रों से आँसुओं की धारा झर रही है। जान पड़ता है कि विकट राहु के दातों के गड़ जाने से चन्द्रमा से अमृत की धारा बह रही है:—

वहति च वलित-विलोचनजलधरमाननकमलमुदारम्।
विधुमिव विकटविधुन्तुददन्तदलनगलितामृतधारम्॥

उपमा की कल्पना तथा उत्प्रेक्षा की उड़ान में यह काव्य अनूठा तो है ही, इसकी सबसे बड़ी विशिष्टता है प्रेम की उदात्त भावना। राधा-कृष्ण के प्रेम की निर्मलता तथा आध्यात्मिकता सुन्दर शब्दों में यहाँ अभिव्यक्त की गई है। शृंगारशिरोमणि कृष्ण भगवत्तत्त्व के प्रतिनिधि हैं और उनकी प्रेयसी गोपिकायें जीव की प्रतीक हैं। राधा-कृष्ण का मिलन जीव-ब्रह्म का मिलन है। इस साधनामार्ग के अनेक तथ्यों का रहस्य यहाँ सुलझाया गया है। अर्थ की माधुरी के लिए इस पद्य का पर्यालोचन प्राप्त होगा—

दृशौ तव मदालसे वदनमिन्दुसंदीपकं
गतिर्जनमनोरमा विजितरम्भमूरुद्वयम्।
रतिस्तव कलावती रुचिर-चित्रलेखे भ्रुवा-
वहो विबुधयौवनं वहसि तन्वि! पृथ्वीगता॥

[राधा का रसमय वर्णन है—तुम्हारे नेत्र मद से अलस-आलसी हैं (पक्षान्तर में 'मदालसा' नामक अप्सरा है), तुम्हारा मुख चन्द्रमा को दीप्त करने वाला है (पक्षान्तर—'इन्दुमती' अप्सरा), गति जनों के मन को रमानेवाली है (पक्षान्तर—'मनोरमा' अप्सरा); तुम्हारे दोनों उरुओं ने रम्भा (रम्भा = केला तथा 'रम्भा' नामक विख्यात अप्सरा) को जीत लिया है। तुम्हारी रति

कला से युक्त है ('कलावती' अप्सरा)। तुम्हारी दोनों भौंहें सुन्दर चित्र के समान सुन्दर हैं (पक्षान्तर—'चित्रलेखा' अप्सरा)। हे तन्वी ! पृथ्वी पर रहकर भी तुम देव-युवतियों के समूह को अपने शरीर में धारण करती हो।]

इस कमनीय पद्य में श्लेष के माहात्म्य से देवाङ्गनाओं के नाम निर्दिष्ट किये गये हैं। मुद्रालंकार के द्वारा 'पृथ्वी' छन्द का भी रुचिर संकेत सहृदयों के आनन्द का विषय है।

गीतगोविन्द का व्यापक प्रभाव उत्तरभारत में ही नहीं, प्रत्युत महाराष्ट्र, गुजरात तथा कन्नड़ प्रान्त के साहित्य पर भी पड़ा है। महाप्रभु चैतन्यदेव गीतगोविन्द की माधुरी के परम उपासक थे। उनके शिष्य प्रतापरुद्रदेव (१६ शतक) ने उत्कल के अनेक मन्दिरों में इसके नियमित गायन के लिए भूमिदान की व्यवस्था की थी। मराठी साहित्य में महानुभावी ग्रन्थकार भास्कर भट्ट बोरीकर (१२७५ ई०–१३२० ई०) के काव्य-ग्रन्थ 'शिशुपालवध' में गीतिगोविन्द के अनेक भाव-सादृश्य उपलब्ध होते हैं, जिसे ग्रन्थकार ने जयदेव से निश्चित रूप से ग्रहण किया है। गुजरात के राजा शार्ङ्गदेव के एक शिलालेख (संवत् १३४८ = १२९१ ई०) का मंगलश्लोक गीतगोविन्द के प्रथम सर्ग का अन्तिम पद्य है। अप्रमेय शास्त्री (१७५० ई०) ने 'शृंगार-प्रकाशिका' नामक व्याख्या इस ग्रन्थ पर कन्नड़ भाषा में लिखी है। मैसूर के राजा चिक्कदेवराय (१६७२ ई०–१७०४ ई०) ने गीतगोविन्द के आदर्श पर 'गीतगोपाल' नामक सुन्दर काव्य लिखा है, जो कन्नड़ देश में गीतगोविन्द की लोकप्रियता का स्पष्ट प्रमाण है[1]।

—x—

स्तोत्र साहित्य

संस्कृत का स्तोत्र साहित्य बड़ा ही विशाल, सरस तथा हृदयस्पर्शी है। प्रत्येक धर्म में भक्त अपने हृदय की बातें भगवान् के सामने प्रकट करने तथा उनकी महिमा के वर्ण में अपने कोमल तथा भक्ति पूरित हृदय को अभिव्यक्त

---

१. लोकप्रियता का अन्य प्रमाण इनकी विपुल व्याख्या-सम्पत्ति है। राणा कुम्भकर्ण (१५६३ ई०) तथा शङ्कर मिश्र (१७५९ ई०) की प्रकाशित व्याख्या के अतिरिक्त वनमाली भट्ट, विट्ठलेश्वर तथा भगवद्दास (रसकदम्ब-कल्लोलिनी नामक) की व्याख्यायें भी उपलब्ध हैं।

करता है, परन्तु हमारे भक्तों ने अपने हृदय की जितनी दीनता, कोमलता तथा भगवान् की उदारता का परिचय दिया है वह सचमुच उपमाहीन है। हमारे भक्त कवि कभी भगवान् की दिव्य विभूतियों के दर्शन से चकित हो उठता है तो कभी भगवान् के विशाल हृदय, असीम अनुकम्पा और दीनजनों पर अकारण स्नेह की कथा गाता हुआ आत्मविस्मृत हो उठता है। अपने पूर्व कर्मों की ओर जब वह दृष्टि डालता है तब वह उसकी क्षुद्रता उसे बेचैन बना डालती है। बच्चा जिस प्रकार अपनी माता के पास मन चाही प्यारी वस्तु के न मिलने पर कभी रोता है, कभी हंसता है, आत्म-विश्वास की मस्ती में वह कभी नाच उठता है। ठीक यही दशा हमारे भक्त-कवियों की है। वे अपने इष्ट देवता के सामने अपने हृदय के खोलने में किसी प्रकार की आना-कानी नहीं करते। वे अपने हृदय की दीनता तथा दयनीयता कोमल शब्दों में प्रकट कर सच्ची भावुकता का परिचय देते हैं। इन्हीं गुणों के कारण इन भक्तों के द्वारा विरचित स्तोत्रों में बड़ी मोहकता है। चित्त को पिघला देने की भारी शक्ति है। संगीत का पुट मिल जाने पर इनका प्रभाव बहुत-ही अधिक बढ़ जाता है।

इस विशाल स्तोत्र साहित्य के यथार्थ वर्णन के लिए स्वतन्त्र ग्रन्थ की आवश्यकता है। यहाँ कतिपय प्रसिद्ध स्तोत्रों का ही परिचय प्रस्तुत किया जायेगा।

—×—

७. पुष्पदन्त

शिवमहिम्न—भगवान् शंकर के स्तोत्रों में इस स्तोत्र का प्रमुख स्थान है। इसके रचयिता कोई पुष्पदन्त आचार्य हैं। परन्तु उनके व्यक्तित्व से हम परिचित नहीं है। राजशेखर ने इनका एक पद्य अपनी काव्यमीमांसा में उद्धृत किया है। जिससे इनका समय दशम शतक से पूर्व होना सिद्ध है। यह स्तोत्र सुन्दर शिखरिणी वृत्तों में लिखा गया है।

'शिवमहिम्नः' स्तोत्र की भाव-सम्पत्ति, शब्दसौष्ठव तथा अर्थमाधुरी नितान्त आवर्जक है। दार्शनिक विचारों का सन्निवेश, वैदिक तथ्यों का उन्मीलन, पौराणिक वृत्तों का संकेत इस स्तोत्र में इतनी मनोरमता से उभरे हुये हैं कि शिवविषयक स्तोत्रों में यह एकदम उपमाहीन स्तोत्र माना जाता है। कोमल भावों के प्रदर्शन की अपेक्षा विकट भावों की अभिव्यञ्जना प्रचुरता से यहाँ होती है। इन्हीं कारणों से 'महिम्नो नापरा स्तुतिः' की उक्ति चरितार्थ

होती है। संस्कृत के वृत्तों में 'शिखरिणी' की गेयता सर्वापेक्षया प्रख्यात है और उस गेयता की माधुरी इस स्तोत्र में श्रोताओं को मुग्ध किये बिना नहीं रहती। भगवान् शङ्कर की अनुपम चमत्कारी-स्तुति का प्रतिपादक यह पद्य भक्तजनों में पर्याप्त रूपेण प्रख्यात है—

असितगिरि समं स्यात् कज्जलं सिन्धु पात्रे
सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं
तदपि तव गुणानामीश पारं न याति।

[नीलगिरि के समान यदि काली स्याही हो, समुद्र दावात हो, कल्प-वृक्ष की डाल लेखनी हो, यह विशाल पृथ्वी कागज हो—इन उपकरणों से युक्त होकर यदि भगवती सरस्वती सदा आप के गुणों को लिखे, तो भी हे भगवन्! वह आप के गुणों के अन्त तक नहीं पहुँच सकती।]

—x—

८. मयूर भट्ट

बाण के ही समान मयूरभट्ट की भी प्रतिष्ठा श्रीहर्ष के दरबार में थी। सुनते हैं कि किसी कारणवश इन्हें कुष्ट रोग हो गया था, जिसके निवारणार्थ उन्होंने सूर्य भगवान् की सुन्दर स्तुति लिखी। मयूर का 'सूर्य-शतक' स्रग्धरा वृत्त में लिखा गया नितान्त प्रौढ काव्य है। स्रग्धरा वृत्त में लिखे गये काव्यों में यही प्रथम काव्य है। इसके पढ़ने से संस्कृत भाषा के ऊपर कवि की प्रभुता स्पष्ट परिलक्षित होती है। झनझनाते हुए अनुप्रासों की मधुर ध्वनि सहृदयों के हृदय का आवर्जन करती है। कवि सूर्य के भिन्न-भिन्न अङ्गों और साधनों (जैसे रथ, घोड़े इत्यादि) के वर्णन में पूर्णरूप से सफल है। मयूर मुख्यतया 'शब्द' कवि हैं। नोंकझोंक वाले शब्दों के रखने में ये बेजोड़ हैं।

—x—

९. बाणभट्ट

बाणभट्ट मयूरभट्ट के समकालीन ही न थे, प्रत्युत उनके सगे-सम्बन्धी भी थे। उनकी कीर्ति गद्य-काव्य के रचयिता के रूप में ही विशाल है। गीति-काव्य के निर्माता के रूप में वे कम प्रसिद्ध हैं। उनका 'चण्डीशतक' भगवती दुर्गा की

स्रग्धरा वृत्त में बड़ी ही प्रशस्त स्तुति है। यदि बाण महाकाव्य के लिखने के लिए उद्यत होते, तो इस क्षेत्र में भी उन्हें कम सफलता प्राप्त नहीं हुई होती, पर इधर उन्होंने ध्यान नहीं दिया। 'चण्डीशतक' में बाण की उस परिचित शैली का चमत्कार देखने को मिलता है जिसके लिये वे अत्यन्त प्रख्यात हैं— लम्बे-लम्बे समास, नोंकझोंक के शब्द, कानों में झनकार करने वाले अनुप्रास, ऊँची उत्प्रेक्षा। भोजराज ने सरस्वती कण्ठाभरण में चण्डीशतक का यह प्रशस्त पद्य दृष्टान्त के रूप में दिया है—

विद्राणे रुद्रवृन्दे सवितरि तरले वज्रिणि ध्वस्तवज्रे
जाताशङ्के शशाङ्के विरमति मरुति त्यक्तवैरे कुबेरे।
वैकुण्ठे कुण्ठितास्त्रे महिषमतिरुषं पौरुषोपघ्ननिघ्नं
निर्विघ्नं निघ्नती वः शमयतु दुरितं भूरिभावा भवानी॥

—×—

१०. शङ्कराचार्य

बाण-मयूर के लगभग पचास वर्ष के भीतर ही धर्मक्षेत्र को उद्भासित करने वाले एक महान् पुरुष का जन्म हुआ। इनका नाम था आचार्य शङ्कर। ये भगवान् की एक दिव्य विभूति थे, जिनकी कीर्तिकौमुदी आज भी उसी प्रशान्तरूप से समस्त जगत् को उद्योतित कर रही है। दार्शनिक जगत् में उन्होंने अद्वैत तत्त्व की प्रतिष्ठा की। परमार्थ-दृष्टि से वे अद्वैत के तथा मायावाद के परम प्रतिष्ठापक हैं, परन्तु व्यवहार जगत् में नाना देवताओं की उपासना उन्हें अभीष्ट है। सगुण ब्रह्म की उपासना हमें निर्गुण ब्रह्म तक पहुँचाने के लिए आवश्यक साधन है। इसीलिए शङ्कराचार्य ने उपास्य ब्रह्म के प्रतिनिधिभूत विष्णु, शिव, गणपति, शक्ति, हनुमान् आदि नाना देवी-देवताओं की परम रमणीय स्तुतियाँ लिखी है। इन स्तोत्रों की संख्या बहुत ही अधिक है। इन सबको आदिशङ्कराचार्य की रचना मानना उचित नहीं है, परन्तु इनमें से अनेक प्रसिद्ध स्तोत्र आचार्य की ललित लेखनी के प्रसाद हैं।

शङ्कराचार्य की काव्यकला बड़े ही ऊँचे दर्जे की है। उसे हम अन्तः-प्रेरणा का, प्रशस्त प्रतिभा का मधुमय फल समझते हैं। शङ्कर की कविता निःसन्देह रसभाव निरन्तरा है, आनन्द का अक्षय स्रोत है, उज्वल अर्थरत्नों की मनोरम पेटिका है, कमनीय कल्पना की ऊँची उड़ान है। उनके स्तोत्र

हमारे स्तोत्र साहित्य के शृङ्गार हैं। उनमें संगीत की इतनी माधुरी है कि श्रोताओं का हृदय उनकी ओर हठात् आकृष्ट हो जाता है। 'भज गोविन्दम्' केवल इसी स्तोत्र का पाठ इस कथन को प्रमाणित सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है।

भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते।
प्राप्ते सन्निहिते तव मरणे नहि नहि रक्षति डुकृञ् करणे॥
बालस्तावत् क्रीडासक्तः तरुणस्तावत् तरुणीरक्तः।
वृद्धस्तावत् चिन्तामग्नः पारे ब्रह्मणि कोऽपि न लग्नः॥
भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते।

—की स्वरलहरी जब हमारे कर्णकुहरों में अमृतरस बरसाने लगती है, तब जान पड़ता है हम इस क्लेशबहुल जगत् से ऊँचे उठकर किसी आनन्दमय दिव्य लोक में जा विराजते हैं। आचार्य की कविता का परम सौन्दर्य एकत्र देखने के लिए 'सौन्दर्यलहरी' का अध्ययन पर्याप्त होगा। भगवती त्रिपुरसुन्दरी के दिव्य सौन्दर्य की छटा जितनी प्रस्फुटित इस लहरी में हुई है उतनी अन्यत्र शायद ही हो। भाषा तथा भाव, रस तथा अलंकार, साहित्य तथा तन्त्र— किसी भी दृष्टि से इस लहरी का अनुशीलन किया जाय, इसकी अलौकिकता पद-पद पर प्रमाणित होती है। इसमें सिर से लेकर पैर तक भगवती के अङ्ग-प्रत्यंग की शोभा का सुचारु वर्णन हम पाते हैं। आरम्भ के चालीस पद्यों में हम तन्त्रशास्त्र के गम्भीर रहस्यों का परिचय पाते हैं। साहित्यिक सौन्दर्य तथा तान्त्रिक गूढता—उभयरूप में यह स्तोत्र अपनी समता नहीं रखता। भगवती कामाक्षी के सीमन्त तथा सिन्दूर रेखा का यह वर्णन साहित्य संसार के लिए वस्तुतः एक नई वस्तु है, कल्पना की कमनीयता का एक अभिराम उदाहरण है :—

तनोतु क्षेमं नस्तव वदनसौन्दर्यलहरी-
परीवाहः स्रोतःसरणिरिव सीमन्तसरणी।
वहन्ती सिन्दूरं प्रबलकबरीभारतिमिर-
द्विषां बृन्दैर्बन्दीकृतमिव नवीनार्ककिरणम्॥

—×—

११. कुलशेखर

कुलशेखर का 'मुकुन्दमाला' स्तोत्र तथा यामुनाचार्य का 'आलवन्दार' स्तोत्र श्रीवैष्णव मत के स्तोत्रों में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। कुलशेखर त्रिवांकुर राज्य के प्राचीन राजा माने जाते हैं, जिनका आविर्भाव दशम शतक में हुआ। ये वष्णव धर्म के सुप्रसिद्ध आलवारों में अन्यतम माने जाते हैं। इनका 'मुकुन्दमाला' स्तोत्र वैष्णव स्तोत्रों का मुकुट-मणि है। कवि कभी अपनी दीन-हीन दशा का वर्णन करते आत्मविस्मृत हो जाता है, तो कभी वह भगवान् के विराट् रूप के दर्शन से चमत्कृत हो उठता है। इनके श्लोक संख्या में केवल ३४ ही हैं, परन्तु इनमें हृदय को आवर्जन करने की विचित्र शक्ति है।

दिवि वा भुवि वा ममास्तु वासो
नरके वा नरकान्तक प्रकामम्।
अवधीरितशारदारविन्दो
चरणौ ते मरणेऽपि चिन्तयामि॥

[मेरा निवास इस भूतल पर हो, या स्वर्ग में हो, हे नरक को दूर भगाने वाले भगवन्! चाहे मेरी स्थिति नरक में ही क्यों न हो? आप के शरद् ऋतु में खिले कमलों की शोभा को तिरस्कृत करने वाले चरणों को मैं मरण में भी सदा स्मरण किया करता हूँ।]

—×—

१२. यामुनाचार्य

यामुनाचार्य श्रीवैष्णव मत के प्रतिष्ठापक रामानुजाचार्य के परम गुरु थे। इनका समय ईसा० की दसवीं शताब्दी है। दक्षिण भारत ही इनके धार्मिक उपदेशों का प्रधान क्षेत्र था। इनका तामिल नाम 'आल-बन्दार' था और इसी कारण इनका परम रम्य स्तोत्र 'आलबन्दार-स्तोत्र' के नाम से विख्यात है, यद्यपि आन्तरिक सुषमा के कारण भक्तजन इसे 'स्तोत्ररत्न' के नाम से पुकारते हैं। कवि ने अपना भक्तिभावित हृदय भगवान् के सामने इतनी दीनता भरे शब्दों में प्रकट किया है कि पाठकों का चित्त इसे पढ़कर गद्गद हो जाता है। प्रपत्ति का भाव इसमें बड़ी सुन्दरता से अभिव्यक्त किया गया है।

तवामृतस्यन्दिनि पादपङ्कजे
निवेशितात्मा कथमन्यदिच्छति ।
स्थितेऽरविन्दे मकरन्दनिर्भरे
मधुव्रतो नेक्षुरसं समीक्षते ॥

[हे भगवन् ! मेरा चित्त आपके अमृतरस चुलाने वाले पाद-पद्मों में रम गया है, भला अब वह किसी दूसरी चीज को क्यों कर चाहेगा ? पुष्परस से भरे हुए कमल के विद्यमान रहने पर क्या भँवरा ईख के रस को कभी देखता है ? उसे चखने की तनिक भी अभिलाषा उसके हृदय में उठती है ?]

—×—

१२. लीलाशुक

लीलाशुक दक्षिण भारत के निवासी कवि थे। इनके आविर्भावकाल का यथावत् परिचय नहीं मिलता, परन्तु चैतन्य महाप्रभु के द्वारा इनके काव्य को बंगाल में प्रचारित होने की किंवदन्ती को आधार मान कर हम इनका समय १५वीं शती से कथमपि अर्वाचीन नहीं मान सकते। इनकी एकमात्र रचना 'कृष्णकर्णामृत' सचमुच अपनी रस माधुरी के कारण रसिकों के, विशेषतः कृष्णभक्तों के हृदयावर्जन में अद्भुत क्षमता रखता है। बालकृष्ण की लीला का कीर्तन, श्रोताओं के हृदय का शब्द की महिमा से आकर्षण तथा हृदय में प्रवेश करने की चमत्कारी घटना से कौन सचेता आलोचक चमत्कृत नहीं हो जाता। लीलाशुक, कृष्णलीलाशुक तथा बिल्वमंगल के नाम से प्रख्यात कवि का वास्तविक नाम आज भी अज्ञात है। ग्रन्थ से ही पता चलता है कि ये नीली तथा दामोदर के पुत्र और ईशानदेव के शिष्य थे। लीलाशुक के नाम से प्रसिद्ध व्याकरण तथा दर्शन-विषयक ग्रन्थ कृष्णकर्णामृत के रचयिता की निःसंदिग्ध रचनाएँ हैं—यह कहना कठिन है।

'चिन्तामणि' नाम्नी वेश्या में इनकी गाढ अनुरक्ति तथा उसके ही झिड़कने पर कृष्ण में इनकी दृढ निष्ठा की कथा भक्तों में नितान्त प्रख्यात है। 'कृष्ण-कर्णामृत' में तीन शतक से अधिक पद्य हैं, जिनमें से प्रथम शतक चैतन्य द्वारा गौडीय भक्तों में प्रचारित हुआ। आज तो यह गौडीय वैष्णव-सम्प्रदाय का मूल ग्रन्थ है।

राधा की वंशी से यह प्रार्थना कितनी मृदुल तथा कोमल है—

अयि मुरलि मुकुन्दस्मेरवक्त्रारविन्द-
श्वसनमधुरसज्ञे त्वां प्रणम्याद्य याचे।
अधरमणिसमीपं प्राप्तवत्यां भवत्यां
कथय रहसि कर्णे मद्दशां नन्दसूनोः॥

अयि मुरली ! तुम मुकुन्द के विकसित पद्ममुख के मधुमय श्वास के रस को जानने वाली हो। आज मैं तुम्हें प्रणाम कर बिनती करती हूँ—जब तुम नन्दसूनु के अधरमणि के समीप जाना, तब मेरी इस दीन, दयनीय दशा को चुपके-चुपके उनके कान में जरा कह तो देना। कितनी उचित तथा सुभग प्रार्थना है। नारी के हृदय को नारी ही जान सकती है। अतः वंशी से राधा की प्रार्थना में नितान्त औचित्य है।

—×—

१४. वेंकटाध्वरि

वेंकटाध्वरि मद्रास प्रान्त के निवासी श्रीवैष्णव थे। इन्होंने अपने 'विश्वगुणादर्शचम्पू' में मद्रास में अंग्रेजों के रहने तथा उनके दुराचार का वर्णन किया है, जिससे इनका स्थितिकाल १७वीं शताब्दी का मध्यभाग निश्चित होता है। इनका कीर्तिस्तम्भ 'लक्ष्मी-सहस्र' है, जिसे कवि ने एक ही रातभर में बनाकर अपने अद्भुत रचना-चातुरी का परिचय दिया था। इस स्तोत्ररत्न में भगवती लक्ष्मी की स्तुति पूरे एक हजार पद्यों में की गई है। सैकड़ों श्लोक तो लक्ष्मी के ललित अङ्गों के वर्णन में लिखे गये हैं। इस काव्य में अलंकारों की छटा सुतरां अवलोकनीय है। वेंकटाध्वरि मुख्यतः शब्द-कवि हैं। श्लेष लिखने में ये बेजोड़ हैं। इनका हृदय भक्तिभावना से नितान्त आप्यायित है, परन्तु उनके पाडित्य का प्रकर्ष कम नहीं है। कभी वे भगवती से दया की भिक्षा माँगते हैं, तो कभी उनकी विरुदावलि गाने में व्यस्त हो जाते हैं। कभी उनकी दृष्टि लक्ष्मी जी के अङ्गों के सौन्दर्य पर गड़ जाती है, तो कभी उनके श्रवण भगवती के गुणों के सुनने में लग जाते हैं। उन्होंने जो कुछ लिखा है उसमें अलौकिक प्रतिभा, नितनूतन उत्प्रेक्षा तथा कमनीय रचनाचातुरी का परिचय दिया है। संस्कृतभाषा में इस रसपेशल तथा उत्प्रेक्षामण्डित काव्य को

लिखकर वेंकटाध्वरि सचमुच अमर हो गये हैं। इनकी एक-एक सूझपर विदग्ध समाज बड़े-बड़े पोथों को निछावर करने को तैयार है। भगवती लक्ष्मी के कटि का यह वर्णन कल्पना में एकदम बेजोड़ है :—

परमादिषु मातरादिमं यदिमं कोषकृताह मध्यमम्।
अमरः किल पामरस्ततः स बभूव स्वयमेव मध्यमः ॥

हे मातः, आप जगत् की जननी हैं। आप की कटि इस सृष्टि के आदि में विद्यमान व्यक्तियों में आदिम है—प्रथम है। भगवती सृष्टि की विधायिका ठहरीं। उनकी कटि सब से आदि वस्तु है। ऐसे उत्तम वस्तु को अमर नामक कोष के रचयिता ने मध्यम—नीच बतलाया है। 'कटि' का पर्याय 'मध्य' या मध्यम है। 'मध्यमं चावलग्नं च मध्योऽस्त्री' इत्यमरः। इस अनुचित कथन की सजा उसे खूब मिली। वह तो ठहरा अमर—श्रेष्ठ देवता, पर इसी अपराध के कारण वह बन गया पामर, नीच तथा मध्यम—मध्यलोक का निवासी–मनुष्य। देवता का मर्त्यलोक में जन्मना महान् दण्ड है। अब इसके श्लिष्ट अर्थ पर विचार किजिए। 'परम' का अर्थ है– पर है मकार जिनमें अर्थात् मकारान्त शब्द। 'आदि-म' का अर्थ है आदि में 'म' वाले शब्द तथा इसी रीति से 'मध्य-म' से तात्पर्य मध्य में मकार वाले शब्दों से है। लक्ष्मी जी का मध्यम अन्तिम मकार वाले शब्दों में आदि मकार वाला है, परन्तु फिर भी कोषकार उसे मध्य मकार वाला बतलाता है। इस उल्टी बात का फल यह हुआ कि वह मध्यम-मध्य मकार वाला बन गया। 'अमर' के बीच में मकार है। अतः बुरे कथन का फल उसे ही मिला। वह स्वयं मध्यम बन गया। प्रसन्न श्लेष की छटा सुतरांविलोकनीय है। प्रतिभा के साथ पाण्डित्य का मेल नितान्त सुन्दर है।

काश्मीर के कवियों ने भी अनेक प्रशस्त स्तोत्रों की रचना की है, जिनमें उत्पलदेव की 'शिवस्तोत्रावली' तथा जगद्धरभट्ट की 'स्तुति-कुसुमाञ्जली' नितान्त प्रसिद्ध हैं। काश्मीरी शैवों में इन स्तोत्रों की वही प्रतिष्ठा है, वही आदर है जो वैष्णवों में पूर्वोक्त स्तोत्रों को प्राप्त है। उत्पलदेव त्रिकदर्शन के आचार्यों में अन्यतम हैं। त्रिकदर्शन को इन्होंने अपने ग्रन्थों से पर्याप्त प्रतिष्ठा की। इनका समय नवम शताब्दी है। इनकी शिवस्तोत्रावली में २१ विभिन्न स्तोत्रों का संग्रह है। इन सब का एक ही विषय है—भगवान् शङ्कर के अनन्त गुणों का वर्णन, उनके कमनीय रूप की मधुर झाँकी। इन पद्यों के भाव बड़े ही उज्ज्व-

कोटि के हैं। भगवान् शङ्कर से सम्पर्क रखने वाली छोटी से छोटी चीज हमारे भक्त कवि को प्यारी है, परन्तु उनके सम्बन्ध से रहित प्रशस्त वस्तु भी उन्हें रुचिर नहीं लगती।

कण्ठकोणविनिविष्टमीश ते कालकूटमपि मे महामृतम्।
अप्युपात्तममृतं भवद्वपुर्भेदवृत्ति यदि मे न रोचते॥

हे भगवन्! आपके कण्ठ के कोने में रखा गया कालकूट भी मेरे लिए महान् अमृत के समान पोषक तथा संजीवक है। परन्तु यदि आप के शरीर से पृथक् होकर रहने वाला अमृत भी हो, तो वह मुझे नहीं रुचता। भक्त कवि की भावुकता कितने स्पष्ट अक्षरों में अभिव्यक्त हुई है।

—×—

१५. जगद्धरभट्ट

ये गौरधर के पौत्र तथा रत्नधर के पुत्र थे। इनका निवास स्थान कश्मीर था। इन्होंने अपने 'यशोधर' नामक पुत्र के 'कातन्त्र-व्याकरण' की 'बालबोधिनी' नामक वृत्ति लिखी थी, जिसके ऊपर राजानक शितिकण्ठ ने टीका लिखी है। शितिकण्ठ जगद्धरभट्ट के सगे-सम्बन्धी थे, क्योंकि वे उनके दौहित्र की दौहित्री के पुत्र थे। टीका की रचना काश्मीर के बादशाह हसनशाह (१४७२ ई०–८४ ई०) के जमाने में रची गई थी। इस प्रकार जगद्धर शितिकण्ठ से छठी पीढ़ी पूर्व विद्यमान थे—लगभग सौ-डेढ सौ साल पहिले, १३५० ई० के आसपास। अतः इनका समय लगभग १४वीं शताब्दी का मध्य भाग निश्चित किया जा सकता है।

इनका सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है—स्तुतिकुसुमाञ्जलि, जिसमें ३८ स्तोत्र हैं और १५०० श्लोक हैं। जगद्धर भगवान् शङ्कर के अनन्य उपासक थे। इनकी कविता अतीव सरस तथा सरल है। उसका अधिकांश भाग करुणरस से परिपूरित है। कवि ने ऐसे-ऐसे प्रभावोत्पादक और हृदय-द्रावक ढंग से शङ्कर को आत्मनिवेदन किया है कि कठिनहृदय व्यक्तियों का भी चित्त भक्तिभाव से आर्द्र हो जाता है। इनकी विलक्षण कविता में श्लेष, अनुप्रास तथा यमक का अपूर्व सम्मेलन है।

इनके काव्य में कलापक्ष तथा हृदय-पक्ष का अपूर्व सम्मिलन है। कलापक्ष के अन्तर्गत विशेष रूपसे वे ९ सर्ग आते हैं (२२–३० सर्ग), जिनमें कवि ने चित्रकाव्य की रचना में अपना प्रौढिप्रकर्ष प्रदर्शित किया है। नाना प्रकार के यमकों से कलापक्ष की पुष्टि प्रचुर मात्रा में होती है। हृदय पक्ष का प्रदर्शन काव्य के उन प्रभूत स्थलों पर है जहाँ कवि अपनी दयनीयता, हीनता तथा निःसहायता का आश्रय लेकर रुचिर पदों का विन्यास करता है। यही पक्ष प्रमुख है, क्योंकि कलापक्ष वाले पद्यों का भी सम्मान किसी भाव की अभिव्यक्ति की ओर अन्ततः है।

कवि शंकर को इन सुभग शब्दों में उपालम्भ करता है—हे महेश, यमराज मुझे ले जाने को आ गया है। आप मेरी रक्षा क्यों नहीं करते? मेरी इस दुर्दशा को देखकर आपके हृदय में करुणा से पीडा भले ही कुछ न हो, परन्तु मुझ जैसे शरणागत को छोड़ते हुए क्या आपको लज्जा नहीं आती—

आः किं न रक्षसि नयत्ययमन्तको मां
हेलावलेपसमयः किमयं महेश।
मा नाम भूत् करुणया हृदयस्य पीडा
व्रीडापि नास्ति शरणागतमुज्झतस्ते॥

(११।१०२)

भगवन्! क्या मुझे आप अधम, पापात्मा और खल समझकर तो मेरी उपेक्षा नहीं कर रहे हो? नहीं, नहीं, ऐसा समझना तो आप करुणासागर के लिए उचित नहीं है, क्योंकि अकुतोभय पुण्यात्मा को आपकी रक्षा की आवश्यकता ही क्या है? आपकी अनुकम्पा तो हम सरीखे असाधु, अधम और पापात्माओं पर ही सार्थक हो सकती है। अतः हमलोग ही आपकी दया के पात्र हैं:—

स्वैरेव यद्यपि गतोऽहमधः कुकृत्यै-
स्तत्रापि नाथ तव नास्म्यवलेपपात्रम्।
हस्तः पशुः पतति यः स्वयमन्धकूपे
नोपेक्षते तमपि कारुणिको हि लोकः॥

(११।३८)

—×—

१६. पण्डितराज जगन्नाथ

पण्डितराज जगन्नाथ जगद्धरभट्ट से तीन सौ वर्ष पीछे हुए। ये तैलङ्ग ब्राह्मण थे। वे काशी के ही निवासी थे। परन्तु तत्कालीन दिल्ली बादशाह शाहजहाँ के निमन्त्रण पर दिल्ली गये और वहीं उनके जेठे पुत्र दाराशिकोह के संस्कृत के शिक्षक रहे। उनकी विद्वत्ता से प्रसन्न होकर शाहजहाँ ने ही उन्हें 'पण्डितराज' की उपाधि से विभूषित किया। भगवान् कृष्ण के ये परम उपासक थे। यवनी-संसर्ग से दूषित होने की किंवदन्ती निरी गल्प है। इनके चरित्र में उदण्डता की मात्रा अधिक थी। तभी तो ये वयोवृद्ध दार्शनिक शिरोमणि अप्पयदीक्षित की दिल्लगी उड़ाने में कभी नहीं चूकते थे। इनके जोड़ का कवि इधर तीन सौ वर्षों में कोई हुआ, यह कहना कठिन है। इनकी शैली प्रसादमयी थी, प्रतिभा अलौकिक थी, भाषा पर प्रभुत्व आश्चर्यजनक था, कल्पना की उड़ान नितान्त ऊँची थी। कवित्व के साथ पाडित्य का इतना मंजुल सम्मिलन मिलना असम्भव नहीं, तो दुःसम्भव अवश्य है। कविता लिखने की इतनी शक्ति थी कि इन्होंने 'रसगङ्गाधर' में अलङ्कारों तथा रसों के उदाहरण के लिए अपने ही नये श्लोक बनाये हैं, किसी प्राचीन उदाहरण को उच्छिष्ट समझकर छूना भी इन्होंने उचित नहीं समझा।

इनके काव्यग्रन्थों में पाँच लहरियों का स्थान मुख्य है। इन लहरियों के नाम ये हैं—(१) करुणा-लहरी, जिसमें भगवान् की दया की प्रार्थना की गई है। (२) गंगा-लहरी या पियूषलहरी (गंगा की स्तुति)। (३) अमृत-लहरी (यमुना की स्तुति)। (४) लक्ष्मी-लहरी (लक्ष्मी जी की स्तुति)। (५) सुधा-लहरी (सूर्य-स्तुति)। इनके स्फुट पद्यों का संग्रह 'भामिनी-विलास' में किया गया है।

पण्डितराज जगन्नाथ की कविता में स्वाभाविक, प्रवाह है, पदों की मनोरम शय्या है तथा कल्पना का अभिराम चमत्कार है। भगवान् कृष्ण के चरणारविन्द में उनकी गाढ भक्ति थी। इसी कारण उनके काव्य भक्ति-रस से नितान्त स्निग्ध हैं। हम उनके काव्य को 'द्राक्षापाक' का सुन्दर उदाहरण मानते हैं। कालिन्दी के किनारे गोपियों के संग में विहार करने वाले व्रजचन्द्र श्रीकृष्ण की सुषमा बड़े ही सुन्दर शब्दों में चित्रित की गई है—

स्मृतापि तरुणातपं करुणया हरन्ती नृणा-
मभङ्गुरतनुत्विषां वलयिता शतैर्विद्युताम् ।
कलिन्दगिरिनन्दिनीतटसुरद्रुमालम्बिनी
मदीयमति-चुम्बिनी भवतु कापि कादम्बिनी ॥

—×—

जैनस्तोत्र

ब्राह्मणों के समान जैन मतानुयायियों तथा बौद्धों ने भी सुन्दर स्तोत्रों का निर्माण किया है। इन स्तोत्रों की संख्या कम नहीं है। जैन स्तोत्र मात्रा में अधिक हैं। केवल 'काव्यमाला' के सप्तम गुच्छक में तेईस जैन स्तोत्रों का एकत्र संकलन है, जिनमें मानतुङ्गाचार्य का 'भक्तामर स्तोत्र' तथा सिद्धसेन दिवाकर का 'कल्याणमन्दिर स्तोत्र' भाषा के सौष्ठव तथा भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति के कारण जैनियों में नितान्त विख्यात हैं। मानतुङ्ग बाण-मयूर के समकालीन बतलाये जाते हैं और सिद्धसेन का समय उनसे भी दो शताब्दी पूर्व माना जाता है। ये दोनों स्तोत्र स्तोत्र-साहित्य के रत्न हैं और भक्त हृदय के सच्चे उद्गार हैं। कवि अपनी नम्रता दिखलाता हुआ कह रहा है कि हे जिनवर! कम पढ़े-लिखे तथा विद्वानों की हँसी के पात्र होने पर भी तुम्हारी भक्ति ही मुझे मुखर बनाती है। वसन्त में कोकिल स्वयं नहीं बोलना चाहता, प्रत्युत आम की मंजरी उसे बलात् कूंजने का निमंत्रण देती है—

अल्पश्रुतं श्रुतवतां परिहासधाम
त्वद्भक्तिरेव मुखरीकुरुते बलान्माम् ।
यत् कोकिलः किल मधौ मधुरं विरौति
तच्चारुचूतकलिका - निकरैकहेतु ॥

कल्याणमन्दिर स्तोत्र में केवल ४४ पद्य हैं, परन्तु काव्य-दृष्टि से यह नितान्त अभिनन्दनीय है। कविता बड़ी प्रासादिक तथा नैसर्गिक है। कवि की उक्तियों में बड़ा चमत्कार है। कवि का कहना है कि हे जिन! आप के अलौकिक महिमा से युक्त परिचय की बात तो दूर रहे। आप का नाम ही जगत् की रक्षा करता है। निदाघ के दिनों में कमल से युक्त तालाब का सरस वायु भी

तीव्र आतप से सन्तप्त बटोहियों की गर्मी दूर कर देता है। जलाशय की बात तो दूर ही ठहरी—

आस्तामचिन्त्य महिमा जिन ! संस्तवस्ते
नामापि पाति भवतो भवतो जगन्ति।
तीव्रातपोपहतपान्थ-जनान् निदाघे
प्रीणाति पद्मसरसः सरसोऽनिलोऽपि॥

श्रीवादिराज का 'एकीभाव स्तोत्र', सोमप्रभाचार्य की 'सूक्तिमुक्तावलि' (६६ पद्य), श्री जम्बूगुरु का 'जिनशतक' (पूरा एक शत स्रग्धरा वृत्त में पद्य)—आदि अनेक स्तोत्रों की रचना जैन कवियों ने की है। आचार्य 'हेमचन्द्र' ने भी भगवान् महावीर की स्तुति में प्रौढ दार्शनिक स्तोत्र लिखा है, जिसमें ब्राह्मण तथा बौद्ध दर्शन के सिद्धान्तों की संक्षिप्त मार्मिक आलोचना की गई है। इस स्तोत्र का प्रसिद्ध नाम है—'अन्ययोगव्यच्छेदिका द्वात्रिंशिका काव्य'। मूलग्रन्थ से भी बढ़कर प्रसिद्ध है इसकी पाण्डित्यपूर्ण टीका मल्लिषेणसूरि रचित 'स्याद्वादमञ्जरी'।

—×—

बौद्ध स्तोत्र

बौद्धों के महायान सम्प्रदाय में स्तोत्रों की संख्या पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। महायान सम्प्रदाय में शुष्क ज्ञान के स्थान पर भक्ति की प्रधानता है। भक्ति से बुद्ध के सामने फल-फूल के अर्पण करने से ही निर्वाण की प्राप्ति हो सकती है, यही मान्यता इस सम्प्रदाय की है। भक्ति की प्रधानता होने के कारण महायानी भिक्षुओं ने संस्कृत भाषा में सुन्दर स्तोत्रों की रचना की। शून्यवाद के प्रधान प्रतिष्ठापक आचार्य नागार्जुन के भक्तिपूरित स्तोत्र हाल में ही प्राप्त हुए हैं। उन्होंने चार स्तोत्रों का निर्माण किया था, जो 'चतुःस्तव' के नाम से प्रसिद्ध है। इनके अनुवाद तिब्बती भाषा में उपलब्ध हैं। सौभाग्यवश इनके दो स्तोत्र मूल संस्कृत में उपलब्ध हुए हैं, जिनमें एक का नाम है—'निरौपम्यस्तवः' और दूसरे का 'अचिन्त्यस्तवः'। दोनों स्तोत्रों की भाषा सरस, चुस्त तथा भक्ति-संवलित है। जो लोग शून्य को बिलकुल अभावात्मक मानते हैं उन्हें यह पढ़कर आश्चर्य होगा कि नागार्जुन के ये स्तोत्र आस्तिकवाद के परम

रमणीय उदाहरण हैं। इन पर कालिदास की छाया स्पष्ट है। उदाहरण के लिए इन श्लोकों को देखिए।—

नामयो नाशुचिः काये क्षुत्तृष्णा सम्भवो न च।
त्वया लोकानुवृत्त्यर्थं दर्शिता लौकिकी क्रिया॥
नित्यो ध्रुवः शिवः कायस्तव धर्ममयो जिनः।
विनेयजनहेतोश्च दर्शिता निर्वृतिस्त्वया॥

पञ्चम परिच्छेद

संस्कृत का गद्य-साहित्य

संस्कृत भाषा का गद्य-साहित्य कुछ अपनी विशिष्टता लिए हुए है। आर्य जाति के साहित्य में गद्य का प्रथम अवतार हमारी देववाणी में ही हुआ। वैदिक संहिताओं में ही हमें गद्य का प्रथम दर्शन मिलता है। गद्य से मिश्रित होने के कारण ही कृष्णयजुर्वेद का कृष्णत्व है। प्राचीनतम गद्य का उदाहरण हमें इस वेद की तैत्तिरीय संहिता में उपलब्ध होता है। इस संहिता में गद्य भाग पद्य की अपेक्षा मात्रा में कथमपि न्यून नहीं है। इस वेद की अन्य संहिताओं—जैसे काठक संहिता, मैत्रायणी संहिता आदि में भी गद्य की सत्ता उसी मात्रा में है। कालक्रम में कुछ उतर कर अथर्ववेद का गद्य है। अथर्व का छठा भाग गद्यात्मक ही है। समग्र ब्राह्मणों की रचना गद्यरूप में ही है। यज्ञों के वर्णनात्मक होने से इसका प्रयोग उचित ही है। आरण्यकों में भी गद्य की ही प्रचुरता है। उपनिषदों में प्राचीन उपनिषद् गद्यात्मक ही हैं। इस प्रकार वैदिक साहित्य में गद्य का प्रयोग बहुत ही व्यापक, उदार तथा उदात्त रूप में हुआ है। लौकिक संस्कृत के ग्रन्थों में तदपेक्षया गद्य का प्रयोग बहुत ही कम हुआ है।

दर्शन के ग्रन्थों में जहाँ किसी सिद्धान्त का विवेचन हो मुख्य विषय है गद्य का व्यापक प्रयोग मिलता है, परन्तु ज्योतिष तथा वैदिक आदि वैज्ञानिक विषयों के ग्रन्थों में जहाँ इसका प्रयोग औचित्य प्राप्त है, हमें गद्य का दर्शन भी दुर्लभ है। चरक संहिता में प्राचीन गद्य के नमूने अवश्य मिलते हैं, परन्तु

अन्य वैद्यक ग्रन्थों की रचना छन्दोबद्ध ही है। ज्योतिष की भी यही दशा है। विशुद्ध साहित्य ग्रन्थों की दशा इससे कुछ अच्छी नहीं है। पद्य के प्रति लेखकों के पक्षपात का कारण यह है कि पद्य-बद्ध ग्रन्थ शीघ्रता से याद किये जा सकते हैं। छन्द का माध्यम उन्हें संगीतमय तथा लघुकाय बना देता है, जिससे वे स्मृतिपट पर अमिट रूप से अंकित हो जाते हैं। लेखक को छन्द का आश्रय लेने पर थोड़े में ही अपनी युक्तियों के प्रदर्शन का अवसर मिल जाता है। इन्हीं कारणों से लौकिक संस्कृत में गद्य का उतना विकास, प्रचलन तथा प्रसार नहीं हुआ जितना उसमें स्वाभाविक रीति से होने की आशा की जा सकती थी।

—×—

संस्कृत गद्य की विशेषता

संस्कृत गद्य की पहली विशिष्टता है—लाघव, लघुकायता। जो विचार अन्य भाषा में पूरे लम्बे वाक्य में प्रकट किये जा सकते हैं वे संस्कृत गद्य के एक ही पद में अभिव्यक्त किये जा सकते हैं। इसका कारण समास की सत्ता है। समास संस्कृत भाषा का जीवन है। उसने अधिक से अधिक अर्थ को कम से कम शब्दों में अभिव्यक्त करने की योग्यता प्रदान की है। ओज गुण के कारण संस्कृत गद्य में विचित्र प्रकार की भावग्राहिता तथा गाढबन्धता का संचार होता है, जिससे गद्य का सौन्दर्य पूरे रूप में खिल उठता है। ओज का प्रधान लक्षण है—समास की बहुलता (समास-भूयस्त्व) और यही ओज गद्य का प्राण है। "ओजः समासभूयस्त्वमेतद् गद्यस्य जीवितम्"—यह उक्ति अवश्य ही आलंकारिक कवि दण्डी की है, जिनका आविर्भाव गद्य-साहित्य के सुवर्णयुग में हुआ था, परन्तु संस्कृत गद्य की यह विशिष्टता बड़े प्राचीन काल से चली आती है। इसका सद्भाव प्रथम तथा द्वितीय शतक के शिलालेखों में प्रचुरता से है। पश्चिमी भारत के प्रसिद्ध क्षत्रप रुद्रदामन् के शिलालेख को पढ़ने पर यही जान पड़ता है कि हम बाण की शैली से प्रभावित गद्य पढ़ रहे हैं, परन्तु यह गद्य बाण से लगभग पांच सौ वर्ष पहले उट्टङ्कित किया गया था। हरिषेण की 'प्रयागप्रशस्ति' का गद्य भी इसी प्रकार प्रौढ, समासबहुल तथा उदात्त है। विजयस्तम्भ के वर्णन में कवि की यह उक्ति सदा विदग्धों को चमत्कृत करती रहेगी—

सर्वपृथिवीविजयजनितोदयव्याप्तनिखिलावनितलां कीर्तिमितस्त्रिदशपतिभवनगमनावाप्तललितसुखविचरणामाचक्षाण इव भुवो बाहुरयमुच्छ्रितः स्तम्भः।

इस शैली का प्रयोग गद्य काव्य के लिखने में किया जाता था, परन्तु कथानकों के वर्णन में सीधी-सादी भाषा का ही प्रयोग होता था।

शास्त्रीय ग्रन्थों में गद्य का ही साम्राज्य है। विचारविनिमय का तथा शास्त्र के सिद्धान्तों के वर्णन का उचित माध्यम गद्य ही है। शास्त्रार्थ के समय तो बोलचाल की शैली का प्रयोग हम पाते हैं, परन्तु युक्तियों तथा तर्कों के प्रदर्शन में हमें प्रौढ गद्य का प्रयोग उपलब्ध होता है। हमारे दार्शनिकों ने अपने विचारों को सुचारु रूप से अभिव्यक्त करने के लिए 'विचार-मापक' नवीन पारिभाषिक शब्दों की उद्‌भावना कर रखी है। गद्य तो विचारों को प्रकट करने का मुख्य माध्यम है। उसे बिना युक्तियुक्त तथा प्रौढ बनाये हम अपने दार्शनिक विचारों को यथार्थ रूप से प्रकट ही नहीं कर सकते। इसी दृष्टि से हमारे दार्शनिकों ने अपनी शैली पर दार्शनिक गद्य की सृष्टि की। तथ्य की बात यह है कि कोमल भावों को प्रकट करने की जितनी शक्ति संस्कृत गद्य में है उतनी ही या उससे अधिक शक्ति दर्शन शास्त्र के दुरूह तथ्यों के अभिव्यक्त करने की भी उसमें क्षमता विद्यमान है। लैटिन भाषा का गद्य बड़ा ही प्रौढ, सुन्दर तथा ओजस्वी बतलाया जाता है, परन्तु संस्कृत भाषा के गद्य में ये गुण उससे कहीं अधिक मात्रा में विद्यमान हैं। दर्शन के पेचीदे, गूढ तथा सूक्ष्म तत्त्वों का प्रतिपादन संस्कृत भाषा के ही द्वारा हो सकता है, यह जानकारों की माननीय सम्मति है। अतः देववाणी का गद्य प्राचीनता की दृष्टि से तथा प्रौढता, उपादेयता एवं भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से हमारे साहित्य का एक गौरवपूर्ण अंग है—इस कथन में तनिक भी संदेह नहीं।

—×—

गद्य का अभ्युदय

संस्कृत में गद्यात्मक कथाओं का उदय विक्रम से लगभग चार सौ वर्ष पूर्व हुआ था। कात्यायन ने पा० अ० ४।२।६० सूत्र के अपने वार्तिक (आख्यानाख्यायिकेतिहासपुराणेभ्यश्च) में आख्यान और आख्यायिका का उल्लेख अलग-अलग किया है। पतञ्जलि ने 'यवक्रीत,' 'प्रियङ्गव' तथा 'ययाति' का आख्यान के के उदाहरण में तथा 'वासवदत्ता' और 'सुमनोत्तरा' का आख्यायिका के उदाहरण में नामनिर्देश किया है। काशिका में भी इन्हीं नामों का उल्लेख मिलता है, परन्तु उनकी सत्ता का पता अभी तक नहीं चलता।

१. सुबन्धु

गद्य काव्यों के लेखकों में सुबन्धु का स्थान सर्वप्रथम है। इनका ग्रन्थ 'वासवदत्ता' अलंकृत शैली में निबद्ध गद्य का उत्कृष्ट उदाहरण है।

स्थितिकाल

इनके समय तथा स्थान का यथार्थ परिचय अभी तक नहीं चलता है। बाणभट्ट के द्वारा प्रशंसित किये जाने के कारण ये बाण से पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं। कवि ने अपने ग्रन्थ के उपोद्घात में किसी विक्रमादित्य के कीर्तिशेष होने का उल्लेख बड़ी सौन्दर्यमयी भाषा में किया है।

सा रसवत्ता विहता नवका विलसन्ति चरति नो कङ्कः।
सरसीव कीर्तिशेषं गतवति भुवि विक्रमादित्ये ॥

परन्तु इस विक्रमादित्य का ठीक-ठीक परिचय न होने से उनका समय अनिश्चित रह जाता है। सुबन्धु न्यायवार्तिक के रचयिता उद्योतकर की कीर्ति से परिचय रखते हैं (न्यायस्थितिमिव उद्योतकरस्वरूपाम्) । उद्योतकर का समय षष्ठ शताब्दी का अन्त माना जाता है। इसलिए हम सुबन्धु को सप्तम शतक के आरम्भ में रखने के पक्षपाती हैं।

ग्रन्थ

इनकी एक मात्र रचना है—वासवदत्ता । प्राचीन काल में वासवदत्ता की प्रेम कहानी बड़ी प्रसिद्ध थी, परन्तु इस गद्य काव्य में नाम के अतिरिक्त उससे कोई भी सम्बन्ध नहीं है यह पूरा कथानक कवि के मस्तिष्क की उपज है। केवल नायिका का नाम प्राचीन है।

वर्णन-कुशलता

वासवदत्ता उन गद्यकाव्यों का प्रतिनिधित्व करती है जिनमें कथानक नितान्त स्वल्प रहता है तथा वर्णन प्रचुर मात्रा में रहता है। स्वल्प कथावृत्त को कवि ने अपने कविकौशल से खूब अलंकृत और चमत्कृत बनाया है। सुजनैकबन्धु सुबन्धु ने सरस्वती की कृपा से वर प्राप्त किया था और तभी वे 'प्रत्यक्षर-श्लेषमय-प्रपञ्च विन्यास-वैदग्ध-निधि प्रबन्धं' के बनाने में समर्थ हुए थे। उनकी इस प्रतिज्ञा के अनुसार उनका काव्य सचमुच प्रत्यक्षर में श्लेष-मण्डित है। यहाँ सभङ्ग और अभङ्ग—उभय प्रकार के श्लेषों की मानों बाढ़ सी आ गई है।

विरोधाभास, उपमा तथा उत्प्रेक्षा की कमी नहीं है, पर श्लोक का विन्यास
ही सुबन्धु की निजी विशिष्टता है। महाराज चिन्तामणि का यह वर्णन बड़ा
सुचारु तथा रुचिर है—"नन्दगोप इव यशोदयान्वितः, जरासन्ध इव घटित-
सन्धि-विग्रहः, भार्गव इव सदा नभोगः, दशरथ इव सुमित्रोपेतः, सुमन्त्रा-
धिष्ठितश्च, दिलीप इव सुदक्षिणयान्वितः, रक्षितगुश्च; राम इव जनित-कुशलव-
वयोरूपोच्छ्रायः।

आशय है कि यशोदा से अन्वित नन्द गोप के समान वह यश और दया से
अन्वित था; जरा के द्वारा संगठित अंगवाले राजा जरासन्ध के समान वह
सन्धि और विग्रह (युद्ध) का सम्पादक था। सदा नभ (आकाश) में गमन
करने वाले (सदा + नभो + गः) शुक्र के सदृश वह सदा दान तथा भोग से
सम्पन्न था।

सुबन्धु की यह प्रसन्नमयी वाणी आलोचकों के लिए नितान्त आह्लाद-
जनक है—

विषधरतोऽप्यतिविषमः खलु इति न मृषा वदन्ति विद्वांसः।
यदयं नकुलद्वेषी स कुलद्वेषी पुनः पिशुनः॥

विद्वानों का यह कथन झूठा नहीं है कि खल विषधर सर्प से भी अत्यन्त
विषम होता है। देखिए, विषधर तो केवल 'नकुलद्वेषी' ही होता है, अर्थात्
वह (नकुल) से ही द्वेष करता है (परन्तु 'न + कुलद्वेषी' वह अपने कुल से
कभी द्वेष नहीं करता), लेकिन खलों की विचित्र दशा होती है। वह तो
अपने कुल से भी द्वेष तथा विरोध करता है। इस पद्य का प्राण है 'नकुलद्वेषी'
पद, जो सुभग सभङ्ग के कारण नितान्त सरस तथा सरल है।

कवि ने प्राकृतिक दृश्यों का सुन्दर वर्णन प्रस्तुत किया है, जो श्लेष के
प्रपंच से रहित होने के कारण काफी मनोरंजक है। प्रभात का वर्णन इसका
स्पष्ट उदाहरण है (पृ० २१८), परन्तु यहाँ भी उपमा तथा उत्प्रेक्षा का
साहित्य नहीं है। सच तो यह है कि सुबन्धु के काव्य में कलापक्ष का ही
साम्राज्य है। उनकी यह 'वासवदत्ता' उस विशाल सुसज्जित प्रासाद के समान
है जिसका प्रत्येक कक्ष चित्रों से भूषित है तथा अलंकारों के प्राचुर्य से जो दर्शकों
की आँखों को हमेशा चकाचौंध किया करता है। कुन्तक के द्वारा वर्णित
'विचित्र-मार्ग' का सबसे सुन्दर उदाहरण है सुबन्धु की यह कृति। बाणभट्ट
की यह आलोचना वस्तुतः श्लाघ्य तथा तथ्यपूर्ण है—

कवीनामगलद् दर्पो नूनं वासवदत्तया ।
शक्त्यैव पाण्डुपुत्राणां गतया कर्णगोचरम् ॥

जिसमें वासवदत्ता के द्वारा कवियों के दर्प को चूर्ण कर देने की वात कही गई है ।

सुबन्धु का श्लेषप्रेम मात्रा को पार कर गया है । अनेक स्थलों पर श्लेष की प्रसन्नता तिरोहित हो गई है । श्लेष चाहिए साफ-सुथरा, सरल, विशेष क्लिष्ट नहीं । परन्तु दुर्भाग्यवश श्लेपानुरक्ति ने कवि को इस आदर्श से वञ्चित कर दिया है । इतने अप्रसिद्ध तथा कठिन श्लेषों का प्रयोग किया गया है कि विद्वानों के भी दिमाग चक्कर काटने लगते हैं, अर्थ समझने के लिए पाठकों पर 'कोषं पश्यन् पदे पदे' की उक्ति चरितार्थ होती है ।

सुबन्धु एवं बाण

सुबन्धु तथा बाणभट्ट की शैली में महान् अन्तर है । सुबन्धु का गद्य यदि 'अक्षराडम्बर' का साक्षात् रूप है, तो बाण का गद्य स्निग्ध, रसपेशल 'पाञ्चाली' का भव्य प्रतीक है । सुबन्धु ने आँख मूँदकर विना विचार के श्लेष का ही व्यूह खड़ा किया, परन्तु बाणभट्ट की दृष्टि वर्ण्य विषय तथा अवसर के ऊपर गड़ी हुई है । वह जो लिखते हैं वह अवसर तथा सन्दर्भ से युद्ध नहीं करता । बाण स्निग्ध, रसपेशल तथा हृदयावर्जक गद्य का जीवित प्रतीक बन गये हैं इसीलिए सहृदयों के हृदय को सदा स्पन्दित करते हैं, जबकि सुबन्धु का गद्य केवल मस्तिष्क से ही टक्कर खाता हुआ कथमपि प्रवेश पाता है । दण्डी से भी सुबन्धु का पार्थक्य स्पष्ट है । दण्डी की तीव्र निरीक्षण शक्ति तथा यथार्थवादी शब्द-विन्यास का अभाव 'वासवदत्ता' के लोकप्रिय न होने का पर्याप्त हेतु है । सुबन्धु, बाणभट्ट तथा कविराज के साथ 'वक्रोक्ति-मार्ग' के निपुण कवि माने गये हैं अवश्य, परन्तु बाण की कादम्बरी के सामने 'वासवदत्ता' का काव्य पण्डितों की गोष्ठी का ही केवल विषय है, विदग्धों की गोष्ठी से उसका सीधा सम्पर्क नहीं है ।

—×—

२. बाणभट्ट

रुचिरस्वरवर्णपदा रसभाववती जगन्मनो हरति ।
सा किं तरुणी ? नहि नहि वाणी बाणस्य मधुरशीलस्य ॥

बाणभट्ट भगवती शारदा के वरद पुत्र थे। उनके ऊपर लक्ष्मी और सरस्वती दोनों की अनुकम्पा समभाव से विद्यमान थी। कविसमाज में उनका जितना आदर था उतना ही सम्मान उन्हें राजदरबार में भी प्राप्त था। हर्षचरित के आरम्भिक दो परिच्छेदों में बाण ने जो अपनी आत्मकथा लिखी है वह उनके जीवनचरित को जानने के लिए ही उपयोगी नहीं है, प्रत्युत साहित्यिक दृष्टि से भी अनुपम वस्तु है। बाणभट्ट सोणनद के किनारे प्रीतिकूट नामक नगर में निवास करते थे। इनके पितामह का नाम अर्थपति और बाप का चित्रभानु था।

समय-निरूपण

बाणभट्ट के पास पैतृक सम्पत्ति खूब थी। लड़कपन में ही इनके पिता की मृत्यु हो गई थी। किसी वयस्क अभिभावक के न रहने से इन्हें कुसंगत लग गई। इसी कुसंगत के फलस्वरूप इन्होंने देशाटन किया। इस पर्यटन से उन्होंने खूब लोक-चातुरी प्राप्त की। एक दिन हर्ष के चचेरे भाई कृष्ण के एक दूत ने आकर बाण को एक पत्र दिया। पत्र में लिखा था कि राजा तुम से नाराज है, अत एव शीघ्र आओ। बाण हर्ष के पास गये। पहिले तो राजा ने उनकी अवहेलना की, परन्तु पीछे उनकी विद्वत्ता पर प्रसन्न होकर बाण को आश्रय प्रदान किया। अनन्तर हर्षवर्धन की विद्वत्-सभा के प्रमुख पण्डित के पद पर विराजमान हुए। हर्षवर्धन का समय ईस्वी की सप्तम शताब्दी का पूर्वार्ध है और यही समय बाणभट्ट के अविर्भाव का समय है।

इस समय की पुष्टि अन्तरंग तथा बहिरंग प्रमाणों से भी होती है। रुय्यक ने अपने 'अलंकारसर्वस्व' (११५० ईस्वी) में बाण के 'हर्षचरित' का उल्लेख अनेक बार किया है। रुद्रट रचित 'कायालंकार' के टीकाकार नमिसाधु (१०७० ईस्वी) ने कादम्बरी को कथा का तथा हर्षचरित को आख्यायिका का नमूना बतलाया है। भोजराज (१०५० ईस्वी) ने 'सरस्वती-कंठाभरण' के एक स्थल पर बाण के पद्य की अपेक्षा उनके गद्य को उत्कृष्ट बतलाया है—"यादृग्गद्यविधौ बाणः पद्यबन्धे न तादृशः।"

इस उल्लेख से बाण के द्वारा किसी पद्यबद्ध काव्य के प्रणयन का भी अनुमान लगाया जा सकता है। क्षेमेन्द्र ने बाण की पद्य कादम्बरी के कतिपय श्लोक अपनी 'औचित्यविचारचर्चा' में उद्धृत किया है। धनंजय (दशम

शताब्दी का अन्त) ने अपने 'दशरूपक' की टीका में बाणभट्ट के 'महाश्वेता-वृत्तान्त' से उद्धरण दिया है। वामन (८०० ईस्वी) ने अपनी 'काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति' में कादम्बरी के एक अंश का उद्धरण दिया है। इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि बारहवीं शताब्दी से लेकर आठवीं शताब्दी के प्रमुख लेखक बाणभट्ट की कृतियों से परिचय रखते हैं। अतः बाणभट्ट का समय सप्तम शतक का पूर्वार्ध मानने में किसी प्रकार की आशंका नहीं की जा सकती।

ग्रन्थ

बाणभट्ट के ग्रन्थ विद्वत्-समाज में प्राचीन काल से ही प्रसिद्ध तथा लोकप्रिय रहे हैं। 'चण्डीशतक' में भगवती दुर्गा की स्तुति एक सौ स्रग्धरा पद्यों में बड़ी ओजस्विनी भाषा में की गई है। 'पार्वतीपरिणय' शिव-पार्वती के विवाह की पवित्र कथा का वर्णन करने वाला नाटक है, जिस पर कुमारसंभव की छाया अत्यधिक मात्रा में पड़ी हुई है। 'मुकुटताडितक' को नलचम्पू के टीकाकार जैन विद्वान् चन्द्रपाल तथा गुणविजयगणि बाण की रचना बतलाते हैं, परन्तु अभी तक उपलब्ध न होने के कारण हम इसका परीक्षण करने से वञ्चित हैं। सम्भव है यह किसी दूसरे बाण की रचना हो। 'हर्षचरित' संस्कृत साहित्य में सबसे पुरानी उपलब्ध आख्यायिका है। कादम्बरी तो बाणभट्ट की ही रचनाओं में नहीं, प्रत्युत समस्त गद्य-साहित्य का सर्वस्व है।

हर्षचरित

हर्षचरित आठ उच्छ्वासों में निबद्ध हुआ है। आरम्भ के दो उच्छ्वासों में बाणभट्ट ने अपना विस्तृत परिचय दिया है। गद्य लिखने में यह बाण का प्रथम प्रयास मालूम पड़ता है। भाषा इसकी उतनी मँजी हुई नहीं है जितनी कि कादम्बरी की। यह ऐतिहासिक विषय पर गद्य लिखने का प्रथम प्रयास है। काव्य की दृष्टि से इसमें अनेक विशेषताएँ हैं। बाण की अलौकिक वर्णनशक्ति का परिचय हमें यहीं से उपलब्ध होने लगता है। हर्ष के जन्मकाल का वर्णन आनन्द तथा उल्लास से भरा हुआ है। प्रभाकरवर्धन के अन्तिम क्षणों का दृश्य करुणा तथा विषाद से परिपूर्ण है। हर्ष एक ओजस्वी प्रजापालक तथा वदान्य नरपति के रूप में वर्णित हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से इसका मूल्य कम नहीं है। बाणभट्ट के द्वारा वर्णित घटनाओं की सत्यता इधर उपलब्ध होने वाले ऐतिहासिक ग्रन्थों तथा शिलालेखों के द्वारा उद्घोषित की जा रही है।

कादम्बरी

कादम्बरी वाणभट्ट की सर्वश्रेष्ठ रचना है। इसके दो खण्ड हैं—पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध। पूर्वार्द्ध पूरे ग्रन्थ का दो तिहाई भाग है और यह बाण की रचना है। उत्तरार्द्ध पूरी कादम्बरी का केवल तृतीयांश है और पिता के मर जाने पर इस अंश की रचना कर पुलिन्दभट्ट ने कादम्बरी की पूर्ति की। कादम्बरी संस्कृत के गद्य-साहित्य का समुज्ज्वल हीरक है। भाषा और भाव—शब्द और अर्थ—दोनों का उचित सम्मिलन इस गद्यकाव्य में लक्षित होता है। वर्णनों की सुन्दरता की बात क्या पूछी जाय? कहीं विन्ध्याचल की विकट अटवी तथा साहसप्रेमी शबर-सैन्य का रोमाञ्चकारी वर्णन है, तो कहीं धर्म की साक्षात् मूर्ति, सदयता के परम अवतार, आध्यात्मिकता के ज्वलन्त निदर्शन, जाबालि मुनि तथा उनके परम पावन मनभावन आश्रम की सुभग शोभा दर्शकों का हृदय लुभाती है। कहीं बाल्यकाल में गन्धर्वों के अङ्क में विहार करने वाली कलभाषिणि वीणा की तरह मञ्जुवादिनी स्निग्धहृदया महाश्वेता की विरह-विधुरा मूर्ति का दर्शन मिलता है, तो कहीं अलोकसामान्य सौख्यों का अनुभव करने वाली गन्धर्वराज-कन्या सरसहृदया कमनीय-कलेवरा कादम्बरी की प्रेममयी कथा श्रोताओं के चित्त-चंचरीक को अपनी ओर आकृष्ट करती है। सर्वत्र ही अलङ्कारों की मधुर झङ्कार कानों को सुख दे रही है—रागात्मिका वृत्ति की सुभग व्यञ्जना हृदय को खिला रही है। सच तो यह है कि अलङ्कार तथा रस के मधुर-मिलन में, भाषा तथा भाव के परस्पर सम्पर्क में, कल्पना तथा वर्णना के अनुरूप संघटन में कादम्बरी संस्कृत-साहित्य में अनुपम है, अद्वितीय है। कादम्बरी रसिक हृदयों को मत्त कर देने वाली कादम्बरी—मीठी मदिरा है। पुलिन्दभट्ट का यह कथन प्रत्येक सहृदय के विषय में चरितार्थ हो रहा है—

कादम्बरीरसभरेण समस्त एव
मत्तो न किञ्चिदपि चेतयते जनोऽयम्।

समीक्षा

बाणभट्ट की काव्य-शैली

वाणभट्ट सरस्वती देवी के वरद पुत्र थे। इनका गद्य-काव्य कादम्बरी अपने विषय में अद्वितीय माना जाता है। प्राचीन काल में ही समालोचकों की दृष्टि वाणभट्ट की मधुर कविता पर पड़ी थी। गोवर्धनाचार्य वाणभट्ट को वाणी

का साक्षात् अवतार मानते हैं। उनका कहना है कि जिस प्रकार अधिक प्रगल्भता प्राप्त करने के लिए शिखण्डिनी शिखण्डी बन गई थी, उसी भाँति पुरुषरूप में अतिशय चमत्कार पाने की इच्छा से वाणी (सरस्वती) ने बाण का रूप धारण किया :—

जाता शिखण्डिनी प्राग् यथा शिखण्डी तथाऽत्रगच्छामि।
प्रागल्भ्यमधिकमाप्तुं वाणी बाणो बभूवेति॥

बाणभट्ट की काव्य-शैली को पाञ्चाली रीति कहना चाहिए। पाञ्चाली में अर्थ के अनुरूप ही शब्दों का गुम्फन होता है। जैसे सरस अर्थ, तत्समान ही सुकुमार वर्ण-विन्यास। बाण की कविता में ललित पदविन्यास है, रचनाशैली सुन्दर है तथा नये-नये अर्थों का मनोहर विनिवेश है—

शब्दार्थयोः समो गुम्फः पाञ्चाली रीतिरुच्यते।
शिलाभट्टारिकावाचि बाणोक्तिषु च सा यदि॥

बाणभट्ट के पात्र

बाणभट्ट में पात्रों के चरित-चित्रण की अद्भुत कला है। उनके पात्र इतनी सजीवता के साथ चित्रित किये गये हैं कि उनकी मञ्जुल मूर्ति हमारे नेत्रपटल के सामने आकर उपस्थित हो जाती है। प्रजा-पालक तथा पराक्रमी महाराज शूद्रक की वीर मूर्ति किसके हृदय में उत्साह का सञ्चार नहीं करती ? सौम्य तापस हारीत, ज्ञानवृद्ध जाबालि, वदान्य नरपति तारापीड, शास्त्र तथा व्यवहार कुशल अमात्य शुकनास, शुभ्रवसना तपस्विनी महाश्वेता, कमनीय-कलेवरा कादम्बरी—ये कवि की तूलिका से चित्रित पात्र पाठकों के चित्त पर अपना अमिट प्रभाव डालते हैं। सच्चा कवि वही होता है जो संसार का विविध अनुभव प्राप्त कर उनके मार्मिक पक्ष के ग्रहण में समर्थ होता है। इस कसौटी पर कसने से बाणभट्ट की कविता खरे सोने के समान खरी उतरती है। कवि का लोकवृत्त-ज्ञान नानात्मक तो था ही, उसकी यथार्थता और भी चमत्कारणी है। बाणभट्ट कभी तो सुख-समृद्धि तथा भोगविलास के जीवन को चित्रित करने में अनुरक्त दीख पड़ते हैं, तो कभी वे तपस्वी जीवन की मार्मिक अभिव्यञ्जना में निरत दिखाई पड़ते हैं। तथ्य बात यह है कि बाणभट्ट का अनुभव बड़ा ही विशाल, विविध तथा यथार्थ था। उसी के बल पर उन्होंने अपना सुन्दर गद्य काव्य रचा है।

बाणभट्ट का प्रकृति-निरीक्षण

बाणभट्ट का कादम्बरी का प्रकृतिवर्णन बड़ा ही सुन्दर तथा सजीव हुआ है। संस्कृत के कुछ महाकवि प्रकृति के मञ्जुल रूप के चित्रण में ही चतुर दीख पड़ते हैं, तो कुछ कवि प्रकृति के भयावह तथा रोमांचकारी स्वरूप के वर्णन में कृतकार्य प्रतीत होते हैं, परन्तु बाणभट्ट की यह भूयसी विशेषता है कि उनकी लेखनी ने समभाव से प्रकृति के उभय प्रकार के मधुर तथा भयावह दृश्यों के वर्णन में सफलता प्राप्त की है। इन दृश्यों के स्वरूप को हृदयङ्गम कराने के लिए कवि ने नाना अलङ्कारों की सहायता ली है। उपमा, उत्प्रेक्षा, विरोधाभास तथा परिसंख्या का स्तूप खड़ा कर कवि ने पाठकों के सामने अपने वर्ण्य विषय की मञ्जुल अभिव्यञ्जना की है। विन्ध्याटवी के भयङ्कर रूप का चित्रण बाण ने जितनी सफलता के साथ किया है वह सचमुच आश्चर्य-जनक है। विन्ध्याटवी गिरितनया पार्वती के समान स्थाणु (शङ्कर तथा वृक्ष) युक्त तथा मृगपति से सेवित है। जानकी के समान कुश-लव (कुश-लव नामक लड़के तथा कुश के छोटे-छोटे टुकड़े) को उत्पन्न करने वाली तथा निशाचर से आश्रित है। कभी वह कामिनी के समान चन्दन, मृगमद के सुगन्ध को धारण करने वाली तथा सुन्दर अगुरु और तिलक (पेड़) से विभूषित है, तो कभी वह उस कामपरायणा उत्कण्ठिता नायिका के समान प्रतीत होती है जिसे पल्लवों से पंखा कर आराम पहुँचाया जा रहा हो। महर्षि जाबालि के आश्रम का सात्त्विक मनोरम वर्णन पढ़ कर किस पुरुष का चित्त तपोवन की भव्य मूर्ति से प्रभावित नहीं होता? तपोवन के वर्णन में जितनी प्रभावो-त्पादक बातों की आवश्यकता है उन सब का एकत्र वर्णन कर कवि ने सचमुच हमारे सामने बड़ा ही अनुपम दृश्य प्रस्तुत किया है। हम उस दृश्य को कभी नहीं लख सकते जिसमें बाणभट्ट ने आश्रम के वृद्ध अन्ध-तापसों को परिचित वानरों के द्वारा छड़ी पकड़कर भीतर आने और बाहर जाने का वर्णन किया है—"परिचितशाखामृग-कराकृष्टयष्टि-निष्काश्यमान-प्रवेश्यमान-जरदन्धतापसम्।" ऋतुओं का चित्रण भी बड़ी मार्मिकता के साथ किया गया है। प्रभात तथा सन्ध्या, अन्धकार तथा चन्द्रोदय आदि प्रकृति के नाना दृश्यों के वर्णन बड़ी ही सहृदयता तथा यथार्थता के साथ अङ्कित किये गये हैं।

बाणभट्ट का प्रेमवर्णन

कवि ने जिस प्रणय की यह मनोरम कहानी प्रस्तुत की है वह प्रणय भी बाहरी चाकचिक्य से उत्पन्न रूप-छटा पर केवल अनुरक्तिमात्र नहीं है, प्रत्युत

वह दो सहृदय व्यक्तियों के अन्तःस्तल को परस्पर बाँधने वाला, अनेक जन्मों तक अपनी अभिव्यक्ति करने वाला अलौकिक आनन्दोत्पादक विकार है। कादम्बरी की प्रणयलीला केवल एक ही जन्म से सम्बन्ध नहीं रखती, बल्कि वह तीन जन्मों के परिवर्तन होने पर भी अपने माधुर्य में किसी प्रकार के ह्रास का अनुभव नहीं करती। शरीर का परिवर्तन भले हो जाय, कर्मवश प्राणी नाना योनियों में भले ही भ्रमण करता रहे, परन्तु उसका दृढ प्रेम सदा ही उसका अनुगमन किया करता है। कादम्बरी की कथा हमें इस महान् तथ्य की सत्यता भली-भाँति प्रतिपादित करती है।

कादम्बरी का कलापक्ष

बाण की कादम्बरी में प्रकृति के सौम्य तथा उग्र उभय रूपों का वर्णन जितना रोचक है, उतना ही रोचक है उसके नाना वस्तुओं का वर्णन। वर्णनों को संश्लिष्ट तथा प्रभावोत्पादक बनाने के लिए और भावों में तीव्रता प्रदान करने के हेतु बाण ने उपमा, उत्प्रेक्षा, श्लेष, विरोधाभास आदि अलङ्कारों का बड़ा ही सुन्दर प्रयोग किया है। 'परिसंख्या' अलङ्कार के तो वे सम्राट् प्रतीत होते हैं। बाण के समान किसी अन्य कवि ने 'श्लिष्ट परिसंख्या' का इतना चमत्कारी प्रयोग शायद ही किया है। इन अलङ्कारों के प्रयोग ने बाण के गद्य में अपूर्व जीवनी-शक्ति डाल दी है। आदर्श गद्य के जिन गुणों का उल्लेख बाण ने हर्षचरित में किया है वे उनके गद्य में विशदतया वर्तमान हैं—

नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषः स्पष्टः स्फुटो रसः।
विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम् ॥

अर्थ की नवीनता, स्वभावोक्ति की नागरिकता, श्लेष की स्पष्टता, रस की स्फुटता, अक्षर की विकटबन्धता का एकत्र दुर्लभ सन्निवेश कादम्बरी को मंजुल रसपेशल बनाये हुए है। उनके श्लेष-प्रयोग जूही की माला में पिरोये गये चम्पक पुष्पों के समान मनमोहक होते हैं—'निरन्तरश्लेषघनाः सुजातयो महास्रजश्चम्पककुड्मलैरिव।' 'रसनोपमा' का यह उदाहरण कितना मनोरम है—

"क्रमेण च कृतं मे वपुषि वसन्त इव मधुमासेन, मधुमास इव नवपल्लवेन, नवपल्लव इव कुसुमेन, कुसुम इव मधुकरेण, मधुकरेण इव मदेन नवयौवनेन पदम्।"

'परिसंख्या' का यह रोचक प्रयोग विदग्धों का नितान्त हृदयावर्जक है जहाँ बाणभट्ट जाबालि के आश्रम का सुन्दर चित्र खींच रहे हैं :—

"यत्र च महाभारते शकुनिवधः, पुराणे वायुप्रलपितम्, वयःपरिणामे द्विजपतनम्, उपवनचन्दनेषु जाड्यम्, अग्नीनां भूतिमत्त्वम्, एणकानां गीतव्यसनम्, शिखण्डिनां नृत्यपक्षपातः, भुजङ्गमानां भोगः, कपीनां श्रीफलाभिलाषः, मूलानामधोगतिः।"

[वहाँ महाभारत में शकुनि का वध था (अन्यत्र कहीं चिड़ियों का वध नहीं होता था); वायु-जन्य प्रलाप पुराण (वायुपुराण) में था (वायु के झोंके में कोई बक-झक नहीं करता था); द्विजों (दाँतों) का गिरना बुढ़ापे में होता था (द्विज लोग जातिच्युत नहीं थे; क्योंकि वे सदा सदाचारी होते थे); जड़ता उपवन के चन्दनों में थी, अन्यत्र नहीं; भूतिमत्ता (भस्मधारण) अग्नि में थी, अन्यत्र नहीं; गीत सुनने का व्यसन मृगों को था (यह बुरा व्यसन और किसी को न था); नाचने के समय मयूरों के पंख गिरते थे (और किसी को नृत्य के लिए विशेष अनुराग न था); भोग (फण) साँपों को था, मनुष्यों में भोग नहीं था; वानरगण श्रीफल (बिल्व) के अभिलाषी थे, अन्य जन लक्ष्मी के फलों (श्रीफल) के इच्छुक न थे; अधोगति (नीचे जाना) वृक्षों की जड़ों में था, मनुष्यों में नहीं।]

कादम्बरी का हृदयपक्ष

कादम्बरी में हृदयपक्ष का प्राधान्य है। कवि अपने पात्रों के अन्तस्तल में प्रवेश करता है, अवस्था-विशेष में होनेवाली उनकी मानस वृत्तियों का विश्लेषण करता है तथा उचित पदन्यास के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति करता है। पुण्डरीक के वियोग में महाश्वेता के हार्दिक भावों की रम्य अभिव्यक्ति बाण की ललित लेखनी का चमत्कार है। चन्द्रापीड के जन्म के अवसर पर राजा तथा रानी के हृदयगत कोमल भावनाओं का चित्रण बड़ा ही रमणीय तथा तथ्यपूर्ण हुआ है। चन्द्रापीड के प्रथम दर्शन के अनन्तर स्वदेश लौट आने पर कादम्बरी के भावों का चित्रण कवि के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का सुन्दर निदर्शन है। बाण की दृष्टि में प्रेम भौतिक सम्बन्ध का नामान्तर नहीं, प्रत्युत वह जन्मान्तर में समुद्भूत आध्यात्मिक सम्बन्ध का परिचायक है। कादम्बरी 'जन्मान्तर-सौहृद' का सजीव चित्रण है। विस्मृत अतीत तथा

जीवित वर्तमान को स्मृति के द्वारा एक सूत्र में बाँधनेवाली यह प्रणयकथा है। बाणभट्ट ने दिखलाया है कि सच्चा प्रेम कुल और समाज की मर्यादा का उल्लङ्घन नहीं करता, वह संयत तथा निष्काम होता है। काल की कराल छाया न उसे आक्रान्त कर सकती है, न काल का प्रवाह उसकी स्मृति को मलिन और धुँधला बना सकता है। महाश्वेता तथा पुण्डरीक का, कादम्बरी तथा चन्द्रापीड का अनेक जन्मों में अपनी चरितार्थता तथा सिद्धि प्राप्त करने वाला प्रेम इस आदर्श प्रणय का सच्चा निदर्शन है।

कवि ने जिस प्रणय की मनोरम कहानी प्रस्तुत की है वह प्रणय भी बाह्य चाकचिक्य से उत्पन्न रूप-छटा पर केवल अनुरक्तिमात्र नहीं है, प्रत्युत वह दो सहृदय व्यक्तियों के अन्तःस्थल को परस्पर बाँधनेवाला, अनेक जन्मों तक अपनी अभिव्यक्ति करनेवाला अलौकिक आनन्दोत्पादक विकार है। कादम्बरी की प्रणय-लीला केवल एक ही जन्म से सम्बन्ध नहीं रखती, बल्कि वह तीन जन्मों के परिवर्तन होने पर भी अपने माधुर्य में किसी प्रकार के ह्रास का अनुभव नहीं करती। शरीर का परिवर्तन भले हो जाय, कर्मवश प्राणी नाना योनियों में भले ही भ्रमण करता रहे, परन्तु उसका दृढ प्रेम सदा ही उसका अनुगमन किया करता है। कादम्बरी की कथा हमें इस महान् तथ्य की सत्यता भली-भाँति प्रतिपादित करती है।

शुकनास ने राजकुमार चन्द्रापीड से लक्ष्मी के दोषों के वर्णन-प्रसंग में नीति तथा काव्य दोनों का बड़ा ही रम्य चमत्कार प्रस्तुत किया है। रूपकों का विन्यास तथा उपमा का निवेश इतना सुन्दर है कि लक्ष्मी की मूर्ति अपने पूर्ण वैभव के साथ हमारे नेत्रों के सामने सजीव हो उठती है। "लक्ष्मी तृष्णारूपी विषलता के लिए संवर्धन की जलधारा है, इन्द्रियरूपी मृगों को लुभाने के लिए व्याध की गति है, सच्चरितरूपी चित्रों को पोंछ डालने के लिए धूम की रेखा है, यह सब अविनयों की पुरःसर पताका है, क्रोधावेगरूपी ग्राहों की उत्पत्ति के लिए नदी है; विषय-मधुपों की यह आपान भूमि है"—यह वर्णन रूपक की छटा से कम नहीं है। अन्यत्र विरोधाभास का अपूर्व विलास है। कवि के विचार बड़े ही उदार तथा उदात्त हैं, लक्ष्मी के कारण उत्पन्न होनेवाले समस्त दोषों का इतना सूक्ष्म वर्णन कवि की दूरंगमा दृष्टि का प्रत्यक्ष फल है। महाश्वेता का दर्शन कर पुण्डरीक की कामवासना का चित्रण बाण के मनोवैज्ञानिक ज्ञान का पूर्ण परिचायक है। कवि कह रहा है कि पुण्डरीक के हृदय में नये आनेवाले अतिथि मदन के लिए प्रत्युद्गमन करनेवाले रोमों का

उद्गमन हो गया। मुनि के हाथ की रुद्राक्ष की माला कम्प के कारण हिलने लगी, मानो वह व्रत के भंग से डर गई हो।

शैली

वाणभट्ट की शैली गद्य-कवियों के लिए आदर्शभूत है। वह प्रभावशाली गद्य के लिखने में नितान्त प्रवीण हैं। जो आलोचक बाण के गद्य को भारतीय जंगलों के समान भयावह तथा हिंस्र पशुओं के सदृश अप्रसिद्ध तथा कठिन शब्दों से मण्डित बतलाते हैं वे सचमुच यथार्थता से कोसों दूर हैं। चित्रण की सजीवता तथा प्रभावशालिता उत्पन्न करने के लिए वाणभट्ट ने समासबहुल ओजोगुण से मण्डित शैली का स्थान-स्थान पर अवश्य आश्रय लिया है, परन्तु अन्यत्र छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग कर उन्होंने अपनी शैली को सशक्त तथा प्रभावोत्पादक बनाया है। कवि किसी एक शैली का क्रीतदास नहीं होता। वह तो विषय के अनुसार अपनी शैली को परिवर्तित किया करता है। जिस वाणभट्ट ने अटवी तथा सन्ध्या के वर्णन में दीर्घ समासों की छटा दिखलाई है, वे ही विरह-वर्णन के अवसर पर लघुकलेवर प्रासादिक वाक्यों की शोभा प्रस्तुत करते हैं। बाण की लेखनशैली विषय-वर्णन के नितान्त अनुरूप, उचित तथा सरस है। जहाँ हृदय के भावों की अभिव्यञ्जना है वहाँ न तो समासों का प्रयोग है और न वाक्यों की दीर्घता है; छोटे-छोटे वाक्यों में ही वहाँ उचित वर्णन है। कपिञ्जल ब्रह्मचारी पुण्डरीक की मदनव्यथा से संतप्त होने के अवसर पर भर्त्सना कर रहा है—

"सखे पुण्डरीक, नैतदनुरूपं भवतः, क्षुद्र-जनक्षुण्ण एष मार्गः। धैर्यधना हि साधवः। किं यः कश्चित् प्राकृत इव विकलीभवन्तमात्मानं न रुणत्सि। क्व ते तद् धैर्यम्? क्वासौ इन्द्रिय-जयः?"

उपदेश देने के समय विषय को हृदयंगम तथा प्रभावशाली बनाने के विचार से इसी शैली का प्रयोग है। मन्त्री शुकनास युवराज चन्द्रापीड को लक्ष्मी के दोषों को दिखलाते समय लघु वाक्यों का प्रयोग कर रहा है—

"लब्धापि दुःखेन पाल्यते। न परिचयं रक्षति। नाभिजनमीक्षते। न रूपमालोकयते। न कुलक्रममनुवर्तते। न शीलं पश्यति। न वैदग्ध्यं गणयति।"

परन्तु राजवैभव, नारी की रूप छटा, प्रकृति की रमणीयता के चित्रण के अवसर पर कवि दीर्घ समास तथा अलंकारों से मण्डित वाक्यों का प्रयोग करता है जिससे पाठकों के हृदय पर वर्णन अपने संश्लिष्ट तथा संघटित रूप में, अपने अंग-प्रत्यङ्ग से परिपूर्ण भाव में अपना प्रभाव जमाने तथा उनके नेत्रों के सामने वस्तु का पूर्ण चित्र झलक उठे। शूद्रक, जाबालि का आश्रम, विन्ध्याटवी, महाश्वेता तथा कादम्बरी का वर्णन इसी शैली में प्रयुक्त होने से इतने सुन्दर तथा प्रभावशाली हैं। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि बाण की गद्य शैली तथा वर्ण्य विषय में अद्भुत सामञ्जस्य है।

सच तो यह है कि बाण के गद्य में सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति, चमत्कृत वर्णन-प्रणाली, अक्षय-शब्द-राशि तथा कल्पनाप्रसूत मौलिक अर्थों की उद्भावना विशेष रूप से पाई जाती है। उनके गद्य में इतना प्रभाव तथा प्रवाह है कि अनुकरण करनेवाले कवियों के लाख प्रयत्न करने पर भी उनके गद्य में इतना चमत्कार उत्पन्न नहीं हो पाता। इसीलिए तो त्रिलोचन कवि की दृष्टि में बाण की रसभाववती कविता के सामने अन्य कवियों की रचना केवल चपलतामात्र है—

हृदि लग्नेन बाणेन यन्मन्दोऽपि पदक्रमः।
भवेत् कविकुरङ्गाणां चापलं तत्र कारणम् ॥

राजशेखर के मत में बाण की शैली पांचाली रीति का भव्य निदर्शन है—

शब्दार्थयोः समो गुम्फः पाञ्चाली रीतिरिष्यते।
शिला-भट्टारिका-वाचि बाणोक्तिषु च सा यदि ॥

पाञ्चाली शैली का प्राण है—वर्ण्यविषय के अनुरूप पदों का विन्यास। जैसा अर्थ वैसा शब्द। यदि वर्ण्य विषय घनघोर अरण्यानी है, तो कवि की वाणी उत्कट पदावली से मण्डित है। यदि वह कामिनी के रूपलावण्य का चित्रण है, तो कवि का पदविन्यास नितान्त ललित तथा कमनीय है। शब्द के ऊपर अखण्ड साम्राज्य बाण की अन्यतम विशिष्टता है। जो वस्तु एक बार कह दी गयी या पद-प्रयोग हो गया है, सो हो गया। फिर उसके दुहराने की कहीं आवश्यकता ही नहीं। शब्द-दरिद्र कवि ही उन्हीं शब्दों को बार-बार रखता है. परन्तु शब्द का धनी कवि शब्द-प्रयोग में कभी कंजूसी नहीं करता। उसे कमी ही किस बात की है? इस प्रकार बाणभट्ट के वर्णन में स्निग्धता है, रुचिरता है, सुगढ़ चिक्कणता है। उनमें कोई भी वस्तु अनगढ़ नहीं। कादम्बरी तो उस बगीचे के समान है जिसका प्रत्येक अवयव, प्रत्येक वस्तु

कवि के द्वारा खूब सजाई गई है, जिसमें सुन्दर गुलदस्तों की बहार अपने रंग से तथा अपनी महक से पाठकों का हृदय अपनी ओर बलात् खींच लेती है।

बाण संस्कृत भाषा के सम्राट् हैं। शब्दों पर उनकी अद्भुत प्रभुता है, गद्य में अद्भुत प्रवाह है। कहीं उनका गद्य घोर रोर करने वाली बरसाती नदियों की भाँति बड़े वेग से बहता है, तो कहीं वह शरत्कालीन शान्त सरिता के समान मन्द गति से चलकर अपूर्व सौन्दर्य दिखलाता है। वाक्यों के नवीकरण की विलक्षण योग्यता बाणभट्ट में है। 'कथितपदता' तो ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलती। सर्वत्र नव पदविन्यास, नूतन अर्थाभिव्यक्ति, मंजुल भावभंगी आलोचकों के लिए विस्मयावह आनन्द का साधन बनाती है। संस्कृत गद्य में कितनी ओजस्विता आ सकती है, कितना मंजुल प्रवाह हो सकता है, कितनी भावाभिव्यञ्जना हो सकती है—इसकी पूर्ण परिचायक बाणभट्ट की कादम्बरी है। इसीलिये प्राचीन आलोचक धर्मदास मुग्ध होकर बाण की स्तुति में यथार्थ रूप से कह रहे हैं—

रुचिर-स्वर-वर्णपदा　रसभाववती　जगन्मनो हरति।
सा किं तरुणी? नहि नहि वाणी बाणस्य मधुरशीलस्य॥

—×—

३. दण्डी

'अवन्ति-सुन्दरी' के आधार पर दण्डी का थोड़ा चरित्र प्राप्त होता है। कविवर भारवि के तीन लड़के हुए, जिनमें 'मनोरथ' मध्यम पुत्र था। मनोरथ के भी चारों वेदों की भाँति चार पुत्र उत्पन्न हुए, जिनमें 'वीरदत्त' सबसे छोटा होने पर भी एक सुयोग्य दार्शनिक था। 'वीरदत्त' की स्त्री का नाम 'गौरी' था। इन्हीं से कविवर दण्डी का जन्म हुआ था। बचपन में ही इनके माता-पिता गुजर गये थे। ये काञ्ची में निराश्रय ही रहते थे। एक बार जब काञ्ची में विप्लव उपस्थित हुआ, तब ये काञ्ची छोड़कर जङ्गलों में इधर-उधर भटकते फिरते थे। अनन्तर शहर में शांति होने पर ये फिर पल्लव-नरेश की सभा में आ गए और वहीं रहने लगे।

भारवि और दण्डी के इस सम्बन्ध के विषय में अब संदेह होने लगा है। जिस श्लोक के आधार पर भारवि के साथ दण्डी के प्रपितामह दामोदर की एकता मानी जाती थी उस श्लोक में नये पाठ-भेद मिलने से इस मत को बदलना पड़ा है। नया पाठ नीचे दिया जाता है—

स मेधावी कविर्विद्वान् भारविं प्रभवं गिराम्।
अनुरुध्याकरोन्मैत्रीं नरेन्द्रे विष्णुवर्धने ॥

(१।२३)

पहला पाठ प्रथमान्त 'भारविः' था, अब उसके स्थान पर द्वितीयान्त 'भारविं' मिला है, जिससे यह अर्थ निकलता है कि भारवि की सहायता से दामोदर की मित्रता विष्णुवर्धन के साथ हो सकी। अतः, दामोदर दण्डी के प्रतिमामह थे, भारवि नहीं। इस नये पाठ-भेद से दोनों के समय-निरूपण के विषय में किसी तरह का परिवर्त्तन आवश्यक नहीं है।

इस वर्णन से दण्डी के अन्धकारमय जीवन पर प्रकाश की एक गाढ़ी किरण पड़ती है। भारवि का सम्बन्ध उत्तरी भारत से न होकर दक्षिण भारत से है। हिन्दुओं की पवित्र नगरी काञ्ची (आधुनिक कांजीवरम्) इन की जन्मभूमि थी। इनका जन्म एक अत्यन्त शिक्षित ब्राह्मण कुल में हुआ था। भारवि की चौथी पीढ़ी में इनका जन्म होना ऊपर के वर्णन से बिल्कुल निश्चित है। काञ्ची के पल्लव-नरेशों की छत्रछाया में इन्होंने अपने दिन सुखपूर्वक बिताए थे।

इस वर्णन से दक्षिण भारत की एक किंवदन्ती की भी यथेष्ट पुष्टि होती है। एम० रंगाचार्य ने एक किंवदन्ती का उल्लेख किया है कि पल्लव राजा के पुत्र को शिक्षा देने के लिये ही दण्डी ने 'काव्यादर्श' की रचना की थी। काव्यादर्श के प्राचीन टीकाकार तरुणवाचस्पति की सम्मति में दण्डी ने निम्न-लिखित प्रहेलिका में काञ्ची के पल्लव-नरेशों की ओर इङ्गित किया है—

नासिक्यमध्या परितश्चतुर्वर्णविभूषिता।
अस्ति काचित् पुरी यस्यामष्टवर्णाह्वया नृपाः॥

(पृ० ३०—श्लोक ११४)

अत एव दण्डी को काञ्ची के पल्लव-नरेश के आश्रय में मानना इतिहास तथा किंवदन्ती दोनों से सिद्ध होता है।

स्थिति-काल

नवम शताब्दी के ग्रन्थों में दण्डी का नामोल्लेख पाये जाने से निश्चित है कि उनका समय उक्त शताब्दी से पीछे कदापि नहीं हो सकता। सिंघली भाषा के अलंकार-ग्रन्थ 'सिय-बस-लकर' (स्वभाषालंकार) की रचना काव्यादर्श के

आधार पर की गई है[1]। इसका रचयिता राजा सेन प्रथम महावंश के अनुसार ८४६-६६ ई० तक राज्य करता था। इससे भी पहले के कन्नड़ भाषा के अलंकार-ग्रन्थ 'कविराजमार्ग' में काव्यादर्श की यथेष्ट छाया देखी गई है। इसके उदाहरण या तो काव्यादर्श से पूर्णतः लिये गये हैं, या कहीं-कहीं कुछ परिवर्तित रूप में रखे गये हैं। हेतु, अतिशयोक्ति आदि अलंकारों के लक्षण दण्डी से अक्षरशः मिलते हैं। ग्रन्थ के लेखक अमोघवर्ष का समय ८१५ ई० के आसपास माना जाता है। अत एव काव्यादर्श की रचना नवीं शताब्दी के अनन्तर कदापि स्वीकृत नहीं की जा सकती।

यह तो दण्डी के काल की अन्तिम सीमा है। अब पूर्व की सीमा की ओर ध्यान देना चाहिये। यह निर्विवाद है कि काव्यादर्श के समग्र पद्य दण्डी की ही मौलिक रचना नहीं हैं, उनमें प्राचीनों के भी पद्य सन्निविष्ट हैं। "लक्ष्म लक्ष्मीं तनोतीति प्रतीतिसुभगं वचः" में दण्डी के 'इति' शब्द के प्रयोग से यहाँ साफ तौर पर जाना जाता है कि कालिदास के प्रसिद्ध पद्यांश 'मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति' से उद्धरण दिया गया है। अतः इनके कालिदास के अनन्तर होने में तो संदेह का स्थान ही नहीं है, परन्तु अन्य भाव-साम्य से ये बाणभट्ट के भी अनन्तर प्रतीत होते हैं—

अरत्नालोकसंहार्यमवार्यं सूर्यरश्मिभिः।
दृष्टिरोधकरं यूनां यौवनप्रभवं तमः॥

काव्यादर्श के इस पद्य में कादम्बरी में चन्द्रापीड को शुकनास द्वारा दिए गए उपदेश की स्पष्ट छाया दीख पड़ती है। दण्डी को बाणभट्ट (७ वीं सदी पूर्वार्द्ध) के अनन्तर मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं जान पड़ती है। प्रो० पाठक की सम्मति में काव्यादर्श में निर्वर्त्य, विकार्य तथा प्राप्य हेतु का विभाग वाक्यपदीय के कर्ता भर्तृहरि (६५० ई०) के अनुसार किया गया है।[2]

काव्यादर्श में उल्लिखित राजवर्मा (रातवर्मा) को यदि हम नरसिंह द्वितीय (जिसका विरुद अथवा उपनाम राजवर्मा था) मान लें, तो किसी

---

१. डाक्टर बारनेट—जर्नल आफ दी रायल एशियाटिक सोसाइटी, १९०५।
२. पाठक—इंडियन ऐण्टिक्वेरी १९१२ ई०।

प्रकार की अनुपपत्ति उपस्थित नहीं होती। प्रो० आर० नरसिंहाचार्य[१] तथा डाक्टर बेलवल्कर[२] ने भी इन दोनों की एकता मानकर दण्डी का समय सातवीं सदी का उत्तरार्द्ध बतलाया है। शैव-धर्म के उत्तेजक पल्लवराज नरसिंह वर्मा का समय ६९०-७१५ ई० माना जाता है। अतः इनके सभा-कवि दण्डी का भी समय सप्तम सती के अन्त तथा अष्टम के आरम्भ में मानना उचित प्रतीत होता है।

दण्डी के ग्रन्थ

राजशेखर ने इस प्रख्यात पद्य में दण्डी के तीन प्रबन्धों के अस्तित्व का स्पष्ट निर्देश किया है—

त्रयोऽग्नयस्त्रयो देवास्त्रयो वेदास्त्रयो गुणाः।
त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुताः॥

दण्डी की इस विश्रुत प्रबन्धत्रयी में काव्यादर्श निःसन्देह अन्यतम रचना है—इसमें कोई दो मत नहीं हो सकते। आज कोई भी विज्ञ आलोचक 'छन्दोविचित' तथा 'कलापरिच्छेद' को, जो काव्यादर्श के आरम्भ तथा अन्त में निर्दिष्ट किये गये हैं, स्वतन्त्र ग्रन्थ मानने के पक्ष में नहीं है। 'छन्दोविचित' तो छन्दःशास्त्र का ही अभिधान है और दण्डी ने भी स्वयं इसे काव्य में प्रवेश पाने के लिए विद्या के रूप में निर्दिष्ट किया है (सा विद्या नौर्विविक्षूणाम्—काव्यादर्श १।१०); दण्डी की ही दृष्टि में यह विद्या है, रचना नहीं। इसी प्रकार 'कलापरिच्छेद' भी काव्यादर्श का ही कोई अनुपलब्ध अंश है, जिसे दण्डी ने अवश्य लिखा था, परन्तु आज उपलब्ध नहीं है।

दण्डी का द्वितीय ग्रन्थ कौन है? दण्डी के नाम से 'दशकुमार-चरित' नामक रोमाञ्चक आख्यानों तथा कौतूहल से परिपूर्ण ग्रन्थ पर्याप्त रूपेण प्रख्यात है। दशकुमार-चरित के विभिन्न पाठ-संस्करणों की परीक्षा करने से स्पष्ट होता है कि इस ग्रन्थ के तीन खण्ड हैं—भूमिका, मूल ग्रन्थ तथा पूरक भाग, जिनमें क्रमशः ५, ८ तथा १ उच्छ्वास हैं। ये तीनों भाग आपस में मेल नहीं खाते। भूमिका भाग (५ उच्छ्वास) पूर्व-पीठिका के नाम से प्रख्यात है तथा पूरक भाग उत्तर-पीठिका के नाम से। और मध्यवर्ती मूल ग्रन्थ दशकुमार-चरित के अन्वर्थक नाम से प्रख्यात है। मूलग्रन्थ और पूर्वपीठिका के कथानकों में

---

१. Indian Antiquary. 1912 P. 90.
२. Notes on काव्यादर्श 11. Chapter, P. 176-77.

अवान्तर घटना-वैषम्य है। मूलग्रन्थ के आठ उच्छ्वासों में केवल आठ ही कुमारों के विचित्र चरित्र का उपन्यास है, परन्तु नामकी सार्थकता सिद्ध करने के विचार से पूर्वपीठिका में अन्य दो कुमारों का चरित जोड़ दिया गया है[१] और अधूरे ग्रन्थ को पूर्णता की कोटि पर पहुँचाने के लिए अन्त में उत्तर-पीठिका भी जोड़ दी गई है। इस प्रकार आरंभ में पूर्व-पीठिका से और अन्त में उत्तर पीठिका से संपुटित मूल ग्रन्थ ही आज 'दशकुमार-चरित' के नाम से प्रख्यात है।

परन्तु इसका मूल क्या है ? इसका उत्तर अब दिया जा सकता है। मूल ग्रन्थ का नाम है—अवन्ति-सुन्दरी। इसका प्रकाशन दो स्थानों से हुआ है। इसके आरंभ का थोड़ा भाग १९२४ ई० में मद्रास से दक्षिण भारती सीरीज में प्रकाशित हुआ था और इसका बृहत् अंश अनन्तशयन के हस्तलेखों में प्राप्त हुआ है और वहीं से इधर प्रकाशित हुआ है। दोनों अंशों को मिलाने से 'अवन्ति-सुन्दरी' के मूल स्वरूप का पूरा परिचय प्राप्त होता है। इसी का पद्यबद्ध सारांश 'अवन्तिसुन्दरी-कथा सार' के नाम से प्रकाशित हुआ है। 'अवन्ति-सुन्दरी' ही दण्डी का द्वितीय प्रबन्ध है जिसकी उपलब्धि न होने से कालान्तर में 'दशकुमारचरित' ही उसका स्थानापन्न ग्रन्थ मान लिया गया। तथ्य दोनों के अनुशीलन से स्पष्ट प्रकट होता है कि 'अवन्ति-सुन्दरी' ही मूल ग्रन्थ है जिसका सार अंश दशकुमार-चरित में निबद्ध किया गया, परन्तु कब ? इस प्रश्न का ठीक उत्तर नहीं दिया जा सकता। ध्यान देने की बात है कि 'दशकुमार-चरित' का नाम न तो अलंकार के किसी ग्रन्थ में और न किसी व्याख्या ग्रन्थ में ही निर्दिष्ट किया गया है।

तब दण्डी का तृतीय प्रबन्ध कौन सा है ? इस प्रश्न का उत्तर भोज के शृंगार-प्रकाश से मिलता है। इसका नाम है 'दण्डिद्विसंधान'। यह ग्रन्थ श्लेष के द्वारा रामायण तथा महाभारत के दोनों कथानकों को समान पद्यों में वर्णन करता है। यह महाकाव्य उपलब्ध नहीं है, परन्तु भोज के द्वारा निर्दिष्ट उदाहरण से यह प्रसन्न श्लेष के द्वारा मण्डित प्रतीत होता है। दण्डी का तृतीय प्रबन्ध यही महाकाव्य है जिसकी जानकारी के लिए हम भोज के ऋणी हैं[२]।

---

१. द्रष्टव्य ग्रन्थकार की—संस्कृत सुकवि-समीक्षा, (प्रकाशक, चौखम्भा विद्या-भवन, वाराणसी १९६३), पृष्ठ २८०-२९५।

२. द्रष्टव्य, भोज-शृंगार-प्रकाश (डा० राघवन् द्वारा निर्मित अंग्रेजी ग्रन्थ, मद्रास १९६३), पृष्ठ ८३६-८३८।

दशकुमार-चरित

महाकवि दण्डी का 'दशकुमार-चरित' संस्कृत साहित्य की गौरवमयी गद्यकाव्यत्रयी में अपने आख्यानों की रोमाञ्चकता तथा कौतूहलपूर्णता के कारण एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। यह दश कुमारों के विचित्र चरित्र का श्लाघनीय संग्रह है। इसमें दो पीठिकायें हैं, जिनमें न उत्तर-पीठिका ही दण्डी की वास्तव रचना मानी जाती है और न पूर्व पीठिका ही ग्रन्थ का मूल अंश माना जाता है। हाल में 'अवन्ति-सुन्दरी' कथा नामक गद्यकाव्य की उपलब्धि[1] से इस प्रश्न का एक बोधगम्य तथा विश्वसनीय उत्तर आलोचकों के सामने आया है। यह 'अवन्ति-सुन्दरी' कथा दण्डी की ही मौलिक कृति है, परन्तु कालान्तर में इसकी उपलब्धि न होने से इसी कथानक को पूर्वपीठिका के रूप में आदि में जोड़कर दशकुमारचरित को पूर्ण तथा क्रमबद्ध बनाया गया है। मूलग्रन्थ तथा पूर्व-पीठिका के कथानकों के अवान्तर घटनावैषम्य का कारण यही जोड़ने की विश्रृङ्खलता है। मूल ग्रन्थ के आठ उच्छ्वासों में केवल आठ ही कुमारों की कार्यावली का रुचिर विन्यास है, परन्तु नाम की सार्थकता सिद्ध करने के लिए पूर्वपीठिका में अन्य दो कुमारों का चरित्र जोड़ दिया गया है तथा अधूरे ग्रन्थ को पूर्णता की कोटि पर पहुँचाने के लिए अन्त में उत्तर पीठिका भी जोड़ी गई है। इस प्रकार आरम्भ में पूर्वपीठिका से तथा अन्त में उत्तरपीठिका से संपुटित मूल ग्रन्थ ही आज 'दशकुमार-चरित' के अभिधान से विख्यात है।

कथानक

पुष्पपुरी (पटना) का राजा राजहंस मालवेश्वर मानसार को परास्त करता है, परन्तु तपस्या के बल से प्रभावसंपन्न होकर मानसार पाटलिपुत्र पर चढ़ाई करता है और राजा को युद्ध में हराता है। राजहंस जंगल में चला जाता है और वहीं राजवाहन नामक पुत्र उसे उत्पन्न होता है। उसके मन्त्रियों के भी पुत्र उत्पन्न होते हैं। ये बड़े होने पर यात्रा के निमित्त परदेश जाते हैं और भाग्य की विषमता के कारण अलग-अलग देशों में पहुँच जाते हैं तथा विचित्र संकटपूर्ण जीवन बिताते हैं। राजवाहन से पुनः भेंट होने पर वे आपबीती सुनाते हैं। इन्हीं साहसी कुमारों की साहसपूर्ण घटनाओं का आकर्षक वर्णन प्रस्तुत करने वाला आख्यान ग्रन्थ 'दशकुमार-चरित' कहलाता है।

---

१. अनन्तशयन ग्रन्थमाला, सं० १९७२ (१९३४) में प्रकाशित।

'दशकुमार-चरित' एक घटना-प्रधान कथानक है जिसमें नाना प्रकार की उल्लासमयी रोमाञ्चक घटनाएँ पाठकों के हृदय में कभी विस्मय की और कभी विषाद की रेखायें खींचने में नितान्त समर्थ होती हैं। कहीं पाठक भयानक अरण्यानी के बीच हिंस्र पशुओं के चीत्कारों तथा दहाड़ों को सुनकर व्यग्र हो उठता है, तो कहीं वह समुद्र के बीच जहाज टूट जाने से अपने को पानी में काठ के सहारे तैरता हुआ पाता है। इन कहानियों का सम्बन्ध दोनों क्षेत्रों से है— स्थल-जगत् से तथा जल-जगत् से। मित्रगुप्त के जीवन में हमें तात्कालिक जलयात्रा का एक बड़ा ही रोचक चित्र मिलता है। मित्रगुप्त दामलिप्ति (ताम्रलिप्ति) नामक प्रख्यात बंगीय बन्दरगाह से किसी नवीन द्वीप में जहाज से जाता है। चट्टान की चोट पाकर जहाज टूट जाता है। बहुत देर तक तैरने के बाद संयोगवश उसे काठ का एक तैरता हुआ टुकड़ा मिलता है। रात-दिन उसी के सहारे बिताने पर यवन नाविकों का एक जहाज दिखलाई पड़ता है जिसके कप्तान (नाविक-नायक) का नाम 'रामेषु' है। यवनों के ऊपर अन्य युद्धपोत (मद्‌गु) का आक्रमण होता है। यवन नाविक इस नवीन विपत्ति से विचलित हो उठते हैं। मित्रगुप्त जिसे जंजीरों से बाँधा गया है मुक्त कर दिया जाता है। वह इस पोत के डाकुओं को अपनी वीरता से हराकर यवनों को बचाता है और उनसे पुरस्कृत होकर पुनः स्वदेश लौट आता है। इसी प्रकार की रोमाञ्च तथा साहस से भरी हुई विस्मयावह घटनाओं से पूर्ण होने के कारण 'दशकुमार-चरित' का वातावरण नितान्त भौतिक है। छल-कपट, मार-काट तथा साँच-झूठ से ओत-प्रोत होने के कारण यह एक अत्यन्त सजीव रचना है। दण्डी की प्रतिभा घटनाओं की यथार्थता में चरितार्थ होती है। यथार्थवाद यहाँ पूर्णतः प्रतिबिम्बित हो रहा है।

'रामेषु' सीरिया की शामी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है 'सुन्दर ईसा' (राम = सुन्दर, ईषु = ईसा)। ईसाई धर्म के प्रचार के कारण यह नाम उस समय यवन नाविकों में चल चुका था। गुप्त काल में भारत की नौसेना के बेड़े देशान्तरों से व्यापार करने में तथा रत्नार्णवों की मेखला से युक्त भारतभूमि की रक्षा करने में नितान्त पटु थे। दण्डी के इस वर्णन से घटना की पुष्टि होती है। दण्डी के द्वारा निर्दिष्ट 'मद्‌गु' नामक जंगी जहाज झपट्टा मारनेवाले समुद्री पक्षी की समता रखने के कारण इस नाम से पुकारा गया है। दशकुमार के तृतीय उछ्वास में 'खनति' नामक एक यवन व्यापारी से एक बहुमूल्य हीरा ठगने का उल्लेख है। 'खनति' की व्युत्पत्ति का पता नहीं कि यह किस भाषा

का शब्द है, परन्तु इतना तो निश्चित है कि दण्डी के युग में ईरानी व्यापारी भारत में हीरा जवाहिरात का व्यापार करते थे।

सामाजिक दशा

दण्डी ने तत्कालीन समाज को अपनी पैनी दृष्टि से देखा था। इसलिए तत्कालीन समाज का व्यंग्य और विनोद से भरा यथार्थ चित्रण विशेष हृदयावर्जक है। समाज के शोभन पक्ष की अपेक्षा अशोभन पक्ष का भी चित्र प्रस्तुत कर दण्डी ने अपने चित्रण में जान फूंक दी है। दम्भी तपस्वी, कपटी ब्राह्मण तथा छली वेश्याओं का चित्रण इतनी रुचिरता तथा यथार्थता के साथ किया गया है कि उनके व्यक्तित्व की गहरी छाप पाठकों के हृदय पर पड़ती है। 'अपहार वर्मा' के प्रसंग में 'काममञ्जरी' नामक वेश्या 'मरीचि' नामक तापस को कितनी विदग्धता तथा बहादुरी से ठगती है यह देखने का विषय है। इस कथा में दण्डी ने तापसों के दम्भ तथा अभिमान पर खूब ही फबतियाँ कसी है। नारी-हृदय की परख दण्डी को खूब ही थी। कहीं पतिवंचक क्रूरहृदया नारी का जघन्य चित्र है, तो कहीं पतिप्राणा पतिव्रता के कोमल हृदय की मनोरम झाँकी है, 'धूमिनी' स्त्री-हृदय की क्रूरता का जघन्य प्रतीक है, तो 'गोमिनी' पतिप्राणा सती गेहिनी की उज्ज्वल मूर्ति है। धूमिनी जैसी क्रूरहृदया नारी के चित्रण के लिए आलोचक समाज दण्डी का सर्वदा ऋणी रहेगा।

इन कथानकों में कौतुक और विस्मय-जनक घटनाओं की प्रचुरता के कारण यहाँ 'अद्भुत रस' का प्रभूत संचार है। दण्डी नाना विद्याओं तथा शास्त्रों के पारंगत पण्डित प्रतीत होते हैं। इसलिए राजनीति का अन्तरंग वर्णन, कामशास्त्र के गूढ़ तथ्यों का प्रकटीकरण तथा चौरशास्त्र की अद्भुत बातें किस पाठक को दण्डी के व्यापक तथा विचित्र पाण्डित्य का परिचय नहीं देती? तथ्य यह है कि पल्लव नरेशों की छत्रछाया में रहने पर भी दण्डी दरबारी जीवन से कोसों दूर हैं। वे जनता के कवि हैं और इसलिए उनके गद्यकाव्य में जनता के हर्ष-विषाद, सुख-दुःख, आनन्द-वेदना का परिस्फुरण पर्याप्त मात्रा में हुआ है। सप्तम शतक में भारतीय जनसाधारण के खेलकूद, आमोद-प्रमोद, आचार-विचार की जानकारी के लिये 'दशकुमार-चरित' का परिशीलन नितान्त उपयोगी और उपादेय है।

धार्मिक दशा

दण्डी के युग में शैवधर्म की प्रधानता थी। उज्जयिनी शैव-धर्म की एक प्रधान पीठस्थली थी, जहाँ 'महाकाल' का मन्दिर कालिदास के समय से ही धार्मिक जनता का ध्यान आकृष्ट करता था। उस युग में यह शिक्षा का केन्द्र भी था, जहाँ बालक शिक्षण के निमित्त भेजे जाते थे। राजधानियों में शिव तथा स्वामी कार्तिकेय के भी मन्दिर होते थे, जहाँ विशेष पर्वों के अवसर पर राजा अपने परिवार के साथ दर्शनार्थ जाया करता था। श्रावस्ती नगरी में त्र्यम्बक (शिव) के समाज जुटने का उल्लेख है (पृ० १९५)। जैनधर्म भी पल्लवित था। जैन विहारों की सत्ता का अनेक स्थलों पर संकेत किया गया है। बौद्ध-धर्मावलम्बिनी शाक्यभिक्षुणियाँ विवाह कार्य के लिये दौत्यकर्म किया करती थीं—जो उनकी सामाजिक हीनता का विशेष परिचायक है। जनपदीय जनता का एक सभागृह होता था जिसमें उनके मनोरंजन के लिए संगीत का अनुष्ठान होता था। जनता के लिए इस युग में अनेक उत्सव हुआ करते थे, जिनमें कामोत्सव (आधुनिक होली) प्रमुख स्थान रखता था। गावों में मुर्गों का युद्ध भी लोकप्रिय था, जिसे देखने के लिए लोग उमड़ पड़ते थे। मुर्गे दो प्रकार के बतलाये गये हैं (पृ० १९६)—वालका जाति का दीर्घ ग्रीव सफेद मुर्गा तथा नारिकेल जाति का काला मुर्गा। पान खाने की भी विशेष चाल थी। आगन्तुक मित्र के सत्कार के लिए कपूर से सुगन्धित पान का बीड़ा देने की प्रथा थी। व्यवसाय का विशेष प्रचलन था। आज की तरह बाघ के चर्म तथा दृति (मशक) के बेचने की चाल भी उस समय खूब थी (पृ० २७०)। कुएँ से जल निकालने के लिये 'वंशनाली' (बाँस का चोगा) का प्रयोग किया जाता था (पृ० २५०)।

साहित्यिक दृष्टि से 'दशकुमार-चरित' एक श्लाघनीय रचना है। यह आख्यान-काव्य का उज्ज्वल दृष्टान्त है, जिसके पात्र जीते-जागते जगत् के प्राणी हैं और जिनका चित्रण शिष्ट हास्य तथा मधुर व्यंग्य का आश्रय लेकर प्रस्तुत किया गया है। कथानक में पारस्परिक मनोरम सामञ्जस्य है। वर्णन की स्वल्पता न तो कथानक के प्रवाह को रोकती है और न अवान्तर कथाएँ मुख्य कथा में किसी प्रकार का अवरोध खड़ा करती हैं। दण्डी की गद्यशैली बड़ी ही सुबोध, सरल तथा प्रवाहमयी है। उनका गद्य न तो श्लेष के बोझ से कहीं दबा हुआ है और न कहीं समास के प्रहार से प्रताडित है। उनका गद्य दिन प्रति-दिन के व्यवहार-योग्य, सजीव और चुस्त है। उसकी प्रासादिकता

दण्डी की निजी विशेषता है। ये अपनी भाषा को अलंकारों के आडम्बर से सदा बचाते हैं। इसीलिये इनकी भाषा प्रवाहपूर्ण मँजी हुई और मुहावरेदार है। सुबन्धु के गद्य के समान न तो यह प्रत्यक्षर-श्लेषमय है और न बाण के गद्य के सदृश समासों से लदी हुई तथा गाढबन्धता से मण्डित है। तथ्य यह है कि गद्य के इतिहास में दण्डी का अपना निजी मार्ग है। वे सुबन्धु तथा बाण इन दोनों में से किसी की भी शैली का अनुगमन न कर एक नवीन प्रकार की शैली के उद्भावक हैं, जिनके विशेष गुण हैं—अर्थ की स्पष्टता, रस की सुन्दर अभिव्यक्ति, पद का लालित्य तथा दैनन्दिन प्रयोग की क्षमता। 'दण्डिनः पद-लालित्यम्' के ऊपर पण्डित-समाज अपने को निछावर किये हुए है।

व्यावहारिक शैली के अनुरूप ही शब्दों का व्यावहारिक चयन है। इन व्यवहारों में आने वाली वस्तुओं के परिचायक शब्दों का अर्थ-संकेत संस्कृत के कोषों में बहुशः किया गया अवश्य है, परन्तु उन्हें प्रयोग में लाने की प्रेरणा दण्डी ने प्रदान की है। दण्डी ने इन्हें व्यवहार-योग्य बनाया है। इन शब्दों का आज राष्ट्रभाषा में व्यवहार उसे सक्षम तथा सामर्थ्यशाली बनायेगा। पान के पनडब्बा के लिए 'उपहस्तिका' (पृ० १९८), लँगोटी के लिये 'मलमल', एक जोड़ी धोती के लिए 'उद्गमनीय', पानी निकालने के लिए पात्र या डोल के निमित्त 'उदञ्चन', भूसी के लिए 'किशारु', तथा तक्र के लिए 'कालशेय', युद्धपोत के लिए 'मद्गु', जनपदीय सभा के लिए 'पञ्चवीर-गोष्ठ'—इन शब्दों का अर्थतः संकेत प्राचीन होने पर भी प्रयोगतः प्रथम व्यवहार दण्डी का वैशिष्ट्य है। 'अभवदीयं हि नैव किञ्चिद् मत्सम्बद्धम्" (मेरा सब कुछ आप ही का है) तथा "जिवितं ही नाम जन्मवतां चतुःपञ्चाप्यहानि" (जीवन है दो चार दिनों का)—आदि वाक्य छोटे होने पर भी नितान्त अभिव्यंजक तथा सरस हैं। इन्हीं गुणों के कारण प्राचीन आलोचक लोग दण्डी को वाल्मीकि तथा व्यास के अनन्तर होने वाला तत्समकक्ष तृतीय कवि मानते हैं—

जाते जगति वाल्मीकौ कविरित्यभिधाऽभवत् ।
कवी इति ततो व्यासे कवयस्त्वयि दण्डिनि ॥

षष्ठ परिच्छेद

कथा-साहित्य

व्यापक प्रभाव

पाश्चात्य-साहित्य में कथा को विशेष गौरव दिया जाने लगा है और इससे प्रभावित होकर पूर्वी साहित्य में भी इसकी महत्ता स्वीकार होने लगी है — यह कथन आजकल के लिए सच्चा कहा जा सकता है, परन्तु हमें यह न भूलना चाहिए कि कथा-साहित्य का उदय इसी भारतवर्ष में हुआ और इसने ही संसार के सामने इस साहित्यिक साधना की उपयोगिता सर्वप्रथम प्रदर्शित की। भारतीय साहित्य की विश्व साहित्य के लिए जो देन है, उनमें इस लोकप्रिय 'कथा' की देन विशेष महत्त्व रखती है। पाश्चात्य जगत् के प्राचीन कथा-साहित्य से परिचित विद्वानों को इसे बताने की आवश्यकता नहीं है कि भारतवर्ष ही 'कहानी' की उद्गम भूमि है। यहीं से इसने भ्रमण करना आरम्भ किया और वह समस्त सभ्य देशों के साहित्य में व्याप्त हो गई। षष्ठ शताब्दी में हम भारत में उन कथाओं की लोकप्रियता पाते हैं जिनका संग्रह 'पञ्चतन्त्र' में हमें आज भी उपलब्ध हो रहा है। 'पञ्चतन्त्र' का भी अपना विशिष्ट इतिहास है, जिसे जर्मन विद्वान् डाक्टर हर्टेल ने बड़े परिश्रम से खोज निकाला है। 'बृहत्-कथा' (तीसरी शताब्दी) तथा पञ्चतन्त्र की कहानियाँ बड़ी प्राचीन हैं। 'तन्त्राख्यायिका' के रूप में उसका मौलिक रूप आज हमारे मनन के लिए विद्यमान है।

'पञ्चतन्त्र' विश्व-साहित्य को भारतीय साहित्य की महनीय देन है। इन कहानियों के भ्रमण की कथा नितान्त रोचक तथा उपदेशप्रद है। उसका अनुशीलन हमें बताता है कि करटक तथा दमनक (सियार पांडे) की चतुरता भारत के तथा अरब के निवासियों को समभाव से आनन्दित करती रही है। राजा शिवि के आत्मत्याग की कथा राजा भोज के सभासदों को उसी प्रकार उपदेश देती थी, जिस प्रकार फारस के बादशाह खुशरो नौशेरवां के दरबारियों को। ऐतिहासिक तथ्य यह है कि जब षष्ठ शतक में भारत का तथा फारस का घनिष्ठ सम्बन्ध था, तब इन रोचक तथा उपदेशप्रद कथाओं की ओर इस न्यायी बादशाह (५३१ ई० —५७९ ई०) की दृष्टि आकृष्ट हुई। इसके दरबारियों में एक संस्कृत के ज्ञाता हकीम थे, उनका नाम था 'बुरजोई'। इन्हीं हकीम साहब ने पहले-पहल पञ्चतन्त्र का प्रथम अनुवाद पहलवी (प्राचीन फारसी) भाषा में ५३३ ई० में किया। इस अनुवाद के पचास वर्ष के भीतर ही एक ईसाई पादरी ने पहलवी से सीरीअन भाषा में ५६० ई० में 'कलिलग' और 'दमनग' के नाम से अनुवाद किया। ईसाई साधु का नाम था—बुद। सीरिअन से अनुवाद अरबी में किया गया था। इस अनुवाद का नाम 'कलीलह' और 'दमनह' है, जो प्रथमतन्त्र के प्रधान पात्र 'करकट' तथा 'दमनक' के नाम पर दिया गया है। इस अनुवाद का श्रेय अब्दुल्ला अलमुकफ्फा नामक विद्वान् को है। यह स्वयं तो मुसलमान था, पर इसका पिता पारसी था। यह अनुवाद ७५० ई० में किया गया। इसी शताब्दी में एक दूसरा भी अनुवाद प्रस्तुत किया गया। ७८१ ई० में अब्दुल्ला बिन हवाजी ने पहलवी से अरबी में अनुवाद किया। इसी अनुवाद को सहल-बिन नवबख्त ने 'यहिया बरमकी' की आज्ञा से अरबी कविता में किया, जिसके लिए उसे एक हजार सुवर्ण दीनार पुरस्कार में मिले थे। पञ्चतन्त्र के अरबी में ये प्रसिद्ध अनुवाद हैं। समय-समय पर अन्य भी अनुवाद हुए। यह हुई सातवीं शताब्दी में पश्चिमी जगत् में भारतीय कहानियों के भ्रमण की बात। इस शताब्दी के पहले ही ये भारत से पूरब भी पहुँच चुकी थीं, क्योंकि चीनी भाषा के दो विश्वकोषों में (जिसमें प्राचीनतर ६६८ ई० में रचित है) बहुत-सी भारतीय कहानियों का अनुवाद चीनी भाषा में किया गया मिलता है। इसमें आश्चर्य

नहीं, क्योंकि इन विश्वकोषों ने अपने लिए २०२ बौद्ध-ग्रन्थों को आधार बतलाया है। इस प्रकार दो शताब्दी के भीतर ही ये भारतीय कहानियाँ अरब से लेकर चीन तक फैल गईं।

अरबी भाषा मध्ययुग की सभ्य भाषा थी। अरबी में अनुवाद होते देर नहीं हुई कि कहानियाँ पश्चिमी जगत् के साहित्य में प्रवेश कर गईं और भिन्न-भिन्न देशों की भाषाओं में इनके अनुवाद होने लगे। लैटिन, ग्रीक, जर्मन, फ्रेंच, स्पैनिश तथा अंग्रेजी आदि भाषाओं में इसके अनुवाद धीरे-धीरे मध्ययुग से १६ वीं शताब्दी तक होते रहे। ग्रीस के सुप्रसिद्ध कथासंग्रह 'ईसाप की कहानियाँ' तथा अरब की मनोरंजक कहानियाँ 'अरेबियन नाइट्स' की आधार-भूत ये ही कहानियाँ हैं। इस तथ्य के अन्वेषक विद्वानों की यह मान्य सम्मति है। मध्ययुग में ये भारतीय कहानियाँ 'बिदापइ की कहानियाँ'—(विद्यापति की कथायें) के नाम से पश्चिमी जगत् में विख्यात थीं। ये कहानियाँ वहाँ के लोगों में इतनी प्रसिद्ध हुईं कि उन्हें इनके भारतीय होने का तनिक भी ख्याल न हुआ। इसका परिणाम यह हुआ कि भगवान् बुद्ध ईसाई सन्तों के बीच में विराजने लगे। मध्ययुग की एक सुविख्यात कहानी थी—बरलाम और जोजफ की कहानी। वह इतनी शिक्षाप्रद हुई कि कथा के पात्र ईसाई सन्तों में गिने जाने लगे। इनमें जोजफ स्वयं बुद्ध हैं। जोजफ बुदसफ के रूप में 'बोधिसत्व' का अपभ्रंश है। 'बोधिसत्व' बुद्धत्व प्राप्ति के लिए क्रियाशील व्यक्ति का ही द्योतक है। क्या यह आश्चर्य का विषय नहीं है कि बुद्ध ने इन्हीं कहानियों की कृपा से ईसाई सन्तों की माननीय पंक्ति में स्थान पा लिया। बेचारे ईसाईयों को इसका बिल्कुल ध्यान न था कि जिसे वे अपने सन्तों में गणना कर रहे थे वे उनसे विरुद्ध धर्म के संस्थापक थे।

मध्ययुग की बात जाने दीजिये—उससे भी प्राचीन काल में भारतीय कहानियों का परिचय पश्चिमी जगत् को मिल गया था। 'सालोमान के न्याय' (सालोमन्स जजमेन्ट) के नाम से प्रसिद्ध कहानी का मूल भारतीय ही है। सिकन्दर की जितनी कहानियाँ ग्रीक, अरबी, हिब्रू तथा फारसी भाषाओं में मिलती हैं उनमें सर्वत्र उसकी माता के विषय में एक ही कहानी दी गई है। उसका पुत्रशोक इतना अधिक था कि वह किसी प्रकार कम ही नहीं हो रहा था। तब किसी विद्वान् ने उससे कहा कि यदि तुम हमारे लिए ऐसे घर से सरसों ला दोगी जहाँ किसी की कभी मृत्यु न हुई हो, तो मैं तुम्हारे पुत्र को जिला दूँगा। बेचारी घर-घर सरसों की तलाश में घूमती रही। अन्ततः

देहधारियों के लिए मृत्यु आवश्यक अवसान है, इस तथ्य का पता उसे स्वयं लग गया। यह कहानी भी भारतीय है। बुद्ध द्वारा 'कृशा गौतमी' का उपदेश ही इस कहानी का आधार है। इस प्रकार पञ्चतन्त्र की कहानियाँ केवल भारतवासियों को ही आनन्दित नहीं करतीं, प्रत्युत सभ्य संसार के अनेक देशों के निवासी उनसे आनन्द उठाते हैं तथा अपने जीवन को सुखमय बनाते हैं।

—×—

१. पञ्चतन्त्र

पञ्चतन्त्र जिन कथाओं का संग्रह है वे भारत में नितान्त प्राचीन हैं। पञ्चतन्त्र के भिन्न-भिन्न शताब्दियों में तथा भिन्न-भिन्न प्रान्तों में अनेक संस्करण हुए। कुछ तो आज भी उपलब्ध हैं। इनमें सबसे प्राचीन संस्करण 'तन्त्राख्यायिका' के नाम से विख्यात है, जिसका मूल स्थान कश्मीर है। पञ्चतन्त्र के भिन्न-भिन्न चार संस्करण उपलब्ध हैं—(१) पञ्चतन्त्र का पहलवी अनुवाद, जो उपलब्ध तो नहीं है, परन्तु जिसकी कथाओं का परिचय सीरिअन तथा अरबी अनुवादों की सहायता से प्राप्य है। (२) दूसरा संस्करण गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' में अन्तर्निविष्ट है। यह बृहत्कथा पैशाची भाषा में थी, मूल इसका नष्ट हो गया है, परन्तु ११वीं शताब्दी के क्षेमेन्द्र-रचित 'बृहत्कथामञ्जरी' तथा सोमदेव का 'कथासरित्सागर' इसी ग्रन्थ के अनुवाद हैं। (३) तृतीय संस्करण 'तन्त्राख्यायिका' तथा उसीसे सम्बद्ध 'जैन-कथासंग्रह' है। आजकल का प्रचलित पञ्चतन्त्र इसी का आधुनिक प्रतिनिधि है। (४) चौथा संस्करण दक्षिणी पञ्चतन्त्र मूलरूप है। नैपाली पञ्चतन्त्र तथा हितोपदेश इस संस्करण के प्रतिनिधि हैं। इस प्रकार पञ्चतन्त्र एक सामान्य ग्रन्थ न होकर एक विपुल साहित्य का प्रतिनिधि है।

डाक्टर हर्टेल ने पञ्चतन्त्र का बड़ा ही प्रमाणिक अनुशीलन कर अनेक मान्यतायें स्थिर की हैं। उनकी दृष्टि में 'तन्त्राख्यायिका'[1] या 'तन्त्राख्यान' ही इस ग्रन्थ का सर्वप्राचिन रूप है। इसमें कथानक की रूपरेखा बहुत ही परिमित है तथा नीतिमय पद्यों का संकलन बहुत ही संक्षिप्त एवं औचित्यपूर्ण है। यही मूल ग्रन्थ है जिसका अनुवाद पहलवी भाषा में सबसे पहले किया गया था। अतः इसका रचना-काल चतुर्थ शती है। इसका परिवर्धन तथा परिबृंहण पूर्णभद्र

---

१. हर्टेल द्वारा सम्पादित ओरियन्टल सीरीज (नं० १३ में प्रकाशित)।

सूरि नामक जैन पण्डित ने १२५५ वि० सं० (=११९९ ईस्वी) में किया और आजकल उपलब्ध पञ्चतन्त्र इसी संस्करण के ऊपर आधारित हैं[२]। पूर्णभद्र ने मूल ग्रन्थ का आमूलचूल संशोधन किया था, जिसका परिचय उनकी इस स्वीकारोक्ति से चलता है—

प्रत्यक्षरं प्रतिपदं प्रतिवाक्यं प्रतिकथं प्रतिश्लोकम्।
श्रीपूर्णभद्रसूरिर्विशोधयामास शास्त्रमिदम्॥

पञ्चतन्त्र से प्राचीनतर कथासंग्रह बौद्ध जातकों में उपलब्ध है। ये जातक भगवान् बुद्ध के प्राचीन जन्म की मनोरंजक कहानियाँ हैं। इनका उद्देश्य यह दिखलाना है कि अनेक जन्म में पारमिताओं के अभ्यास करने से बुद्धत्व की प्राप्ति होती है। जातक-कथाओं की संख्या ५५० है। इसके भीतर विपुल ज्ञातव्य ऐतिहासिक, भौगोलिक तथा सामाजिक सामग्री मिलती है, जिसके अनुशीलन करने से बुद्धकालीन अथवा उससे भी प्राचीन काल से दन्तकथा या लोककथा के रूप में जो कहानियाँ चली आती थीं उनका इस जातकों में विशाल समुच्चय है।

जातकों से भी प्राचीन सामग्री वैदिक साहित्य में उपलब्ध होती है। ब्राह्मण और उपनिषदों में जो कहानियाँ विस्तार के साथ मिलती हैं उन कहानियों का संकेत ऋग्वेद की संहिता में स्वयं प्राप्त होता है। ऋग्वेद में बहुत से सूक्त ऐसे उपलब्ध होते हैं जिनमें दो या तीन पात्रों में परस्पर कथनोपकथन विद्यमान है। इन सूक्तों को 'संवाद-सूक्त' कहते हैं। भारतीय साहित्य के अनेक अंगों का उद्गम इन्हीं संवाद-सूक्तों से होता है। इसके अतिरिक्त सामान्य स्तुतिपरक सूक्तों में भी भिन्न-भिन्न देवताओं के विषय में अनेक मनोरंजक तथा शिक्षाप्रद आख्यानों की उपलब्धि होती है। संहिता में जिन कथाओं की केवल सूचनामात्र है उनका विस्तृत वर्णन 'बृहद्देवता' में तथा षड्गुरुशिष्य की 'कात्यायन सर्वानुक्रमणी' की 'वेदार्थदीपिका' टीका में किया गया है। निरुक्त में यास्क ने तथा सायण ने अपने भाष्य में इन कथाओं के रूप तथा प्राचीन आधार को प्रदर्शित करने का प्रयत्न किया है। द्या द्विवेद का उद्योग इस विषय में अत्यन्त श्लाघनीय है। ये गुजरात के रहने वाले थे तथा १५ वीं शताब्दी में उत्पन्न हुए थे। इन्होंने समस्त वैदिक कहानियों का अध्ययन कर उनसे प्राप्त

---

२. वही, प्रकाशित नं० ११।

शिक्षाओं को प्रदर्शित करते हुए एक बहुत ही उपयोगी पुस्तक लिखी है। इस ग्रन्थ का नाम 'नीतिमञ्जरी' है। इन्होंने षड्गुरुशिष्य की वेदार्थदीपिका (११८७ ई०) से तथा सायण के वेदभाष्य (१४ शताब्दी) से अनेक उद्धरण अपने ग्रन्थ में लिये हैं। 'नीतिमंजरी' की एक हस्तलिखित प्रति से पता चलता है कि इसकी रचना १५५० वि० सं० (१४९४ ई०) में की गई थी। ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर वेद को कहानियों का मूल स्रोत मानना उचित होता है। वेद में आई हुई कहानियाँ पुराणों में आकर कुछ रूपान्तरित हो गई हैं। रामायण तथा महाभारत में इनके कई अंशों में परिवर्तन दीख पड़ता है, परन्तु कथानक का मूल एक ही है। बौद्ध साहित्य तथा जैन साहित्य में भी इन कहानियों के प्रतिनिधि विद्यमान हैं। कहानियों का यह रूपान्तर कहाँ, कब और किन कारणों से सम्पन्न हुआ? यह कथा-साहित्य के विद्यार्थियों के लिये गवेषणा का विषय है।

पञ्चतन्त्र में पांच तन्त्र हैं (तन्त्र का अर्थ है भाग)—मित्रभेद, मित्रलाभ, सन्धि विग्रह, लब्धप्रणाश तथा अपरीक्षित-कारक। प्रत्येक तन्त्र में मुख्य कथा एक ही है जिसके अंग को पुष्ट करने के लिये अनेक गौण कथायें कही गई हैं। ग्रन्थकार का उद्देश्य आरम्भ से ही सदाचार तथा नीति का शिक्षण रहा है। कहा जाता है कि दक्षिण के माहिलारोप्य नामक नगर में अमरकीर्ति नामक राजा निवास करते थे। उन्हें अपने मूर्ख पुत्रों को विद्वान् तथा नीति-सम्पन्न बनाने के लिए योग्य गुरु की आवश्यकता थी: उन्हें योग्य गुरु मिले विष्णुशर्मा। ये लोक तथा शास्त्र दोनों विषयों के पारंगत पण्डित थे और इसीलिए उन्होंने स्वल्प समय में राजकुमारों को व्यवहार-कुशल, सदाचार-सम्पन्न तथा नीति-पटु बना दिया। ग्रन्थकार की नीतमत्ता ग्रन्थ के प्रत्येक पृष्ठ पर झलकती है। संसार के भिन्न-भिन्न कार्यों के निरीक्षण की शक्ति ग्रन्थकार में खूब है। उनमें विनोदप्रियता भी कम नहीं है। पञ्चतन्त्र की भाषा मुहाविरेदार सीधी-सादी है। वाक्य-विन्यास में न तो कहीं दुरूहता है और न भावों के समझने में दुर्बोधता। कथानक का वर्णन गद्य में किया गया है, पर उपदेशात्मक सूक्तियाँ पद्य में निहित हैं और ये पद्य रामायण, महाभारत तथा अन्य प्राचीन नीतिग्रन्थों से संगृहीत हैं। ऊपर सप्रमाण दिखलाया गया है कि पञ्चतन्त्र का प्रभाव विश्वव्यापी है। सच्ची बात यह है कि पञ्चतन्त्र भारतीय साहित्य का अंग न होकर आज विश्व-साहित्य का एक महनीय अंग है।

तन्त्रोपाख्यान[1]

पञ्चतन्त्र का ही एक विशिष्ट पाठविवरण इस ग्रन्थ में उपलब्ध होता है। 'पञ्चतन्त्र' के विपरीत इसमें केवल तीन ही प्रकरण उपलब्ध होते हैं—(१) नन्दक-प्रकरण, (२) पक्षिप्रकरण, (३) मण्डूकप्रकरण। इसके आरम्भ में कथामुख का अभाव है। प्रत्येक प्रकरण के अन्तर्गत पञ्चतन्त्र की शैली के अनुसार ही मुख्य कथा तथा अवान्तर कथा का एक संवलनात्मक रूप उपलब्ध होता है। ग्रन्थ के आरम्भ में ही इसकी विशिष्टता का निर्देश किया गया है। अर्थ के जानने पर नीति का ज्ञान होता है और कथा सुनने में सुख मिलता है। फलतः ज्ञान तथा सुख—दोनों की उपलब्धि के लिए इस ग्रन्थ की रचना की गई है—

अर्थे भवेन्नयज्ञानमाख्यानश्रवणे सुखम्।
ज्ञानार्थं च सुखार्थं च तन्त्रोपाख्यानमुच्यते ॥

(आदि के २ पद्य)

पञ्चतन्त्र के आख्यान की भाषा के विपरीत इसकी भाषा समासबहुला बाण की शैली से मेल खाती है। कहीं-कहीं वर्णन बड़े ही विस्तृत तथा प्रभावोत्पादक हैं। कथायें पञ्चतन्त्र की ही हैं, परन्तु कहीं-कहीं अन्य कथायें भी समाविष्ट की गई हैं। वसुभाग का नाम उपदेशक के रूप में निर्दिष्ट होने से सम्भव है यह संस्करण वसुभाग की ही साहित्यिक प्रतिभा का निदर्शन हो। पद्यों में मूल कथा का उपदेश संपिण्डित है, जिनके औचित्य के प्रदर्शन में कहानी कही गई है। उदाहरण के लिए इन श्लोकों को देखें—

न नीचजनसंसर्गमिच्छेत् साधुः समाहितः।
अहं दुर्बुद्धिना बद्धः स्वबुद्ध्या परिमोचितः॥
अपरीक्ष्य न कर्तव्यं कर्तव्यं सुपरीक्षितम्।
पश्चाद् भवति सन्तापो ब्राह्मणी नकुले यथा॥

(पृ० ४९, ६३)

छोटा होने पर भी यह ग्रन्थ कथा-साहित्य के इतिहास में विशेष महत्त्व रखता है। इसकी विशिष्टता यह है कि इसके अनुवाद अथवा तदवारित कथा-ग्रन्थ जावा, थाई (स्यामी) तथा लाओस की भाषा में विद्यमान हैं। दोनों के तारतम्य-परीक्षा से पता चलता है कि इन भाषा वाले ग्रन्थ में चार प्रकरण हैं, जब कि

---

१. अनन्तशयनम् ग्रन्थावली में प्रकाशित (ग्रन्थाङ्क १३२, अनन्तशयन, १९३८)

'तन्त्रोपाख्यान' में केवल तीन ही, जिससे यह अधूरा ही प्रतीत होता है। जान पड़ता है कि अनन्तशयनम् वाले ग्रन्थ का पूरा नाम 'पञ्चतन्त्रोपाख्यान' था। 'उपाख्यान' का नामगत वैशिष्ट्य यह है कि यह पञ्चतन्त्र आख्यान को प्रधानता देता है, जब कि 'हितोपदेश' नीति को ही महत्त्व देता है। इन सब संस्करणों में ग्रन्थ का नाम 'तन्त्र' से सम्बन्ध रखता है। जावा में इसका नाम है 'तन्त्रि' थाई में 'तन्त्रै' तथा लाओस में 'तन्ते'। प्राचीन जावा की भाषा में इस ग्रन्थ का पूरा नाम है—तन्त्रि-कामन्दक, जहाँ कथामुख में उल्लिखित मन्त्री की कन्या का अभिधान 'द्याः तन्त्रि (=देवी तन्त्री) है। बहुत सम्भव है कि जावा में 'तन्त्र' शब्द का ठीक अर्थ नहीं समझा गया था और यह ग्रन्थ 'तन्त्रि' नामधारी मन्त्री कन्या का उपाख्यान समझा जाने लगा था। कमन्दक या कामन्दक नीतिशास्त्र के लिए एक सामान्य अभिमान माना जाता था। कामन्दक का नीतिसार इस विषय में इतना लोकप्रिय ग्रन्थ था कि इसी के नाम पर नीतिशास्त्र ने अपना नवीन अभिधान धारण कर लिया। जावा के इस कथाग्रन्थ का विशिष्ट विवरण डाक्टर हूइकास ने अपने निबन्ध ग्रन्थ में दिया है[1]। जावा में इसके विभिन्न नाम मिलते हैं—चण्ड-पिङ्गल, तन्त्रि, तन्ति-कामन्दक, तन्त्र-वाक्य तथा तन्त्रि-चरित। राजा ऐश्वर्यपाल के साथ मन्त्री की पुत्री 'द्याः तन्त्रि' की शादी का वर्णन कथामुख में दिया गया है। इसे छोड़कर मुख्य ग्रन्थ में ३१ कहानियाँ हैं, जिनमें २२ कहानियाँ पञ्चतन्त्र के किसी न किसी संस्करण के ही प्रतिरूप हैं। शेष नव कथायें भी संस्कृत में भी उपलब्ध होंगी ऐसी आशा है। इनमें से दो कथाओं का मूलरूप अमितगति की धर्म परीक्षा नामक काव्य पुस्तक में उपलब्ध होती हैं। ज्ञातव्य बात यह है कि जावा की कथाओं के समान ही ये कथायें लाओस की पञ्चतन्त्री कथाओं में भी प्राप्त होती हैं[2]।

तन्त्रोपाख्यान 'पञ्चतन्त्र' के समान ही मुख्य कथा के भीतर तत्सम्बद्ध अवान्तर कथाओं का एक रुचिर संग्रह ग्रन्थ है। इसमें प्रयुक्त संस्कृत भाषा बहुशः अलंकृत तथा गाढबन्धमयी है ऐसी संस्कृत, जिसे हम सुबन्धु तथा बाण के गद्य में

---

1. Dr C. Hooykaas : Tantri, de middel:avaansche Parcata-ntra-bewerking (Leiden, 1929)।
2. Venkatasubbiah : Two Tantri Stories, Indian Historical arterly Vol VII, no 3 (1931)।

पाने के अभ्यस्त हैं[1]। इस भाषावैषम्य के कारण तन्त्रोपाख्यान को पञ्चतन्त्र के किसी भी संस्करण पर हम आधारित नहीं मान सकते। तन्त्रोपाख्यान निःसंशय दक्षिण भारत की रचना है, परन्तु यह पञ्चतन्त्र के दक्षिण भारतीय संस्करण से कथमपि साम्य नहीं धारण करता।

जावा, लाओस तथा थाईलैण्ड में मिलने वाले ये कथा-ग्रन्थ पञ्चतन्त्र से विशेष साम्य रखते हैं। इनमें परस्पर साम्य होने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि इन्होंने आपस में एक दूसरे से उधार लिया है। ये सब किसी ऐसे ग्रन्थ के ऋणी हैं जिसका कथामुख इनमें उपलब्ध कथामुख के समान ही है। तन्तै (लाओस) में चार प्रकरण हैं—नन्दक-प्रकरण, मण्डूक-प्रकरण, पक्षिप्रकरण तथा पिशाच-प्रकरण। इसके विपरीत तन्त्रि (जावा) में केवल प्रथम प्रकरण ही उपलब्ध होता है।

संस्कृत 'तन्त्रोपाख्यान' का एक अनुवाद या संस्करण तमिका में भी उपलब्ध होता है[2]। इस संस्करण में कथामुख के अनन्तर नन्दक-प्रकरण पूरा तथा मण्डूक-प्रकरण का एक विस्तृत भाग उपलब्ध है। इन सब कथा-ग्रन्थों का कथामुख एक ही प्रकार से है। एक राजा विलक्षण स्वभाव का था। विद्वानों के कथन से उसे पता चला कि विवाह के समय करोड़ों ऋषि-मुनियों तथा देवताओं के दर्शन का पुण्य मिलता है, क्योंकि ये अलक्षित भाव से वहाँ उपस्थित रहते हैं। बस, क्या था ? उसने प्रति दिन एक नवीन कन्या से विवाह करने का आदेश अपने मन्त्री को दिया। मन्त्री ने कुछ दिनों तक तो सुयोग्य कन्याओं को ढूंढ निकाला और उनसे राजाकी शादी कराई, परन्तु बाद में कन्याओं के न मिलने पर वह विषण्ण हो गया। इस पर उसकी पुत्री ने, जिसका नाम 'तन्त्रु' था, अपने पिता से अपनी शादी के लिए हठ किया। मन्त्री ने उसकी शादी राजा से कर दी। वह प्रतिदिन नई-नई कहानी गढ़ कर राजा को सुनाने लगी। राजा को ये कहानियाँ पसन्द आईं। आकाशवाणी का आग्रह मानकर राजा ने उसे अपनी पटरानी बनाया और अच्छी तरह से

१. ब्रह्मविद्या (अड्यार, भाग २९, १९६५) में प्रकाशित दस कहानियों का मूल रूप द्रष्टव्य है।

२. तन्त्रिक कथा ग्रन्थ के अनुवाद के लिए द्रष्टव्य ब्रह्मविद्या (१९३५ पृ० ७४–१५१)।

राज्य किया। जावा की 'तन्त्री' के अनुसार प्रत्येक प्रकरण में ९० कहानियाँ थीं। इस प्रकार समग्र कहानियाँ ३६० ठहरती हैं। फलतः तन्त्री ने प्रतिरात्रि एक एक कहानी एक साल तक कहती रही। मंत्री को इस कन्या के नाम पर ही इन कथाओं का समान नामकरण है।

यही कथामुख इस कथा-ग्रन्थ का वैशिष्ट्य है, परन्तु यह सर्वत्र नहीं मिलता। 'तन्त्रोपाख्यान' में इसका अभाव है।

निष्कर्ष यह है कि संस्कृत में निबद्ध यह 'तन्त्रोपाख्यान' की ही कथायें पूर्णत. या अंशतः जावा, थाईलैण्ड तथा लाओस की भाषाओं में अनूदित या संगृहीत होकर आज भी उपलब्ध हैं, मूल पञ्चतन्त्र की कथायें नहीं। दोनों में कतिपय साम्य आख्यानों के रूप या शैली में भले ही मिले, परन्तु इतना तो निश्चित है कि 'तन्त्रोपाख्यान' ही इन पूर्वी देशों की पञ्चतन्त्री कथाओं का मूल प्रस्तुत करता है। यह स्वयं अधूरा ही है। लाओस भाषीय कथा चार भागों में विभक्त है। फलतः यही उसका पूर्ण रूप था। संस्कृत मूल आज भी पूरा नहीं मिलता है। पूरे ग्रन्थ के लिए इसकी खोज करनी चाहिए।

—×—

२. हितोपदेश

नीति-कथाओं में पञ्चतन्त्र के बाद हितोपदेश का ही नाम आता है। इसके रचयिता 'नारायण पण्डित' हैं जिनके आश्रयदाता बंगाल के राजा धवलचन्द्र थे। ग्रन्थ की रचना १४ वीं शताब्दी के आसपास की है। ग्रन्थकार ने स्वयं लिखा है कि उसका मूल आधार पञ्चतन्त्र ही है। हितोपदेश की आधी कथाएँ पञ्चतन्त्र से ही ली गई हैं। इसके चार परिच्छेद हैं.—मित्रलाभ, सुहृद्-भेद, विग्रह और सन्धि। इसकी भाषा सरल और सुबोध है। श्लोक नितान्त उपदेशात्मक हैं तथा कथायें शिक्षाप्रद हैं। पञ्चतन्त्र की अपेक्षा हितोपदेश लोकप्रिय रहा है। सर्वप्रथम संस्कृत अध्ययन करनेवाले छात्रों को हितोपदेश ही पढ़ाया जाता है। कथा के व्याज से नीति का कहना जितना रुचिकर होता है उतना उपदेश भी। इसीलिए हितोपदेश संस्कृत के अभ्यासी छात्रों के लिए संस्कृतविद्यामन्दिर का द्वारस्थानीय है। इसमें ६७९ नीति-विषयक पद्य हैं, जो महाभारत, धर्मशास्त्र, पुराण आदि ग्रन्थों से उद्धृत किये गये हैं।

३. बृहत्कथा

समुद्दीपितकन्दर्पा　　कृतगौरीप्रसाधना ।
हरलीलेव नो कस्य विस्मयाय बृहत्कथा ॥

(बाण)

संस्कृत में कथायें दो प्रकार की होती हैं—(१) उपदेशात्मक तथा (२) मनोरंजनात्मक । पहली प्रकार की कथायें पशु-पक्षी से सम्बन्ध रखती हैं और उनका प्रधान उद्देश्य उपदेश रहता है । दूसरी प्रकार की कथाओं का प्रधान लक्ष्य मनोरंजन रहता है और वे पशु-पक्षी के जीवन से सम्बद्ध न होकर जीते-जागते चलते-फिरते मनुष्य के जीवन से सम्बन्ध रखती हैं । मनोरंजक कथाओं का बृहत् संग्रह संस्कृत में विद्यमान है । इन कथाओं का प्राचीनतम संग्रह 'बृहत्-कथा' में निबद्ध था । इस कथा की रचना महाराजा हाल के सभाकवि गुणाढ्य ने की । इसके रचनाकाल के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है । कुछ लोग इसे पचम शतक की रचना मानते हैं, परन्तु अधिकांश विद्वानों की सम्मति में इसकी रचना विक्रम की प्रथम शताब्दी में हुई । मूल बृहत्-कथा पैशाची भाषा में लिखी गई थी । पैशाची भाषा प्राकृत भाषाओं में अन्यतम है जिसके रूप का परिचय तो हमें प्राकृत व्याकरणों से मिलता है, परन्तु उदाहरण का पता बृहत्कथा के नष्ट हो जाने से नहीं मिलता । आज-कल बृहत्-कथा के तीन संस्कृत अनुवाद उपलब्ध होते हैं—

(१) बुधस्वामी-कृत 'बृहत्कथा-श्लोक-संग्रह'—ये नेपाल के रहनेवाले थे और इनका समय ८ वीं या ९ वीं शताब्दी माना जाता है । प्राचीनतम अनुवाद यही है ।

(२) क्षेमेन्द्र-कृत 'बृहत्कथामञ्जरी'—ये कश्मीर के राजा अनन्त के आश्रित कवि थे । इनका समय ग्यारहवीं शताब्दी है । इसमें ७५०० श्लोक हैं । कविता ऊंचे दर्जे की है, पर मूल कथानक का कितना रक्षण हो पाया है, यह कहना कठिन है ।

(३) सोमदेव-कृत 'कथासरित्सागर'—ये कश्मीर के राजा अनन्त तथा क्षेमेन्द्र के समकालीन थे । यही सबसे प्रसिद्ध अनुवाद है जिसमें २४ हजार श्लोक हैं, अर्थात् मञ्जरी से लगभग तिगुना है ।

इन तीनों अनुवादों में मूल 'बृहत्कथा' का कितना अंश सुव्यवस्थित रूप से उपस्थित मिलता है, इसका यथार्थ निर्णय प्रमाणाभाव के कारण नितान्त दुरूह कार्य है। इनमें नेपाली 'बृहत्कथा' संक्षिप्त तथा केवल कथाओं के वर्णन में ही एकमात्र आसक्त दृष्टिगोचर होती है, उसमें काव्य-शैली का ग्रहण कर कथानक को बाह्य आख्यानों तथा अलंकृत वर्णनों से व्यर्थ लादने का प्रयास नहीं है। 'बृहत्कथा-मञ्जरी' में कलात्मक अंश का प्राचुर्य है। क्षेमेन्द्र ने कथाभाग को बहुत संक्षिप्त बना दिया है। यद्यपि उन्होंने नवीन पदार्थ तथा दृश्यों के वर्णन से उसे सुसज्जित तथा अलंकृत बनाने का अश्रान्त प्रयास किया है। सोमदेव का 'कथा-सरित्सागर' क्षेमेन्द्र के ग्रन्थ की अपेक्षा मात्रा में तिगुना है। सोमदेव की शैली बहुत ही सुन्दर, प्रवाहमयी तथा वस्तुप्रधान है। वे अपने छोटे-छोटे शब्दों को अलंकृत करने में दत्तचित्त नहीं हैं, प्रत्युत कथानक को सुन्दर ढंग से कहना ही उनका लक्ष्य प्रतीत होता है। इसमें उनके काव्य में बाह्य आडम्बर की अपेक्षा मूल वस्तु की रक्षा का ही विशेष उद्योग है।

बृहत्कथा से बढ़कर प्राचीन कथाओं का संग्रह दूसरा कोई नहीं है। वाल्मीकि और व्यास के अतिरिक्त गुणाढ्य भी भारतीय कवियों के उपजीव्य रहे हैं। कथानक की विचित्रता के साथ-साथ रस का परिपाक अच्छे ढंग से किया गया है। इसके नायक हैं महाराज उदयन के पुत्र नरवाहनदत्त। वे अपने मित्र गोमुख की सहायता से अपनी प्रियतमा 'मदनमंजूषा' के पाणिग्रहण करने तथा विद्याधरों का साम्राज्य प्राप्त करने में समर्थ होते हैं। अवान्तरकालीन कथा-साहित्य के ऊपर बृहत्कथा का प्रभाव विशेष रूप से पड़ा है। रामायण तथा महाभारत के समान यह भी संस्कृत-साहित्य का जाज्वल्यमान् हीरक है। महाकवि भास, हर्ष तथा भट्टनारायण अपने नाटकों के वस्तु ग्रहण के लिए बृहत्कथा के विशेष रूप से ऋणी हैं। बृहत्कथा की कीर्ति केवल भारत में ही सीमित नहीं है, अपितु बृहत्तर भारत में भी फैली हुई है।

दण्डी[1], सुबन्धु[2], और बाणभट्ट—सभी ने अपने ग्रन्थों में इसका आदर के साथ उल्लेख किया है। त्रिविक्रमभट्ट[3] ने 'नलचम्पू' में तथा सोमदेव ने अपने

---

१. "भूतभाषामयीं प्राहुरद्भुतार्थां बृहत्कथाम्"।
(काव्यादर्श १।३८)

२. "बृहत्कथालम्बैरिव सालभंजिकानिवहैः"।
(वासवदत्ता)

३. "धनुषेव गुणाढ्येन निःशेषो रंजितो जनः"।
(नलचम्पू)

'यशस्तिलकचम्पू' में इसकी प्रचुर प्रशंसा की है। गोवर्धनाचार्य[1] ने तो गुणाढ्य को महर्षि व्यास का नूतन अवतार बतलाया है। बाणभट्ट बृहत्कथा को भगवान् शंकर की लीला के समान विस्मयकारिणी बतलाते हैं।

— × —

४. वेतालपञ्चविंशति

'पञ्चतन्त्र' के साथ ही साथ पशु-पक्षियों की कहानियाँ सदा के लिए अस्तंगत हो गयीं तथा 'बृहत्कथा' का भी कोई साक्षात् वंशज उपलब्ध नहीं होता। केवल 'वेतालपञ्चविंशति' ही रोचक लोक-कथाओं का एक सुन्दर तथा सुव्यवस्थित संग्रह है। ये पचीस कहानियाँ मूल 'बृहत्कथा' में भी विद्यमान थीं—यह कहना उचित नहीं है; क्योंकि इनका अस्तित्व 'बृहत्कथामञ्जरी' तथा 'कथा-सरित्सागर' में तो अवश्य है, परन्तु बुधस्वामी के नैपाली विवरण में ये नहीं मिलतीं। इस वैषम्य के कारण यही कहा जा सकता है कि यह बृहत्कथा का अंश नहीं है, प्रत्युत यह एक स्वतन्त्र कथानक है जिसका सम्बन्ध लोक-कथाओं के साथ पूर्णतया स्थापित किया जा सकता है। इन कहानियों का ११वें शतक में प्रचलित सर्वप्राचीन रूप क्षेमेन्द्र तथा सोमदेव के ग्रन्थ में उपलब्ध होता है। दोनों ग्रन्थों में कथायें मुख्यतया एकाकार ही हैं, यद्यपि क्षेमेन्द्र का वर्णन कुछ छोटा तथा कतिपय अवान्तर घटनाओं से विरहित है (मंजरी ९।२)। सोमदेव का विवरण कुछ बड़ा तथा विशेष घटना-प्रधान है। मंजरी में १२२० श्लोक हैं तथा कथा-सरित्सागर में २१९५ श्लोक हैं। इन कथाओं के गद्यात्मक संस्करण भी अनेक हैं, जिनमें 'शिवदास'[2] की रचना का न तो काल विदित है, न स्थान ही। इस संस्करण में बीच-बीच में श्लोक भी दिये गये हैं। जम्भलदत्त की 'वेतालपञ्चविंशति' बिल्कुल गद्यात्मक ही है तथा नाम आदि के विषय में काश्मीरी विवरण के बिल्कुल समीप है, यद्यपि कथावस्तु में

---

१. अतिदीर्घजीविदोषाद् व्यासेन यशोऽपहारितं हन्त।
कैर्नोच्येत गुणाढ्यः स एव जन्मान्तरापन्नः॥
(आर्यासप्तशती)

२. जर्मन विद्वान् हाइनरिश ऊले द्वारा सम्पादित, लाइपजिग, १८८४।

३. डा० एमेनाउ द्वारा रोमन अक्षरों में अंग्रेजी अनुवाद के साथ प्रकाशित। अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी, १९३४।

अन्तर विद्यमान है। वर्तमान भारतीय भाषाओं में भी इस संस्कृत ग्रन्थ के अनुवाद समय-समय पर किये गये थे, तथा काफी लोकप्रिय हैं। इन समस्त विवरणों के तुलनात्मक अध्ययन करने से मूल कथा का परिचय मिल सकता है। डा० हर्टल की सम्मति है कि शिवदास ने १४८७ ई० से बहुत पहिले ही 'वेतालपंचविंशति' की रचना की थी, क्योंकि उसी समय इसका प्राचीनतम हस्तलेख उपलब्ध होता है।

वेतालपचीसी की कथायें बड़ी ही रोचक, बुद्धिवर्धक तथा कौतूहलोत्पादक हैं। कोई सिद्ध राजा त्रिविक्रमसेन या विक्रमसेन (जो पिछले युग में 'विक्रमादित्य' के रूप में परिवर्तित हो जाता है) के पास रत्नगर्भित फल लाकर देता था जिसकी सिद्धि में सहायतार्थ राजा एक वृक्ष पर लटकते हुए शव को लाना चाहता है, परन्तु वह शव पूर्व से ही किसी वेताल के आधिपत्य में है जो राजा के चुप रहने पर ही वह शव देना चाहता है, परन्तु वह इतनी विचित्र कथा सुनाता है कि राजा को मौन भङ्ग करना ही पड़ता है। कहानियाँ बड़ी ही आवर्जक तथा रोचक हैं। राजा का उत्तर भी बड़ा ही सुन्दर होता है। प्रश्न भी बड़े ही पेचीदे तथा विषम हैं। कौन सबसे अधिक रसज्ञ है? वह मनुष्य जो पके हुए भात को इसलिए नहीं छूता कि वह धान श्मशान के पास के खेत में उगा था अथवा वह व्यक्ति जो मोटे गुलगुले गद्दों पर बीच में एक बाल के आ जाने से रात भर जागता ही रह जाता है अथवा वह मनुष्य जो स्त्री को इसलिए नहीं छू सकता कि बचपन में बकरी के दूध पर उसका पालन-पोषण हुआ था और इसलिए उसके शरीर से बकरी की गन्ध आती थी? ऐसे ही पेचीदे प्रश्न इस ग्रन्थ में भरे हुए हैं जिनका समुचित उत्तर विक्रम की चातुरी का परिचायक है। शिवदत्त का ग्रन्थ साहित्यिक दृष्टि से सुन्दर, रोचक तथा आकर्षक है।

—×—

५. विक्रम-चरित

साहित्य-दृष्टि से यह ग्रन्थ उतना सुन्दर तथा आवर्जक नहीं है। इसका प्रसिद्ध नाम है—'सिंहासन-द्वात्रिंशिका'[1] (सिंहासन बत्तीसी)। राजा भोज जमीन में गड़े हुए विक्रमादित्य के सिंहासन को उखाड़ता है तथा ज्यों ही वह

१. इड्गर्टन द्वारा रोमन अक्षरों में अंग्रेजी अनुवाद के साथ दो भागों में सम्पादित। हारवर्ड ओरियण्टल सीरीज, १९२६।

उसके ऊपर बैठने का उद्योग करता कि उसमें जड़ी हुई बत्तिसों पुतलियाँ विक्रम का पराक्रम सुनाकर राजा को अयोग्य सिद्ध करती हैं तथा उसे बैठने से रोकती हैं। इसकी दो वाचनिका मिलती है, जो परस्पर में भिन्नता रखती है—उत्तरी तथा दक्षिणी। उत्तरी वाचनिका में तीन विवरण मिलते हैं—जैन क्षेमकर मुनि रचित, इसी पर आश्रित बङ्गाली विवरण तथा तीसरा एक छोटा विवरण। दक्षिण भारत में वह विक्रम-चरित के नाम से ही विशेष प्रख्यात है, जिसके दो रूप हैं—पद्यबद्ध और गद्यबद्ध। दोनों वाचनिकाओं में कौन मूलसङ्गत तथा प्राचीन है? यह निर्णय करना बिल्कुल कठिन है। डा० हर्टेल की दृष्टि में जैन विवरण ही मूल के बिल्कुल समीप है, परन्तु डा० इड्गर्टन के विचार में दक्षिणी वाचनिका ही मौलिक तथा प्राचीनतर है। दोनों विवरणों में हेमाद्रि के 'दान-खण्ड' का स्पष्ट निर्देश है। फलतः यह ग्रन्थ १३वीं शती से प्राचीनतर नहीं हो सकता।

—×—

६. शुकसप्तति

शुकसप्तति भी कहानियों का बड़ा ही रोचक संग्रह है जिसे एक सुग्गा अपने मालिक के परदेश चले जाने पर अन्य पुरुषों के प्रति आकृष्ट होने वाली अपनी स्वामिनी को सुनाकर रोकता है। ऐसे ग्रन्थ की दो वाचनिका का पता चलता है—एक तो विस्तृत और दूसरी संक्षिप्त[१]। विस्तृत वाचनिका के लेखक कोई चिन्तामणि भट्ट हैं, जिन्होंने पूर्णभद्र के पञ्चतन्त्र का उपयोग इस ग्रन्थ में किया है। फलतः इ.का समय १२वीं शती से पूर्ववर्ती होना चाहिए। संक्षिप्त विवरण किसी जैन लेखक की रचना है। कहानियाँ बड़ी ही मनोरञ्जक तथा आकर्षक हैं।

जैन लेखक कथा-कहानियों के लिखने में विशेष पटु थे। लोक में प्रचलित धूर्त, विट, मूर्ख तथा स्त्रियों की कहानियों के लिखने में उनकी प्रतिभा विशेष दीखती है। इनसे भिन्न लेखकों की भी रचनायें उपलब्ध होती हैं। 'भरटक-द्वात्रिंशिका' में प्रचलित लोकभाषा के भी स्थान-स्थान पर पद्य मिलते हैं।

---

१. डा० स्मिथ ने दोनों विवरणों को जर्मन अनुवादों के साथ लाइपजिग से प्रकाशित किया है। संक्षिप्त का सं० १८९३ में, विस्तृत का सं० १८९८-९९ में लाइपजिग से।

'कथा-रत्नाकर' जैन हैमविजयगणि की रचना २५६ छोटी-छोटी कथाओं का संग्रह है, जिसका निर्माण १७ वीं शती में किया गया। जैन कथाओं में साहित्यिक सौन्दर्य की विशेष सत्ता नहीं रहती है, क्योंकि लेखक की दृष्टि जैन धर्म के विवरण देने तथा नैतिकता के प्रचार की ओर विशेष रहती है। मैथिलकोकिल विद्यापति (१५ शतक) की 'पुरुष-परीक्षा' में शोभन गुणों के वर्णन होने से मनोरंजक और आकर्षक है।

संस्कृत में बौद्ध कथाओं को सन्निविष्ट करनेवाले 'अवदान-साहित्य' की पृथक् सत्ता है। 'अवदान' (पालि उदान) का अर्थ है—महनीय कार्य की कहानी। यह ठीक जातकों के ढंग पर संस्कृत में विरचित नीतिप्रधान साहित्य है। जिस प्रकार पालि-जातक भगवान् बुद्ध के प्राचीन जन्म के शोभन गुणों का वर्णन करते हैं, उसी प्रकार 'अवदान' भी करता है। ऐसे ग्रन्थों में 'अवदान-शतक'[1] प्राचीनतम संग्रह है। इसमें उन शोभन गुणों का वर्णन तथा तत्सम्बद्ध कहानियाँ हैं जिसमें बुद्धत्व की प्राप्ति का संकेत है। किन्हीं कहानियों में पापाचरण करनेवाले व्यक्तियों की यातनाओं का वर्णन है। इसके समय का अनुमान लगाया जा सकता है। 'दीनार' शब्द (रोमन 'दिनेरिअस') का प्रयोग इसका रचनाकाल प्रथम शतक बतलाता है, जब इन सिक्कों का प्रचलन भारत में हो रहा था। इसका चीनी भाषा में अनुवाद तृतीय शतक में हुआ। अतः 'अवदान-शतक' की रचना द्वितीय शती में मानी जा सकती है। इसमें नीति का प्रतिपादन इतना अधिक है कि साहित्यिक सौन्दर्य एक प्रकार से ढँक सा जाता है।

साहित्यिक दृष्टि से 'दिव्यावदान' भी विशेष रोचक तथा आकर्षक नहीं है। यह हीनयान सम्प्रदाय का मुख्यतः अनुयायी ग्रन्थ है और महायान के कुमारलात की 'कल्पना-मण्डितिका' का बहुत ही विस्तार से उपयोग करता है। फलतः प्रथम शती से यह प्राचीन नहीं हो सकता। पूरा ग्रन्थ गद्य में है, परन्तु स्थान-स्थान पर गाथायें भी दी गई हैं, जो छन्दोबद्ध ही नहीं, प्रत्युत आलंकारिक भी हैं। भाषा साधारणतया विशुद्ध संस्कृत है, परन्तु स्थान-स्थान पर पालि के सम्पर्क से नितान्त मिश्रित तथा भ्रष्ट भाषा का भी प्रयोग मिलता है। आधुनिक भाषाशास्त्री इस ग्रन्थ की भाषा को संस्कृत से ही निष्पन्न भाषा की एक

---

१. डा० कावेल तथा नील द्वारा सम्पादित, कैम्ब्रिज, १८८६।

अलग धारा मानते हैं। अशोक से सम्बन्ध रखनेवाली कथायें ऐतिहासिक तथा मनोरञ्जक हैं, परन्तु उनके कहने का ढंग बिलकुल बेतुका, अस्त व्यस्त तथा विशृङ्खल है।

श्रीमाल (या भीनमाल) में अथवा उसके आसपास के निवासी सिद्धर्षि को संस्कृत में एक विलक्षण कथा लिखने का श्रेय देना उचित है। इस ग्रन्थ का नाम है —'उपमितिभवप्रपञ्च-कथा', जो इसके सम्पादक डा० याकोबी की दृष्टि में भारतीय साहित्य में पूर्ण तथा विशुद्ध रूपात्मक आख्यान है। सिद्धर्षि जैन थे और इस ग्रन्थ की समाप्ति उन्होंने ९०५ ईस्वी में की थी। इस ग्रन्थ की भाषा बोलचाल की संस्कृत है—सरल, सुबोध संस्कृत, जिसके समझने में सर्वसाधारण को विशेष क्लेश का अनुभव नहीं होता। उस समय दोनों भाषाओं—संस्कृत तथा प्राकृत— का ग्रन्थ के माध्यम के निमित्त प्रचलन था, परन्तु प्राकृत रचना में दक्ष होने पर भी संस्कृत में सिद्धर्षि की यह रचना उस युग में—१० वीं शती में—संस्कृत के प्रति सर्वसाधारण के विशेष आकर्षण की ओर संकेत करती है।

सिद्धर्षि का कथन इसका स्पष्ट प्रमाण है[1]—इसके अन्तिम पद्य में संस्कृत में प्रचलित गद्य-लेखन की गूढ आलोचना है, जिसमें अर्थ नितान्त गूढ रखा जाता था, दीर्घ-वाक्यों का प्रयोग होता था तथा अप्रसिद्ध शब्दों का ही प्रयोग न्यायसंगत माना जाता था। इसलिए यहाँ व्यावहारिक सुबोध संस्कृत में कथा का प्रणयन ग्रन्थकार ने किया है।

सिद्धर्षि ने प्राकृत में निबद्ध 'चन्द्रकेवलिचरित' का संस्कृत में अनुवाद किया (९१८ ईस्वी) तथा किसी प्राकृत ग्रन्थ की 'लघुवृत्ति' नामक संस्कृत में

---

१. संस्कृता प्राकृता चेति भाषे प्राधान्यमर्हतः।
तत्रापि संस्कृता तावद् दुर्विदग्धहृदि स्थिता ॥ ५१ ॥
बालानामपि सद्बोधकारिणी कर्णपेशला।
तथापि प्राकृता भाषा न तेषामपि भासते ॥ ५२ ॥
उपाये सति कर्तव्यं सर्वेषां चित्तरञ्जनम्।
अतस्तदनुरोधेन संस्कृतेयं करिष्यते ॥ ५३ ॥
न चेयमतिगूढार्था न दीर्घैर्वाक्यदण्डकैः।
न चाप्रसिद्धपर्यायैस्तेन सर्वजनोचिता ॥ ५४ ॥

व्याख्या भी लिखी, जिसकी पुष्पिका में ये महाचार्य यथा प्रौढ दार्शनिक बतलाये गये हैं। (कृतिरियं जिन-जैमिनी-कणभुक्सौगतादिदर्शनवेदिनः सकलग्रन्थार्थ-निपुणस्य श्रीसिद्धर्षेर्महाचार्यस्येति)। 'उपमितिभवप्रपञ्च-कथा'[1] का महत्त्व संस्कृत-साहित्य के इतिहास में विशेष व्याख्यातव्य है।

—x—

भारती कथाओं का देश भ्रमण

भारतीय जन्तुकथाएँ पश्चिमी देशों में इतनी लोकप्रिय हो गयीं कि वहाँ के निवासियों को इस बात का आभास तक नहीं हुआ कि ये कथाएँ किसी बाहरी देश से यहाँ आई हैं। पश्चिमी देश में यूनान अपनी जन्तुकथाओं के लिए प्रसिद्ध है। इन कथाओं का उद्देश्य लोकरंजन ही नहीं है, प्रत्युत लोक-शिक्षण भी है। मनोरंजन के साथ उपदेश के पुट देने से इन कहानियों की लोकप्रियता अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई। इसॉप की कहानियाँ (इसॉप्स फेबुल्स) यूनानी कहानियों की शैली का चरम निर्दशन प्रस्तुत करती हैं। विद्वानों के सामने यह मननीय समस्या है कि इन यूनानी कहानियों का उद्गम कहाँ से हुआ? कुछ लोग तो भारतीय तथा यूनानी कहानी की समता को आकस्मिक मानते हैं, परन्तु इस विषय में प्रमाणभूत जर्मन विद्वान् डा० हर्टल का अभिमत है कि ये कहानियाँ मूलतः भारतीय हैं और भारत से ही भ्रमण करती हुई ये पश्चिमी जगत में आई हैं। इसे वे भारतीय कथाओं की भ्रमण यात्रा के नाम से सम्बोधित करते हैं। उनका मत है कि पंचतंत्र भारतीय मनीषियों के द्वारा उद्भावित कथाओं का पूर्ण तथा विशद् विश्वकोष है। पंचतंत्र भी बृहत्कथा तथा बौद्ध जातकों की सामग्री अपने में संजोये हुए हैं, परन्तु है वह पूर्णतः ब्राह्मण-परम्परा का अनुयायी ग्रन्थ है। पंचतन्त्र की कथाओं का प्रभाव पश्चिमी देशों में किस प्रकार पड़ा, इसका संक्षिप्त परिचय इस परिच्छेद के आरम्भ में ही दिया गया है। हार्टल का मत ही आजकल अधिकतर विद्वानों को मान्य है।

पश्चिमी साहित्य के प्रेमी पाठकों को यह अविदित न होगा कि योरप के मध्यकालीन लोककथाओं का प्रभाव योरोपीय काव्य एवं नाटक के संवर्धन में

१. सं० डा० याकोबी द्वारा बिब्लिओथिका इंडिका, कलकत्ता तथा गुजराती अनुवाद एम० जी० कापडिया द्वारा।

कितना अधिक पड़ा। इन ग्रन्थों में "गेस्टा रोमनारुम" तथा "डेकामेरों" अपने रोचक वर्णन, चमत्कारी चित्रण तथा समाज के दिग्दर्शन के कारण सर्वाधिक लोकप्रिय हैं। इनमें रोचक कथाओं का हृदयग्राही संग्रह है। ध्यान देने की बात यह है कि इन कथाओं में से अधिकांश कथाएँ भारतीय कथाओं का ही प्रातिनिध्य करती हैं। किस प्रकार भारत की ये कथाएँ इन मध्ययुगीय ग्रन्थों के भीतर प्रविष्ट हुईं तथा अपने प्रभाव से इन्होंने पश्चिमी साहित्यों को प्रभावित किया, और वहाँ के जनमानस के ऊपर ये छा गईं—इन तथ्यों के विवेचन के लिए यहाँ स्थान नहीं है। परन्तु यह नितान्त सत्य है कि ये कथाएँ ही फारस तथा अरब के साहित्यों में प्रविष्ट होकर धीरे-धीरे पश्चिमी साहित्य में घर कर गईं।

पश्चिमी साहित्य में प्रवेश कर इन कहानियों में परिवर्तन भी स्थान-स्थान पर दृष्टिगोचर होता है। एक दो उदाहरण इस परिवर्तन की प्रक्रिया दिखलाने के लिए पर्याप्त होंगे। सत्रहवीं शताब्दी में फ्रेंच साहित्य कहानियों के निर्माण में अद्भुत प्रतिभा का परिचय देता है। प्रख्यात साहित्यिक ला फौंतेन (La fontaine) ने कहानियों के लिखने में अद्भुत चमत्कार तथा मानव मस्तिष्क की गहरी छान-बीन का नमूना पेश किया। १६६८ ई० से १६९४ ई० के बीच उसने बारह खण्डों में ऐसी काल्पनिक कथायें लिखी हैं, जिसकी समता कोई आधुनिक साहित्य नहीं कर सकता। इन कहानियों में पंचतंत्र की कथायें ऐसी मिलजुल गई हैं कि दोनों का मिश्रण देखते ही बनता है। पंचतंत्र की दरिद्र ब्राह्मण की वह कथा प्रख्यात है जो अपने सत्तू से भरे घड़े को, जिसपर वह अपने ऐश्वर्य का हवाई महल खड़ा कर रहा था, पैर के आघात से स्वयं फोड़ डालता है। यही कहानी ला फौंतेन की रचना में दूध की मटकी ले जाने वाली गोपी की कथा बन जाती है, जो दूध बेचने से प्राप्त धन से ऐश्वर्य प्राप्ति की कल्पना करते-करते हर्ष में उछलती है और अपने ही मटकी को फोड़ देती है। पंचतंत्र के लालची शृगाल की कथा यहाँ भेड़िया की कथा बन जाती है। शृगाल धनुष की डोरीको काटते ही उसकी चोट से मर जाता है। भेड़िया धनुष को जैसे ही छूता है उससे छूटे बाण से उसकी मृत्यु हो जाती है। इन परिवर्तनों की भीनी चादर के भीतर से पंचतंत्र की भारतीय कथा अपने सुभग रूप को आलोचकों के सामने प्रकट करनेसे

पराङ्मुख नहीं होती। बरलाम और जोज़फ की कथा का निर्देश आरम्भ में ही किया गया है जहाँ भारतीय बुद्ध (जोज़फ, बोधिसत्व) ईसाई सन्तों की श्रेणीमें परिगणित किये गये हैं !!!

इस प्रकार भारत की कथाओं ने पश्चिम के नाना देशों में नाना रूपों में भ्रमण कर अपना प्रभाव तथा परिचय आज भी बना रखा है। सप्तम शती से लेकर १२ शती के फारसी-अरबी साहित्य में तथा १४ शती से १७शती के यूरोपीय साहित्य में इन भारतीय कथाओं का प्रभाव प्रभूतमात्रा में उपलब्ध होता है—इस सिद्धान्त के मानने में विशेषज्ञों का बहुमत भिन्न नहीं है।

सप्तम परिच्छेद

नाटक-साहित्य

नाटक संस्कृत साहित्य का एक गौरवपूर्ण अंग है। इसे सामान्यतः दृश्य काव्य तथा रूपक के नाम से पुकारते हैं। 'दृश्य काव्य' से तात्पर्य उस काव्य से है जो नेत्रों के माध्यम से हमारे हृदय में प्रवेश करता है तथा रंगमंच के ऊपर अभिनीत किये जाने पर ही वह आनन्द प्रदान करता है। 'रूपक' नाम-करण का अभिप्राय यह है कि अभिनय में अभिनेता का तादात्म्य अभिनय के मूल पात्र के साथ स्थापित किया जाता है। रूपकालङ्कार में जिस प्रकार उपमेय तथा उपमान का ऐक्य स्थापित किया जाता है, उसी प्रकार 'रूपक' में नट का दुष्यन्त के साथ और नटी का शकुन्तला के साथ ऐक्य स्थापित किया जाता है। इस ऐक्य स्थापना के अनन्तर ही नट का व्यापार दुष्यन्त का व्यापार मान कर द्रष्टा के हृदय में आनन्दोद्वोध होता है। 'नाट्य' से तात्पर्य है कि नाटक अवस्था का अनुकरण होता है। दुष्यन्त की अवस्था का—कण्व के आश्रय में दुष्यन्त का प्रवेश, शकुन्तला से मिलन, प्रेमालाप आदि समस्त अवस्थाओं का अनुकरण जब नट करता है तब उसे 'नाटक' कहते हैं—'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्'।

'काव्येषु नाटकं रम्यम्' काव्य में नाटक रमणीक होता है, अर्थात् श्रव्य काव्य की अपेक्षा दृश्य काव्य का दर्जा इसी रमणीयता के कारण श्रेष्ठ होता है। इस मूल सूत्र को समझने के लिये दोनों के तारतम्य को समझना नितान्त

आवश्यक है। यह तो हमारा दैनन्दिन का अनुभव है कि किसी वस्तु को सुनने की अपेक्षा उसे देखने में अत्यधिक आनन्द आता है, क्योंकि श्रवण की अपेक्षा दर्शन का महत्त्व अधिक होता ही है। दोनों की तुलना इस विषय में जरूरी है, काव्य में रसानुभूति के लिये अर्थ का समझना नितान्त आवश्यक होता है, परन्तु नाटक में इसकी आवश्यकता नहीं होती। इसीलिए नाटक की समता चित्र से की गई है[1]। जिस प्रकार चित्र भिन्न-भिन्न रङ्गों के सम्मिश्रण[1] से सहृदय दर्शकों के चित्त रस में का स्रोत बहाता है, ठीक उसी प्रकार नाटक भी वेशभूषा, नेपथ्य-रचना आदि उचित संविधानों से दर्शकों के हृदय पर एक अमिट प्रभाव डालता है तथा उनके हृदय में आनन्द का उदय कराता है। संस्कृत के प्रसिद्ध आलंकारिक वामन न इसीलिये काव्यों में रूपक को विशेष महत्त्व प्रदान किया है। रूपक की श्रेष्ठता का एक और भी कारण है। काव्य की विशद रसानुभूति के लिए जिस कवित्वमय वातावरण की आवश्यकता होती है उसकी सृष्टि सभी नहीं कर सकते। वह तो कल्पना से प्रसुत होती है। इसीलिए काव्य का रसास्वाद सहृदयों को ही हुआ करता है। परन्तु अभिनय में तो रसोपभोग की सकल सामग्री संविधानकों के द्वारा उपस्थित की जाती है। रसानुभूति के लिए वातावरण स्वयं उपस्थिति हो जाता है, उसकी कल्पना करने की आवश्यकता नहीं रहती। यही कारण है कि साधारण व्यक्तियों के लिए भी काव्य की अपेक्षा नाटक का आकर्षण विशेष प्रभावशाली होता है। इसीसे नाटक कवित्व की चरम सीमा माना जाता है—'नाटकान्तं कवित्वम्'।

नाटक का उद्देश्य अत्यन्त महत्त्वशाली है। भरत ने नाट्य को 'सार्ववर्णिक' वेद कहा है, क्योंकि अन्य वेद केवल द्विजमात्र के लिए उपयोगी तथा उपादेय होते हैं, परन्तु नाट्य का उपयोग प्रत्येक वर्ण के लिए है। प्रत्येक व्यक्ति इस आनन्द का अधिकारी माना गया है। नाटक का प्रभाव किसी एक प्रकार की अभिरुचिवाले लोगों के ऊपर नहीं होता, प्रत्युत वह सार्वजनिक मनोरञ्जन के लिये होने के कारण समाज के प्रत्येक व्यक्ति के लिए ग्राह्य तथा उपादेय होता है। नाटक का विषय भी सीमित नहीं होता, प्रत्युत तीनों

---

१. "सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः। तद्धि चित्रं चित्रपटवद् विशेषसाकल्यात्"—
(वामन—काव्यालंकारसूत्र १।३।३०, ३१)

लोक में भावों का अनुकीर्तन इसमें रहता है[1]। यह शक्ति-हीनों के हृदय में शक्ति का संचार कराता है; शूरवीरों के हृदय में उत्साह बढ़ाता है; अज्ञानियों को ज्ञान प्रदान करता है और विद्वानों की विद्वत्ता का उत्कर्ष करता है। नाटक है लोकवृत्त का अनुकरण[2]। विशाल विश्व के पट पर सुख-दुःख की जो प्रवृत्तियाँ अपना खेल दिखाया करती हैं तथा मानव जीवन को सुखमय या दुःखमय बनाती हैं उन सब का चित्रण नाटक का अपना विशिष्ट उद्देश्य है। इसीलिए भरतमुनि का कहना है कि कोई भी ऐसा ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला, योग अथवा कर्म नहीं है जो इस नाट्य से नहीं दिखलाई पड़ता हो[3]। इसीलिए कालिदास ने भिन्न रुचिवाले लोगों के लिए नाटक को एक सामान्य मनोरञ्जन का साधन बतलाया है[4]।

दृश्यकाव्य के लिए 'रूपक' शब्द का व्यवहार करना उचित है। रूपक दश प्रकार का होता है, जिसका महत्त्वपूर्ण प्रकार नाटक माना जाता है। नाटक के अतिरिक्त रूपक के भेद ये हैं—(१) प्रकरण, (२) भाण, (३) प्रहसन, (४) डिम, (५) व्यायोग, (६) समवकार, (७) वीथि, (८) अङ्क, (९) ईहामृग। इनके सिवाय १८ प्रकार के उपरूपकों का भी नाम तथा लक्षण नाट्यशास्त्र के ग्रन्थों में मिलते हैं। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि संस्कृत का रूपक साहित्य बड़ा ही विशाल, व्यापक तथा नानारूपात्मक है। परन्तु दुःख है कि इन सब प्रकारों के उदाहरण-स्वरूप ग्रन्थ आजकल उपलब्ध नहीं हैं।

नाटक की प्राचीनता

संस्कृत साहित्य में नाटकों की उत्पत्ति बहुत प्राचीन काल में हो चुकी थी। वैदिक युग में भी नाट्य के अस्तित्व का परिचय हमें भली-भाँति चलता है।

---

१. त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्।

२. नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम्।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम्॥
(नाट्यशास्त्र १।१०९)

३. न तद् ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
न स योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते॥
(नाट्यशास्त्र १।११४)

४. नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्।
(कालिदास)

ऋग्वेद के सूक्तों से ज्ञात होता है कि सोम-विक्रय के समय एक प्रकार का अभिनय हुआ करता था जिसका उद्देश्य दर्शकों का मनोरञ्जन था। 'महाव्रतस्तोम' के अवसर पर कुमारियाँ अग्नि की परिक्रमा करती हुई नाचती तथा गाती थीं। यजुर्वेद में 'नट' शब्द तो नहीं, परन्तु 'शैलूष' शब्द उपलब्ध होता है। ऋग्वेद में अनेक सूक्त विद्यमान हैं जिनमें भिन्न-भिन्न व्यक्तियों का आपस में कथनोपकथन है। इन्हीं सूक्तों को 'संवाद सूक्त' कहते हैं। इसमें नाटकीय अंश अवश्य विद्यमान है। सामवेद तो संगीत का आकर ही ठहरा। सामों का गायन भिन्न-भिन्न स्वरों में इतनी मधुरता के साथ किया जाता था कि श्रोताओं का हृदय आनन्द से आप्यायित हो जाता था। इससे स्पष्ट है कि नाट्य के विकास के लिए नृत्य, गीत, वाद्य आदि जिन आवश्यक उपादानों की आवश्यकता होती है उनकी सत्ता प्रचुर-मात्रा में वैदिक युग में थी।

रामायण और महाभारत के युग में इस कोमल कला की ओर भारतीयों का ध्यान था, इस विषय में तनिक भी सन्देह नहीं है। रामायण में 'शैलूष' 'नट' तथा 'नर्तक' का उल्लेख अनेक प्रसंगों में किया गया है। वाल्मीकि का कहना है कि जिस जनपद में राजा नहीं रहता उसमें कहीं 'नट' और 'नर्तक' प्रसन्न दिखाई नहीं देते[1]। रामायण में 'नर्तन' के साथ-साथ नाटक के प्रदर्शन का भी वर्णन विद्यमान है। महाभारत में भी नट, नर्तक, गायक, सूत्रधार, आदि का निर्देश मिलता है[2]। हरिवंश में जो महाभारत का ही एक अंग है रामचरित के नाटक के रूप में दिखलाये जाने का उल्लेख मिलता है। इससे स्पष्ट है कि इस युग में नाटक जनसाधारण की श्रद्धा और सम्मान का भाजन था। पाणिनि ने अष्टाध्यायी में 'शिलालि' तथा 'कृशाश्व' के द्वारा रचित नटसूत्रों का उल्लेख किया है[3]। इससे सिद्ध है कि नाटकों का उस समय इतना प्रचार था कि नटों की शिक्षा के लिए स्वतन्त्र सूत्र ग्रन्थों की रचना होने लगी थी। पतञ्जलि के महाभाष्य में इस विषय की बड़ी ही उपादेय बातें संगृहीत हैं। 'कंसं घातयति'[4] (कंस को मारता है), 'बलिं बन्धयति' (बलि को

---

१. नाराजके जनपदे प्रहृष्टनटनर्तकाः—(वा० रा० २।६७।१५)।
२. आनर्ताश्च तथा सर्वे नटनर्तकगायकाः
(वनपर्व १५।१३)
३. पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः—(४।३।११०)।
४. कर्मन्दकृशाश्वादिनिः—(४।३।१११)।

बाँधता है) में प्रयुक्त वर्तमानकालिक क्रिया का समाधान करते हुए भाष्यकार ने उन नटों ('शोभनिक' या 'सौभिक') का उल्लेख किया है, जो प्रत्यक्ष रूप से सबके सामने कंस को मारते हैं तथा बलि को बाँधते हैं। यहाँ पतञ्जलि ने अपने समय में प्रचलित 'कंसवध' तथा 'बलिबन्ध' नामक नाटकों का उल्लेख किया है। इतना ही नहीं, इनके अभिनय की ओर भी संकेत किया है। उनका कहना है कि कंसवध नाटक में कंस के भक्त लोग तो काला मुख बनाकर अभिनय करते थे और कृष्ण के अनुयायी अपना मुँह लाल रंग से रँगकर अभिनय करते थे। पतञ्जलि का यह कथन इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि विक्रम से पूर्व द्वितीय शतक में नाटकों का अभिनय जनता के मनोरञ्जन का एक अति उत्तम तथा सर्वप्रिय साधन था। कामसूत्र में वात्स्यायन (द्वितीय शतक) ने भी 'नागरक' के मनोरञ्जन का वर्णन करते समय पक्ष या मास के किसी प्रसिद्ध दिन सरस्वती के मन्दिर में समाज (उत्सव) के होने तथा उस समय बाहर से आये हुए नटों (कुशीलवों) के द्वारा अभिनीत नाटकों के प्रदर्शन का उल्लेख किया है[1]। इन सब उल्लेखों से प्रमाणित होता है कि वैदिक काल से लेकर विक्रम के समय तक नाटकों का प्रचलन इस देश में था। नटों को शिक्षा के लिए भी ग्रन्थ रचे गये थे। विक्रम के समय में हमारे आद्य नाटककार कालिदास का प्रादुर्भाव हुआ और तभी से नाटकों की रचना एवं उनके प्रदर्शन की प्रथा अविच्छिन्न रूप से इस भारतवर्ष में चली आ रही है। नाट्यकला भारत की निजी सम्पत्ति है, किसी बाहरी देश से उधार लिया हुआ धन नहीं है।

नाटक की उत्पत्ति

भारत में नाटक की उत्पत्ति कैसे हुई ? किन उपादानों को ग्रहण कर भारतीय नाट्यकला का उदय हुआ ? ये प्रश्न अत्यन्त जटिल हैं। विद्वानों ने इस विषय की मीमांसा बड़ी छानबीन के साथ की है, पर उनमें से किसी का मत अभ्रान्त या विश्वसनीय नहीं माना जा सकता। इसका कारण स्पष्ट है। नाटक समाज के लिये दर्पण के समान होता है। समाज एक प्रकार से टिकने वाली वस्तु नहीं है। समाज में नयी विचार-धाराओं का प्रवाह ज्यों-ज्यों जैसे-जैसे आता है, नये भावों की ज्यों-ज्यों जागृति होती है, नाटक के रूप में

---

१. "पक्षस्य मासस्य वा प्रज्ञातेऽहनि सरस्वत्याः भवने नियुक्तानां नित्यं समाजः। कुशीलवाश्चागन्तवः प्रेक्षणकमेषां दद्युः"—(कामसूत्र)।

भी वैसा ही परिवर्तन होता रहता है। आजकल भारतीय समाज की जो रूपरेखा है उसके आधार पर जिस प्रकार प्राचीन समाज का स्वरूप निश्चय करना कठिन है उसी प्रकार नाटक की वर्तमान स्थिति का अध्ययन कर उसके मूल कारणों को खोज निकालना नितान्त दुःसाध्य है। पश्चिमी विद्वानों ने इस विषय को खोज निकालने का पर्याप्त उद्योग किया है। उन्होंने पाश्चात्य नाटक की उत्पत्ति के विषय में प्रचलित भिन्न-भिन्न मतों को भारतीय नाटक के उत्पत्ति के विषय में भी लागू करने का यत्न किया है, परन्तु हमारी मान्य परम्परा के विरुद्ध होने के कारण ये मत सर्वथा ग्राह्य नहीं किये जा सकते। अतः इन विद्वानों के मतों का संक्षेप में उल्लेख कर देना ही यहाँ पर्याप्त होगा।

डा० रिजवे का मत

डाक्टर रिजवे नाटक की उत्पत्ति वीरपूजा से सम्बद्ध मानते हैं। नाटक प्रणयन की प्रवृत्ति तथा रुचि मरे हुए वीर पुरुषों के प्रति आदर दिखलाने की इच्छा से जाग्रत हुई। जिस प्रकार ग्रीक देश में नाटक (ट्रेजिडी) का जन्म मृत पुरुषों के प्रति किये गये सम्मान की प्रक्रिया से हुआ उसी प्रकार भारतवर्ष में भी नाटक वीरपूजा से ही उत्पन्न हुए। राम-लीला तथा कृष्ण-लीला इस प्रवृत्ति तथा सिद्धान्त को पुष्ट करने वाले आधुनिक उज्ज्वल दृष्टान्त हैं।[1]

डा० कीथ का मत

यह मत योरोपियन विद्वानों को भी ग्राह्य नहीं है, क्योंकि आजकल के प्रचलित नाटकीय उत्सवों के आधार पर नाटक का मूल खोज निकालना साहस का काम है। इसीलिये डाक्टर कीथ ने नाटक की उत्पत्ति के विषय में एक नवीन मत की कल्पना की है। उनके मत में प्राकृतिक परिवर्तनों को जन-साधारण के सामने मूर्त रूप से दिखलाने की अभिलाषा से ही नाटकों का जन्म हुआ है। महाभाष्य में निर्दिष्ट 'कंसवध' नामक नाटक के अभिनय से इस मत को कुछ पुष्टि प्राप्त होती है। भाष्य में लिखा हुआ है कि कंस तथा उनके अनुयायी लोग काले मुख रखते थे तथा कृष्ण और उनके अनुयायी इस नाटक के अभिनय में रक्त मुख धारण करते थे। डाक्टर कीथ का कहना है कि

---

१. Gr. Ridgeway—Drama and Dramatic Dances of non-Europeon Races.

२. Theory of Vegitation Spirit. Keith—Sanskrit Drama pp. 45-48.

इस नाटक का वसन्त ऋतु का हेमन्त ऋतु पर विजय दिखलाना ही मुख्य उद्देश्य है। कृष्ण का विजय उद्भिज जगत् के भीतर चेष्टा दिखलाने वाली जीवनी शक्ति का प्रतीक मात्र है। इस विचित्र सिद्धान्त के विषय में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि इसके उद्भावक को भी इस मत में विश्वास नहीं है। भारतीय ग्रन्थों में तो इसके प्रति संकेत भी नहीं है।

डा० पिशेल का मत

जर्मन विद्वान् डाक्टर पिशेल नाटक की उत्पत्ति पुत्तलिका-नृत्य[१] से बतलाते हैं। इस नृत्य की उत्पत्ति भारतवर्ष में ही हुई और उनके मत से इस नृत्य का प्रचार अन्य देशों में भारत से ही हुआ। 'सूत्रधार' तथा 'स्थापक' आदि शब्दों का मूल अर्थ इस मत का पोषण अवश्य करता है। 'सूत्रधार' का मूल अर्थ है डोरे को पकड़ने वाला और 'स्थापक' का अर्थ है किसी वस्तु को लाकर रखने वाला। इन दोनों शब्दों का सम्बन्ध पुत्तलिका-नृत्य से है। डोरी पकड़कर पुतलियों को नचाने वाला व्यक्ति 'सूत्रधार' कहलाता था। भारतीय नाट्य के प्रबन्धक को सूत्रधार कहने का तात्पर्य यही हो सकता है कि भारतीय नाटक की उत्पत्ति पुत्तलिका-नृत्य से हुई। इस मत में एक ही तथ्य है और वह यह है कि पुत्तलिका-नृत्य सबसे पहले भारतवर्ष में ही उत्पन्न हुआ और यहीं से वह अन्य देशों में भी प्रचारित हुआ। परन्तु इस सामान्य नृत्य से रसभाव संवलित नाटक की उत्पत्ति मानना नितान्त निराधार तथा प्रमाण रहित है।

डा० कोनो का मत

कुछ विद्वानों की सम्मति में नाटक की उत्पत्ति छाया नाटकों से हुई[२]। इस मत को पुष्ट करने के लिये छाया नाटक के प्राचीन उल्लेख खोज निकाले गये हैं। डाक्टर पिशेल ही इसके उद्भावक हैं तथा इस मत के समर्थकों में डाक्टर लूडर्स तथा डाक्टर कोनो हैं। यह मत समीचीन नहीं प्रतीत होता, क्योंकि भारतवर्ष में छाया नाटक की प्राचीनता सिद्ध नहीं की जा सकती।

---

१. Dr. Pischel's Theory of Puppet Show.

२. Shadow Play. Dr. Sten Konow—Das Indische Drama pp. 45-46

'दूतांगद' नामक छाया-नाटक संस्कृत में अवश्य प्रसिद्ध है, परन्तु वह न तो इतना प्राचीन ही है और न इतना महत्त्वपूर्ण ही है। छाया नाटक जैसे सीधे-सादे उपकरण से भारतीय नाट्यकला का उदय मानना भ्रामक ही है।

मे-पोल का सिद्धान्त

कुछ विद्वानों ने नाटक की उत्पत्ति 'मे पोल नृत्य'[१] से निश्चित किया है। पश्चिमी देशों में मई का महीना बड़ा ही आनन्द तथा उत्सव का होता है। उस महीने में एक स्थान पर एक लम्बा बाँस गाड़ दिया जाता है। उसके नीचे स्त्री तथा पुरुष साथ-साथ नृत्य किया करते हैं और इस तरह से आनन्दपूर्वक दिन बिताते हैं। यह लोक-नृत्य का एक नमूना है। पाश्चात्य विद्वान् नाटक की उत्पत्ति इसी मे-पोल से मानते हैं। भारतवर्ष में होने वाला 'इन्द्रध्वज' उत्सव ठीक उसी प्रकार का समझा गया है। अन्य विद्वानों ने इस मत को ध्यान देने के योग्य भी नहीं समझा है। 'इन्द्रध्वज' उत्सव नैपाल आदि देशों में अभी तक प्रचलित है। उसका समय, उसके अन्तर्गत भाव तथा उसकी प्रचलित रूढि सब इस मत के विरुद्ध हैं।

नाट्य का उत्पत्ति : संवाद सूक्त

अनेक भारतीय तथा पश्चिमी विद्वान् नाटक की उत्पत्ति वेदमूलक मानते हैं। ऋग्वेद में ऐसे अनेक सूक्त हैं जिनमें एक से अधिक वक्ता हैं। उन सूक्तों को 'संवाद सूक्त' कहते हैं, क्योंकि अनेक व्यक्तियों का इसमें परस्पर कथनोपकथन दृष्टिगोचर होता है। ऐसे संवाद सूक्तों में 'पुरुरवा' तथा 'उर्वशी' का संवाद कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' नाटक का आधार है, इस विषय में सन्देह करने के लिए अवकाश नहीं है। विद्वानों का कहना है कि इन्हीं संवाद सूक्तों में नाट्य के बीज अन्तर्निहित है। कालान्तर में इन्हीं बीजों के अंकुरित होने से नाट्य का विकास सम्पन्न हुआ। इन संवाद सूक्तों के स्वरूप तथा उनसे नाट्य के विकसित होने के विषय में विद्वानों की विभिन्न धारणाएँ हैं :—

नाना मत

(क) जर्मन विद्वान् डाक्टर श्रोदर[२] का मत है कि ये संवाद सूक्त गायन तथा नर्तन के साथ वस्तुतः अभिनीत किये जाते थे। ये स्वयं धार्मिक नाटक[३] है,

---

१. May-Pole Theory.
२. Dr. Schroeder.
३. Ritual drama.

जिनका अभिनय यज्ञ के विशिष्ट अवसरों पर नृत्य, गीत तथा वाद्य के उपकरणों के साथ याज्ञिकों के द्वारा किया जाता था। आजकल बङ्गाल में जिन धार्मिक 'यात्राओं' का प्रचलन है वे इन्हीं नाटकों के विकसित वर्तमान रूप हैं।

(ख) डाक्टर हर्टल[1] का मत है कि ये संवाद सूक्त वस्तुतः गाये जाते थे और गाने के लिये एक से अधिक व्यक्ति रखे जाते थे, क्योंकि संवाद का प्रदर्शन एक व्यक्ति के द्वारा कथमपि नहीं हो सकता। उनके कथनानुसार इन्हीं सूक्तों में नाटक के बीज हैं।

(ग) डाक्टर कीथ इस मत में आस्था नहीं रखते। उनका कहना है कि ये संवाद सूक्त ऋग्वेद में उपलब्ध होते हैं जिनका केवल 'शंसन' मात्र होता था, गायन का प्रयोग तो केवल सामवेद में होता है। इसीलिये सामगायन करने वाले ऋत्विक को 'उद्गाता' कहते हैं और ऋग्वेद के मन्त्रों के उच्चारण करने वाले ऋत्विक् को 'होता' कहते हैं। ये संवाद सूक्त अनेक प्रकार के हैं, कहीं तत्त्वों का विचार है तो कहीं किसी ऐतिहासिक घटना का उल्लेख है। मूलतः इनका विषय व्यावहारिक है और नाटकों के बीज इन सूक्तों में माने जा सकते हैं।

(घ) जर्मनी के कुछ मान्य विद्वान्–जिनमें डाक्टर विण्डिश[2] ओल्डेनबर्ग[3] और पिशेल मुख्य हैं—इन संवाद सूक्तों के स्वरूप का वर्णन कुछ नये ढंग से ही करते हैं। उनकी सम्मति में ये संवाद सूक्त गद्यपद्यात्मक थे। पद्य भाग अधिक रोचक तथा मंजुल होने से अवशिष्ट रह गया है, परन्तु गद्य भाग केवल वर्णनात्मक होने से धीरे-धीरे लुप्त हो गया। इसे वे लोग 'आख्यान' के नाम से पुकारते हैं। नाटक में जो गद्य और पद्य का सम्मिश्रण है वह पिशेल की राय में इन्हीं संवाद सूक्तों के अनुकरण पर है। डाक्टर ओल्डेनबर्ग ऐतरेयब्राह्मण के 'शुनः शेप' उपाख्यान तथा शतपथ ब्राह्मण में आये हुए 'पुरुरवा उर्वशी' की कथा इन्हीं आख्यानों का अवशिष्ट रूप मानते हैं।

---

१. Dr. Hertel.
२. Dr. Windisch.
३. Dr, Oldenberg.

नाट्य की उत्पत्ति : भरत का मत

नाटकोत्पत्ति के विषय में भारतवर्ष में कुछ कथाएँ परम्परा से चली आई हैं। इनमें सबसे प्राचीन वह प्रतीत होता है जो भारतीय नाट्य शास्त्र के प्रथम अध्याय में मिलती है। यहाँ उसी का सारांश दिया जाता है। सांसारिक मनुष्यों को अत्यन्त खिन्न देखकर इन्द्रादि देवताओं ने ब्रह्मा के पास जाकर ऐसे वेद के निर्माण करने की प्रार्थना की जिससे वेद के अनधिकारी स्त्री, शूद्रादि सभी लोगों का मनोरंजन हो। यह सुनकर ब्रह्मा ने चारों वेदों का ध्यान कर ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गान, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस लेकर नाट्यवेद नामक पंचमवेद की रचना की[1] और इन्द्र से कुशल तथा प्रगल्भ देवताओं में इसका प्रचार करने को कहा। इन्द्र ने कहा कि देवता लोग नाट्य कर्म में कुशल नहीं हैं। वेदों के मर्म जानने वाले मुनिजन इसका ग्रहण और प्रयोग करने में समर्थ हैं। अतः ब्रह्मा के कथनानुसार भरतमुनि ने अपने पुत्रों को इसकी शिक्षा दी। यह प्रयोग भारती, सात्वती और आरभटी वृत्ति में शुरू हुआ। बाद में कैशिकी वृत्ति भी जोड़ी गई, जिसका प्रदर्शन स्त्री-पात्र के बिना नहीं हो सकता था। अतः उन्होंने अप्सराओं की कल्पना की। भरतमुनि इन सब वस्तुओं से सुसज्जित होकर ब्रह्मा जी के पास गए और आगे का प्रयोग पूछा। ब्रह्मा जी के कथनानुसार इन्द्र के 'ध्वजोत्सव' में इस नाट्यवेद का सर्वप्रथम प्रयोग किया गया। इस प्रयोग को देखकर देवता लोग अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने पात्रों को अनेक वस्तुएँ पारितोषिक रूप में दीं। प्रयोग का विषय था इन्द्र-विजय। इस प्रयोग में देवों का उत्कर्ष और दैत्यों का अपकर्ष देखकर दैत्य अत्यन्त क्रुद्ध हुए और विघ्न करने लगे। इन्द्र ने इन विघ्नों को उत्पात जानकर अपनी ध्वजा से सब विघ्नों को जर्जर कर दिया। बाद में इसी कारण उस ध्वजा का नाम 'जर्जर' पड़ गया[2]। इन विघ्नों से बचे रहने के लिए इन्द्र ने विश्वकर्मा को नाट्यगृह

---

१. जग्राह पाठ्यम् ऋग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि।
(नाट्यशास्त्र, अध्याय १, श्लोक १७)

२. नाट्यविध्वंसिनः सर्वे येन ते जर्जरीकृताः।
तस्माद् जर्जर इत्येव नामतोऽयं भविष्यति॥
(नाट्यशास्त्र, अ० १, श्लो० ७४)

बनाने की आज्ञा दी। इसके बन जाने पर स्वयं ब्रह्मा ने देवताओं की स्थापना की जिससे पात्रों तथा नाटक के प्रयोग की रक्षा हो। दैत्यों को सम्बोधित कर ब्रह्मा ने कहा कि यह नाट्यवेद देव और दैत्य दोनों के लिये है। इसमें धर्म, क्रीडा, हास्य और युद्ध सभी विषय हैं। ऐसा कोई ज्ञान, शिल्प विद्या, कला, योग और कर्म नहीं है जो इस नाट्य में न हो[1]। नाट्य तो त्रैलोक्य के भावों का कीर्तन है। ऐसी कौन वस्तु है जिसका प्रदर्शन और प्रयोग इसमें नहीं किया जाता। जिस प्रकार दैत्यों के पराजय का वर्णन है उसी प्रकार अन्य प्रयोगों में देवताओं का पराजय भी दिखलाया जा सकता है। इतना समझाने पर किसी प्रकार दैत्य लोग शान्त हुए और नाटक निर्विघ्न होने लगा। पहला अभिनीत नाटक 'त्रिपुर-दाह' नामक डिम तथा 'समुद्रमन्थन' नामक समवकार था।

इस वर्णन से स्पष्ट है कि भारतीय विद्वान् नाट्य को वेद से आविर्भूत मानते हैं। सुखमय सत्ययुग में इसकी कल्पना थी ही नहीं। इसकी उत्पत्ति तो त्रेता में हुई, जब दुःखों का आविर्भाव जगतीतल पर हुआ। भारतवर्ष में आरम्भ से ही नाट्य के प्रयोग में स्वाभाविकता रही है। पुरुषों की भूमिका पुरुष ग्रहण करते थे और स्त्रियों की भूमिका स्त्रियाँ ग्रहण करती थीं। पुरुषों द्वारा स्त्रीभूमिका का ग्रहण करना नितान्त अनुचित है। इस अस्वाभाविक प्रथा का निराकरण पाश्चात्य जगत् ने गत शताब्दी में ही किया है। नाटक की व्यापकता तथा प्रभावशालिता सर्वत्र स्वीकृत है। भरत के वर्णन से स्पष्ट है कि नाट्य की उत्पत्ति धर्म से सम्बद्ध है। नाटक के विकास में वैष्णव धर्म का विशेष हाथ है। पतञ्जलि ने जिन नाट्यप्रयोगों का (कंसवध तथा बलिबन्धन का) उल्लेख किया है वे विष्णुचरित से सम्बद्ध हैं। नाटक में शौरसेनी की प्रधानता भी यही सूचित करती है कि नाटक के विकास में शूरसेन देश (मथुरा) तथा कृष्णभक्ति का विशेष प्रभाव था।

भारतीय नाटक पर ग्रीक प्रभाव

नाटक भारतीयों की प्रतिभा का विकास है अथवा इसे विकसित होने में ग्रीक देश की नाट्यकला भी कारणभूत है? इन प्रश्नों ने विद्वानों का

---

१. न तद् ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
न स योगो न तद् कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते॥
(नाट्यशास्त्र, अ० १, श्लो० ११३)

ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट किया है। जर्मन विद्वान् डाक्टर वेबर ने प्रथमतः संस्कृत नाटकों पर ग्रीक प्रभाव पड़ने की बात उठाई। इसका उत्तर डा० पिशेल ने इतना सयुक्तिक दिया कि कुछ दिनों तक इसकी चर्चा दब गई। पुनः डा० विण्डिश ने इस प्रश्न की विस्तृत मीमांसा कर ग्रीक प्रभाव के स्वरूप को नई खोजों के आधार पर स्पष्ट करने का प्रयत्न किया। डा० वेबर का कहना है कि नाटक के उपादान प्राचीन संस्कृत साहित्य में इतने अल्प हैं कि उनके आधार पर नाटक जैसी कमनीय कला का उदय नहीं हो सकता। सिकन्दर नाटकों का बड़ा प्रेमी था। उसके दरबार में नाटकों का खूब अभिनय होता था। बैक्ट्रिया तथा पंजाब के ग्रीक राजाओं के दरबार में नाटकों का खूब प्रचार था। इसी का प्रभाव संस्कृत नाटकों पर पड़ा। भारतीय प्रतिभा नवीन प्रभावों को आत्मसात् करने में नितान्त प्रवीण थी। अतः नाटक का विकास स्वतः अपनी प्रतिभा के बल पर नहीं हुआ, प्रत्युत ग्रीक नाटकों के अभिनय देखकर भारतीयों को इस दिशा में प्रेरणा तथा स्फूर्ति मिली। परन्तु यह सिद्धान्त नितान्त उपेक्षणीय है। जिन आधारो पर यह विशाल किला खड़ा किया गया है वह बिल्कुल लचर तथा एकदम दुर्बल है।

डा० विण्डिश का कहना है कि न्यू एटिक कामेडी[1] भारतीय नाटकों पर ग्रीक प्रभाव पड़ने का मूल स्रोत है। इस प्रकार के सुखान्त नाटकों में समाज का विस्तृत चित्रण रहता है। ईसा के प्रथम तथा द्वितीय शताब्दी में रोम तथा भारत से बड़ा व्यापारिक सम्बन्ध था। बेरिगाजा (आधुनिक भड़ौंच) इस रोमन व्यापार का प्रधान बन्दरगाह था। उज्जैनी में लिखित 'मृच्छकटिक' के ऊपर ग्रीक नाटकों का प्रकृष्ट प्रभाव पड़ा है। परन्तु इस न्यु कामेडी तथा संस्कृत नाटक का सम्पर्क और सादृश्य वस्तुतः बहुत ही कम है। रोमन नाटकों के समान संस्कृत नाटक अंकों में विभक्त हैं, जिनके अन्त में प्रत्येक पात्र का निर्गमन अनिवार्य होता है, परन्तु यह विभाजन स्वतन्त्र रूप से सिद्ध हो सकता है। मृच्छकटिक को तृतीय शतक को रचना मानकर उसे कालिदास से प्राचीन मानना कथमपि न्याय्य नहीं है। मृच्छकटिक न तो इतना पुराना है और न उसके कथानक तथा पात्र-विश्लेषण में कोई नवीनता

---

१. New Attic Comedy (340-260. B. C.)

ही है। भासका 'दरिद्र-चारुदत्त' मृच्छकटिक का आधार है। इसका वस्तु अन्य नाटकों से कथमपि भिन्न नहीं है। ऐसी दशा में ग्रीक प्रभाव की कल्पना केवल इसी प्रमाण के आधार पर करना अनुचित है।

संस्कृत नाटकों में यवनी स्त्रियों का उल्लेख मिलता है। अभिज्ञान शाकुन्तल के द्वितीय अंक में वनमाला धारण करने वाली धनुर्धारिणी यवनियाँ राजा दुष्यन्त की परिचारिका के रूप में चित्रित की गई हैं[1]। परन्तु इस उल्लेखमात्र से अभीष्टसिद्धि नहीं हो सकती। रोमन भौगोलिकों ने स्पष्ट लिखा है कि रोम तथा भारत में गहरा व्यापार होता था जिसमें शराब, गानेवाले लड़के तथा सुन्दर दासियाँ रोम से भेजी जाती थीं। इन श्वेताङ्गी रोमन ललनाओं ने भारतीय राजा लोगों की दृष्टि अपनी ओर आकृष्ट किया था। वे उन्हें दासी बनाकर अपने महलों में रखते थे। इसी सामाजिक घटना के आधार पर संस्कृत नाटकों का यह वर्णन है। इससे ग्रीक नाटकों के प्रभाव पड़ने का समर्थन कथमपि नहीं होता।

'यवनिका' शब्द को इस प्रसङ्ग में बड़ा महत्त्व प्रदान किया गया है। उस बड़ी इमारत के खड़ा होने के लिए इसे मजबूत नींव समझा जाता है जिसे पाश्चात्य पण्डितों ने ग्रीक प्रभाव को पुष्ट करने के लिए खड़ा किया है। इस शब्द की विशेष छानबीन करने पर हम जिस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं वह निम्नलिखित है :—

(१ नाट्य ग्रन्थों में 'यवनिका' शब्द का अप्रयोग।

किसी भी नाट्यग्रन्थ में यवनिका (परदा) शब्द का प्रयोग नहीं मिलता, न किसी प्राचीन नाटक में ही इसका दर्शन होता है। कालिदास, श्रीहर्ष, भवभूति आदि के नाटकों में 'यवनिका' शब्द का अभाव है। केवल १० वीं शताब्दी के आरम्भ में राजशेखर ने 'कर्पूरमंजरी' में 'जवनिकान्तर' का प्रयोग किया है, जिसका संस्कृत रूप 'यवनिकान्तर' भ्रम से मान लिया गया है।

(२) मूल शब्द 'जवनिका' है, 'यवनिका' नहीं।

'जवनिका' मूल तथा प्राचीन शब्द है। अमरसिंह ने इसका प्रयोग खेमा (दूष्य—पटवस्त्र) को चारों ओर से ढाँकने वाले कपड़े के लिये किया है

---

१. एसो बाणासनहत्थाहि जवनीहि वनपुष्फमालाधारिणीहि परिवुदो इदो एव्व आअच्छदि पिअवअस्सो।

जिसे आज कल 'कनात' कहते हैं— 'प्रतिसीरा जवनिका स्यात् तिरस्करणी च सा" (अमर० २।६।१२०)। इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—वह परदा जिसमें लोग दौड़कर चले जाँय। 'जवन्तेऽस्याम्'—क्षीर स्वामी। "जवन्त्यस्याम् जुः सौत्रो गतौ वेगे च। ल्युट् स्वार्थे कन्"—रामाश्रमी। शब्दकल्पद्रुम की व्याख्या है—"जवनं वेगेन प्रतिरोधनमस्ति अस्याः। जवन ठन् टाप् च।" 'जु' धातु से ल्युट् करने से यह निष्पन्न हुआ है। इसके तीन अर्थ होते हैं—एक तो कनात, दूसरा नाव पर तानने के लिये पाल तथा तीसरा परदा, सामान्य रूप से। इस तीसरे अर्थ में इसका प्रयोग संस्कृत साहित्य में बहुशः किया गया है—

मायाजवनिकाच्छन्नमज्ञाधोक्षजमव्ययम्।
न लक्ष्यसे मूढदृशा नटो नाट्यधरो यथा॥
(भागवत १।८।१९)

समीरशिशिरः शिरःसु वसतां
सतां जवनिका निकामसुखिनाम्॥
(शिशुपालवध ४।५४)

नरः संसारान्ते विशति यमधानीजवनिकाम्।
(भर्तृहरि)

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि संस्कृत कोषों में परदा के अर्थ में 'जवनिका' शब्द ही मिलता है। कहीं कहीं 'जवनिका' के स्थान पर 'यवनिका' शब्द भी पाठान्तर रूप से मिलता है। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि 'जवनिका' शब्द ही मूल शब्द है। गलती से उसे यवनिका का रूप दे दिया गया है। सबसे विशेष बात ध्यान देने की यह है कि जवनिका शब्द नाट्य-शास्त्र का पारिभाषिक शब्द है ही नहीं। यह तो बोलचाल में परदा के अर्थ में व्यवहृत होनेवाला सर्वसाधारण शब्द है।

(३) ग्रीक नाटकों में 'जवनिका' का अभाव।

ग्रीक नाटक में स्वयं परदे की चाल नहीं थी। वहाँ दर्शकों की संख्या इतनी अधिक होती थी की उनकी सुगमता के लिये रंगमञ्च बड़ा ऊँचा बनाया जाता था। उस पर किसी प्रकार का परदा नहीं होता था। इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि ग्रीक नाटकों का प्रभाव भारतीय नाटकों पर बिल्कुल नहीं पड़ा है। 'यवनिका' शब्द के आधार पर की गई यह कल्पना नितान्त भ्रामक तथा निराधार है।

जब ग्रीक नाटकों में परदा था ही नहीं तब भारतीयों ने परदा लिया कहाँ से ? 'जवनिका' की यह समीक्षा 'मूलेकुठाराघात' की लोकोक्ति चरितार्थ कर रही है।

संस्कृत नाटकों की विशिष्टता

संस्कृत नाटक ग्रीक नाटक से इतने मौलिक अंशों में भिन्न हैं कि बाहरी प्रभाव उनके ऊपर कथमपि माना नहीं जा सकता।

(१) ग्रीक नाटकों के भेद हैं—सुखान्त नाटक (कामेडी) तथा दुःखान्त नाटक (ट्रेजिडी)। परन्तु भारतीय नाटक में इस वर्गीकरण का सर्वथा अभाव है। संस्कृत साहित्य में सामान्यतः दुखान्त नाटक हैं ही नहीं।

(२) संस्कृत नाटकों का परिमाण दूसरे साहित्य के नाटकों से बहुत ही अधिक है। अकेला 'मृच्छकटिक' ग्रीक नाट्यकार एसकिलस के तीन नाटकों के बराबर है।

(३) संस्कृत नाटकों की अपनी विशेषता है संस्कृत तथा प्राकृत भाषाओं का मिश्रण। संकृत नाटक लोक के व्यवहार को दृष्टि में रखकर निर्मित हुआ है। उस युग में सामान्य जनता के बीच में प्राकृत ही बोल-चाल की भाषा थी, परन्तु संस्कृत समझने की योग्यता प्रायः सबमें पायी जाती थी। नायक तथा उच्चवर्गीय पात्र संस्कृत का ही प्रयोग करते थे, परन्तु स्त्रियाँ तथा निम्नवर्गीय पुरुष पात्र बोलने में प्राकृत का ही प्रयोग करते थे। इस प्रकार यह आवश्यक भाषा-मिश्रण भी हमारे नाटकों का वैशिष्ट्य है।

(४) संस्कृत नाटकों के विभागों को 'अंक' कहते हैं। अंक की समाप्ति होने पर सब पात्रों का रंगमंच से चला जाना आवश्यक होता है। फ्रेंच नाटकों में भी यही प्रथा है। नाटक का अङ्कों में विभाजन एक नई वस्तु है, जो ग्रीक नाटकों में उपलब्ध नहीं होती। पाश्चात्त्य रूपकों में अङ्कों का विभाग रोमन लोगों ने आविष्कृत किया, परन्तु कोई भी विद्वान् कालक्रम में पर्याप्त भिन्नता होने के कारण रोमन नाटकों का प्रभाव संस्कृत नाटकों पर नहीं मानता।

(५) विदूषक की कल्पना भी एक निराली वस्तु है। उसके जोड़ का पात्र ग्रीक नाटकों में नहीं है। वह नायक का मित्र होता है, दास नहीं। उसका कार्य केवल हास्यरस का उत्पादन ही नहीं है, प्रत्युत नायक को अनेक कार्यों में सहायता प्रदान करना भी है। मध्यकालीन युरोपीय नाटकों में 'फूल' (मूर्ख) नामक एक पात्र अवश्यमेव प्रयुक्त होता था, परन्तु वह निरा हास्य का उपादान

होता था। इसके विपरीत हमारा 'विदूषक' बड़े ही काम का पात्र है। वह मित्र होने के नाते नायक के प्रणय-कार्यों में ही सहायता नहीं पहुँचाता, प्रत्युत वह उसे अनेक विपत्तियों तथा विषम परिस्थितियों से भी बचाता है। भारतवर्ष के राजाओं में बहुविवाह की प्रथा प्रचलित थी। ऐसी दशा में रा। अनेक रानियों के साथ व्यवहार की अनुकूलता में यदि कहीं चूकता था तो वह विदूषक से ही सहायता लेता था। फलतः हास्यरस का उत्पादक होने पर भी विदूषक हमारे नाटकों के लिए एक बहुत ही उपयोगी पात्र है।

(६) संस्कृत नाटकों का आख्यान नितान्त मौलिक तथा पूर्णतया भारतीय है। वह रामायण, महाभारत, पुराण तथा बृहत्कथा आदि के ऊपर आश्रित रहता है। उसमें किसी प्रकार की विदेशी कथाओं का मिश्रण नहीं दीख पड़ता। इतना होने पर भी नाटकों की कथाओं में मौलिकता के लिए भी पर्याप्त अवकाश है—नवीनता की काफी गुञ्जाइश है। प्रकरण तथा प्रहसन आदि रूपकों की कथा कवि के द्वारा गढ़ी हुई रहती है। वह आँख मूँदकर प्राचीन कथाओं को ही नहीं लिखता, प्रत्युत अपनी परिस्थितियों की ओर भी दृष्टिपात करता है तथा अपने कथानक के लिए उन्हीं से सामग्री लेता है।

(७) अन्वितित्रय का अभाव—यूनानी नाटकों में तीन प्रकार की अन्वितियाँ (यूनिटीज) पायी जाती है। (क) स्थानान्विति—समग्र घटनायें एक ही स्थान पर घटित होती हैं। (ख) कालान्विति—समग्र घटनाएँ एक ही काल में (एक ही दिन के भीतर) घटित हो जाती हैं। (ग) कार्यान्विति—समग्र घटनाओं का एक ही उद्देश्य तथा प्रयोजन होता है जिसका सम्पादन और निर्वाह विभिन्न घटनाओं के द्वारा सम्पन्न होता है। अरस्तू का यह अन्विति-त्रय (थ्री यूनिटीज) का सिद्धान्त यूरोपीय नाटककारों में सर्वथा मान्य था, विशेषतः फ्रेंच नाटककारों को। वहाँ भी इसका विरोध हुआ, विशेषतः अंग्रेजी तथा स्पेनिश नाटककारों द्वारा, परन्तु भारत में कार्यान्विति को छोड़कर, जो नाटक में सर्वत्र उपादेय है, अन्य अन्वितियों का निर्वाह कथमपि नहीं होता। घटनाओं के लिए स्थानों का वैभिन्य है तथा काल का भी। उत्तररामचरित के प्रथम तथा द्वितीय अङ्कों के मध्य में बारह वर्ष का लम्बा काल व्यवधान-रूप से विद्यमान है। कार्यान्विति तो नितान्त आवश्यक होती है और इसीलिए उसका पूर्ण निर्वाह संस्कृत नाटकों में है। निर्वहण-सन्धि में नाटक के भिन्न-भिन्न अङ्कों में प्रयुक्त घटनाओं का एक कार्य का सम्पादन विशेष आवश्यक होता है।

(८) कोरस का अभाव—यूनानी नाटकों में 'कोरस' का बड़ा ही विशिष्ट स्थान होता है। 'कोरस' का अर्थ एक साथ गाने तथा नाचनेवाले पात्रों की टोली है। यह माना जाता है कि कोरस के नृत्य और गान से यूनान में ट्रैजिडी का जन्म हुआ, परन्तु धीरे-धीरे संगीत का महत्त्व घटता गया और नाट्य-अभिनय का महत्त्व बढ़ता गया। अरस्तू के समय तक पहुँचते-पहुँचते संगीत की प्रमुखता नष्ट हो चुकी थी, किन्तु तब भी कोरस का अपना विशेष प्रयोजन था। कोरस घटनाओं और क्रियाओं की व्याख्या तथा आलोचना किया करता था। साथ ही साथ नृत्य और गान के द्वारा मनोरंजन का साधन भी प्रस्तुत करता था। इस प्रकार कोरस का प्रयोजन दो प्रकार का था। सामान्यत: वह रंगमंच के ऊपर नृत्य और गान प्रस्तुत करता था जिससे दर्शकों का मनोरंजन तथा आकर्षण स्थायी बना रहता था। विशेषत: वह रंगमंच के ऊपर प्रदर्शित की गई घटनाओं की समीक्षा भी करता था जिससे दर्शकों को उन घटनाओं के नाटकीय मूल्य तथा महत्त्व का पूर्ण परिचय मिलता था। शेक्सपीयर ने भी अपने ऐतिहासिक नाटकों में, विशेषत: 'हेनरी पंचम' में कोरस की अवतारणा दी है। यद्यपि वे यूनानी नाटकों के प्रभाव से अपने को पृथक् रखते हैं, तथापि 'कोरस' को वह महत्त्वपूर्ण मानकर उसका अवतारण करते हैं आदर्श दर्शक के रूप में। इस प्रकार कोरस एक बहुत ही उपादेय तथा उपयोगी चरित्र प्राचीन यूनानी नाटकों में है। यदि भारतीय नाटककार यूनानी नाटकों से परिचय रखते, तो अवश्य ही वे भी कोरस को संस्कृत नाटकों में रखते, परन्तु ऐसा न होना यूनानी प्रभाव के अभाव का ही सूचक है।

(९) रङ्गमञ्च की स्थिति—यूनानी रङ्गमञ्च से भारतीय रङ्गमञ्च का अन्तर भी बहुत अधिक है। यूनान में नाटकों का अभिनय समस्त जनता के सामने होता था और इसलिए वे बाहर आकाश के नीचे खुली जगह पर किये जाते थे। उसके लिए किसी रङ्गशाला का निर्माण नहीं था, न कोई परदा था, जिसके उठाने गिराने की प्रथा हो। पात्र जनता को आकृष्ट करने के लिए ऐसे परिधान पहनते थे जिससे वे अपनी असली कद से बहुत ही ऊंचे दिखलाई पड़ते थे, परन्तु भारतीय नाटकों में ऐसा कभी नहीं होता था। आरम्भ काल से ही प्रेक्षागृह या नाट्यमण्डपों में ही रूपक खेले जाते थे। बाहरी मैदान में रूपकों का अभिनय अधिक नहीं होता था। माननीय राजाओं की राजधानियों में तो रङ्गशालायें होती ही थीं जिनमें चुने हुए सभ्यों के सामने नाटक

खेले जाते थे। बौद्ध जातकों से पता चलता है कि छोटे-छोटे नगरों में भी ऐसे पंचायती मकान बनाये जाते थे जो स्थानीय लोगों के लिए मन्त्रणागृह का काम करते थे और साथ ही साथ उनमें प्रेक्षकगण भी कहीं बाहर से आकर अपनी कला का प्रदर्शन किया करते थे। सप्तम शती में दण्डी ने भी ऐसे जनपदीय सभागृहों के लिए 'पञ्चवीरगोष्ठी' शब्द का प्रयोग किया है।

संस्कृत नाटकों की ये कतिपय विशेषताएँ हैं जिन पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जायगा कि संस्कृत और यूनानी नाटकों में इतने मुख्य भेद हैं कि दोनों को स्वतन्त्र और एक दूसरे से अप्रभावित रचना मानना ही पूर्णतः न्याय-संगत प्रतीत होता है।[1]

सुखान्त रूपक का रहस्य

भारतीय नाटकों की यह महती विशेषता है कि वे सर्वदैव नियमतः सुखान्त ही होते हैं। नाटक के आरम्भ अथवा मध्य में कितनी भी दुःखद तथा करुणोत्पादक घटनायें प्रदर्शित की जायँ, उनका अन्त सदा सुखद, कल्याणकारक तथा मंगल-साधक ही होता है। इस वैशिष्ट्य के कारण आलोचकों ने भारतीय नाटककारों को अव्यावहारिक होने की तीव्र आलोचना की है, परन्तु यह समग्र विपरीत आलोचन भारतीय संस्कृति के मूल तथ्यों के अज्ञान से विजृम्भित है।

(१) भारतीय दर्शन आशावादी है। उसका यह दृढ मन्तव्य है कि संसार का यह भ्राम्यमाण चक्र अन्ततोगत्वा सौन्दर्य तथा आनन्द के उत्पादन में समर्थ होता है। मार्ग के नाना विघ्न, क्लेश तथा कष्ट उठाने का प्रसङ्ग भले ही हमारे जीवन को दुःखद तथा क्लेशमय बनावे, परन्तु गन्तव्य स्थान—जीवन का उद्देश्य-सदा ही आनन्द का निकेतन होता है, सौन्दर्य की शीतल वायु जिसे सुखमय तथा मधुमय बनाती है। इसी आशावादिता से प्रेरित होकर भारतीय नाटककार नाटक के आदि को आशीर्वाद से आरम्भ करता है तथा अन्त में विश्वशान्ति के लिये प्रार्थना करता है। भारतीय जीवनदर्शन के सौन्दर्य तथा आनन्द का मधुमय संयोग संस्कृत नाटक को दुःखान्त होने से

---

१. विशेष के लिए द्रष्टव्य—Banerjee : Hellenism in Ancient India PP. 240-65.

बचाता है। भारतीय संस्कृति के अनुसार संसार अव्यवस्थित घटनाओं का समुच्चय आपाततः प्रतीयमान होने पर भी मूल में 'ऋत' की भावना से भावित होता है। इस संसार की जड़ में 'ऋत' विद्यमान रहता है—इसी 'ऋत' का उदय सृष्टि के प्रारम्भ में हुआ—"ऋतं च सत्यं चाभिद्धात् तपसोऽध्यजायत"। (ऋग्वेद १०।१९०)। 'ऋत' का अर्थ है पूर्ण व्यवस्था; जागतिक घटनाओं का पूर्ण सामञ्जस्य। अतः यहाँ अव्यवस्थित घटनाओं की गुंजाइश ही नहीं है। भौतिक घटनाओं का संघर्ष जीवन का प्रयोजन ही नहीं होता, प्रत्युत वह मानव के आध्यात्मिक जीवन के साथ सम्बद्ध रहता है फलतः भौतिक घटनाओं का संघर्ष अन्ततः आध्यात्मिक मूल्य रखता है, जो मानव को अध्यात्मिक जगत् में पहुँचा देता है। ऐसी स्थिति में भारतीय कवि जीवन के दुःख तथा क्लेश को आध्यात्मिकता की शिक्षा देने का एक साधन मानता है, जिसका अन्त सदा सुखद तथा कल्याणप्रद होता है।

(२) कलात्मक दृष्टि से भी नाटक का सुखान्त होना ही उचित है। भारतीय दृष्टि से विशुद्ध कला मानवों में सात्त्विक भावों का उदय कराती है। कला का मुख्य प्रयोजन सत्यं शिवं तथा सुन्दरं का उदय है। कला अपने साधक को सत्य, शिव (मंगल) तथा सुन्दर की ओर ले जाती है। नाटक कला का विशुद्ध विलास तथा आनन्दमय अभिव्यक्ति ठहरा। अतः नाटक का आनन्दमय होना नितान्त उचित है। इन्हीं दार्शनिक, सांस्कृतिक तथा कलात्मक दृष्टियों को लक्ष्य में रखने से भारतीय नाटक सर्वदा 'सुखान्त' ही होता है।

(३) सुखान्त होना अव्यावहारिकता का चिह्न नहीं है। भारतीय कवि मानव-जीवन के दोनों पहलुओं से परिचित होता है—मानव के सुख तथा दुःख, राग तथा द्वेष, कुरूप तथा सुरूप का चित्रण नाटक को यथार्थवादी बनाने के लिए पर्याप्त है। भारतीय नाटक जीवन का एकांगी चित्रण प्रस्तुत नहीं करता, वह भारतीय जीवन का पूर्ण तथा सार्वभौम चित्रण करता है। सुख के अङ्कन में भारतीय कवि जितना जागरूक रहता है, दुःख के चित्रण में भी वह उतना ही तत्पर रहता है, परन्तु भारतीय संस्कृति का प्रसाधक होने के कारण वह अपने नाटक को दुःखान्त होने से सदा ही बचाता है। इसका यह अर्थ कभी भी नहीं है कि भारतीय नाटक में दुःख का, मानवीय क्लेश का तथा कमजोरियों का चित्रण होता ही नहीं। कहने का तात्पर्य यह है कि उन भावों का भी चित्रण होता है और भरपूर चित्रण होता है, परन्तु कहाँ? नाटक के मध्य में ही, पर्यवसान में नहीं। भारतीय कवि जीवन के एकांग के

प्रदर्शन में ही अपनी सरस्वती की चरितार्थता कभी नहीं मानता। भवभूति के उत्तर-रामचरित से बढ़ कर मानव क्लेश, वेदना तथा परिताप का चित्रण करनेवाला नाटक दूसरा हो नहीं सकता। प्रेम की मूर्ति और सौन्दर्य की प्रतिमा सीता के परित्याग करने से राम के हृदय में वेदना की जितनी बड़ी धारा प्रवाहित होती है; उसका पूरा परिचय हमें उत्तर रामचरित के तृतीय अङ्क से मिलता है। राम प्रजा के रञ्जन के निमित्त अपनी प्राणदयिता जानकी का परित्याग करते हैं, परन्तु वह हृदय में जानते हैं कि वह नितान्त विशुद्ध, पवित्र तथा दोष-रहित है। इस प्रकार निर्दोष होने पर भी प्रकृति-रंजन की वेदी पर कठोरगर्भा जनकनन्दिनी की बलि भवभूति के इस करुणोत्पादक नाटक की प्रधान वस्तु है। करुणोत्पादक घटनाओं के ऐसे चित्रण के कारण ही तो भवभूति करुणरस के महनीय आचार्य माने जाते हैं—

भवभूतेः सम्बन्धाद् भूधरभूरेव भारती भाति।
एतत्-कृत-कारुण्ये किमन्यथा रोदिति ग्रावा॥

फलतः उत्तररामचरित सुखद जीवन का चित्रण नहीं है, प्रत्युत वह राम-सीता जैसे मान्य व्यक्तियों के सुखद जीवन की विषम परिस्थिति की वेदनामयी अभिव्यक्ति है। ऐसी दशा में भवभूति पर कोई भी आलोचक पक्षपात का दोषारोपण नहीं कर सकता, तथापि कवि ने वाल्मीकि की दुःखान्त कथा का जो सुखान्त पर्यवसान प्रस्तुत किया है, वह भारतीय जीवन के दार्शनिक तथ्य की एक मनोहर अभिव्यंजना है, भारतीय आशावादिता का एक मंजुल प्रतीक है, जो जीवन को पूर्ण, सामंजस्यशील तथा मधुर बनाता है। संस्कृत नाटक का वह वैशिष्ट्य बाह्यकला से सम्बद्ध न होकर आन्तरिक दर्शन के ऊपर आश्रित है।

—x—

नाटकों का अभ्युदय

१. भास

संस्कृत के नाटक-साहित्य में महाकवि भास की बड़ी प्रसिद्धि है। साधारण नाटककारों की बात तो अलग रहे, स्वयं कालिदास की लेखनी ने भी भास का लोहा मान लिया है। कालिदास ने मालविकाग्निमित्र की प्रस्तावना में सूत्रधार[1]

---

१. "प्रथितयशसां भाससौमिल्लककविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य कथं वर्तमानस्य कवेः कालिदासस्य कृतौ बहुमानः"—मालविकाग्निमित्र।

के मुख से स्पष्ट ही प्रश्न करवाया है कि प्रख्यात कीर्तिवाले भास, सौमिल्लक, कविपुत्र आदि कवियों के प्रबन्धों को छोड़कर कालिदास की कृति का इतना अधिक आदर क्यों हो रहा है ? इस प्रश्न से अच्छी तरह से मालूम पड़ता है कि कालिदास के समय में भास के नाटक अत्यन्त लोकप्रिय थे। उनके सामने साधारण जनता कालिदास की कमनीय रचनाओं को भी आदर की दृष्टि से नहीं देखती थी। कालिदास के परवर्ती कवियों ने भी भास के रूपकों का अतिशय आदर किया है। बाणभट्ट ने हर्षचरित के आरम्भ में भास की विशद प्रशंसा की है, उनका कहना है कि भास ने सूत्रधार (नाटक का मैनेजर तथा कारीगर) से आरम्भ किये गये, बहुत से भूमिका (पार्ट और आङ्गन) वाले, तथा पता का (नाटक की मुख्य अवान्तर घटना, ध्वजा) से सुशोभित मन्दिरों के समान अपने नाटकों से खूब ही यश पाया[1]। राजशेखर ने भी भास के नाटकों की अग्निपरीक्षा तथा स्वप्नवासवदत्ता के न जलने की बात लिखी है[2]। इससे स्पष्ट है कि प्राचीन काल में सर्वसाधारण में भास के नाटकों का खूब प्रचार था।

रचना की उपलब्धि

दुर्भाग्यवश ऐसे प्रसिद्ध नाटककार के विषय में भी हम कुछ नहीं जानते थे, क्योंकि इनके नाटक अभी तक अज्ञानान्धकार में छिपे हुये थे। अकस्मात् एक ही स्थान पर अनन्तशयन के म० म० गणपतिशास्त्री को १९०९ ई० में दश रूपकों की उपलब्धि हुई। उस समय के अनन्तर अन्य तीन नाटकों का पता चला। इन तेरहों नाटकों की प्राप्ति का वृत्तान्त १९१२ ई० में सर्वसाधारण के सामने प्रकाशित हुआ, जिससे संस्कृतज्ञों को आनन्द-पूर्ण विस्मय हुआ। म० म० गणपतिशास्त्री ने इन्हीं तेरह रूपकों को अनन्त-शयन-संस्कृत ग्रन्थावली में प्रकाशित किया है।

रूपकों का कर्ता

इस नाटक समूह के कर्ता के विषय में बड़ा मतभेद है। वास्तव में इनके भासकृत होने में कितने विद्वानों को सन्देह है। सन्देहवादियों का कहना है कि इस नाटक-चक्र का केवल 'स्वप्नवासवदत्ता' भासकृत हो सकता है, क्योंकि

---

१. सूत्रधारकृतारम्भैर्नाटकैर्बहुभूमिकैः ।
सपताकैर्यशो लेभे भासो देवकुलैरिव ॥

२. भासनाटकचक्रेऽपि च्छेकैः क्षिप्ते परीक्षितुम् ।
स्वप्नवासवदत्तस्य दाहकोऽभून्न पावकः ॥

आचार्य ने अपनी 'अभिनवभारती' में इस रूपक का उल्लेख किया है[1]। परन्तु अन्य रूपकों को भास-कृत मानने में कोई भी प्रबल प्रमाण नहीं है। स्वर्गीय पण्डित रामावतार शर्मा की सम्मति में कुछ नाटकों के कतिपय अंश भास-रचित अवश्य हैं, किन्तु समग्र नाटकों की रचना भास ने नहीं की। किसी केरल कवि ने भास के उपलब्धांशों की पूर्ति कर दी है[2]। अत एव इन नाटकों को भास-कृत मानना समुचित नहीं है। डाक्टर [3]बार्नेट भी इन नाटकों के रचयिता को प्रसिद्ध भास मानने को उद्यत नहीं हैं। परन्तु कुछ प्रमाण[4] नीचे दिये जाते हैं जो इन नाटकों को भास-प्रणीत सिद्ध करने में अमूल्य सहायता देंगे:—

(१) यद्यपि 'स्वप्नवासवदत्ता' नाटक ही भास की एकमात्र रचना साधारण रीति से जान पड़ती है, तथापि प्राचीन काल में भास के एक से अधिक रूपकों के होने का यथेष्ट प्रमाण मिलता है। बाणभट्ट के पूर्वोद्धृत "सूत्रधारकृतारम्भैर्नाटकैः" पद्य में प्रयुक्त बहुवचनान्त 'नाटकैः' पद से स्पष्ट प्रतीत होता है कि सातवीं सदी में भास के नाम से अनेक नाटक प्रचलित थे। राजशेखर ने तो भास के 'नाटक-चक्र' का स्पष्टतः उल्लेख किया है। अभिनवगुप्त ने 'स्वप्न-नाटक' तथा 'दरिद्रचारुदत्त' का उल्लेख किया है। वामन ने 'प्रतिज्ञा नाटिका', 'चारुदत्त' तथा 'स्वप्नवासवदत्ता' से कतिपय पद्यों को काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति' में उद्धृत किया है। भामह ने भी 'प्रतीज्ञा' नाटक के वस्तु—कृत्रिम हस्ती के द्वारा वत्सराज की छलना—की आलोचना 'भामहालङ्कार' में की है। 'प्रतिज्ञा' नाटक के एक प्राकृत अंश का संस्कृत अनुवाद भी उनके पद्यों में पाया जाता है[5]। इन सब प्रमाणों पर दृष्टि रखते हुए कहना पड़ता है कि प्राचीनकाल में भास की खूब प्रसिद्धि थी तथा उनके अनेक नाटकों का सर्वत्र प्रचार था। अतः यदि ये तेरहो नाटक आन्तरिक समानता रखने के कारण भास प्रणीत माने जायँ तो किसी तरह की ऐतिहासिक विप्रतिपत्ति प्रतीत नहीं होती।

---

१. क्वचित् क्रीडा यथा वासवदत्तायाम्।

२. शारदा (संस्कृत पत्रिका) प्रथमवर्ष की पहिली संख्या।

३. देखिये Bulletin of School of Oriental Studies तथा J. R. A. S. 1919,, P. 233 तथा P. 587.

४. Thomas—plays of Bhasa. J. R. A. S. 1922.p. 79.

५. इन उल्लेखों के लिये म० म० गणपतिशास्त्री कृत स्वप्नवासवदत्ता नाटक की भूमिका देखिये।

(२) डाक्टर बार्नेट ने भास के नाम से प्रचारित नाटकचक्र के कर्ता पर यह दोषारोपण किया है कि स्वयं केरलीय कवि होते हुए भी उसने भास के नाटकों के नाम चुरा लिये हैं और भास के नाम से इन्हें प्रचारित किया है, किन्तु यह कथन उचित नहीं जँचता, क्योंकि संस्कृत-साहित्य में इस तरह की कल्पित प्रथा प्रचलित नहीं थी। किसी प्राचीन ग्रन्थ की छाया रहने पर भी ग्रन्थ का नवीन नामकरण किया जाता था। नाटकीय वस्तु के एक होने पर भी कवि लोगों को अपनी रचनाओं के नये नाम रखने में अतिशय आनन्द आता था। यही कारण है कि रामायणीय कथा के उपजीव्य होने पर भी भवभूति के नाटक 'महावीर-चरित' तथा 'उत्तर-रामचरित' हैं, तो मुरारि का 'अनर्घ-राघव', जयदेव का 'प्रसन्न-राघव' तथा दामोदर मिश्र का 'हनुमन्नाटक' है। उपर्युक्त बातों पर ध्यान देने से नाम चुराने का कलंक आरोपित करना केवल हास्यास्पद तथा अनुचित जान पड़ता है।

(३) यदि इस नाटकचक्र की भाषा—संस्कृत तथा प्राकृत—पर उचित ध्यान दिया जाय, तो इसकी प्राचीनता स्वयं सिद्ध होगी। विद्वानों का कहना है कि इसके प्राकृत रूप कालिदासीय प्राकृत से भी प्राचीन हैं। कुछ ऐसे प्राकृत के रूप मिले हैं जो अश्वघोष के नाटक तथा अशोक के शिलालेखों को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं होते। स्वीकृत्यर्थक 'आम्' का प्रयोग केवल पालिभाषा में ही पाया जाता है तथा कतिपय पुंल्लिंग शब्दों के बहुवचनान्त रूप 'आनि' प्रत्यय जोड़कर इन नाटकों में बनाये गये हैं। यह रूप अति प्राचीन है, क्योंकि यह अश्वघोष के नाटक तथा अशोक की धर्मलिपियों में भी डाक्टर लूडर्स के द्वारा ढूँढ़ निकाला गया है। पीछे के साहित्य में इन रूपों का अस्तित्व नहीं मिलता। यह तो हुई नाटकों की प्राकृत की कथा। इनके संस्कृत के विषय में भी पूर्वोक्त सिद्धान्त अतिशय सत्यता से प्रयुक्त किया जा सकता है। इनमें ऐसे अपाणिनीय प्रयोग मिलते हैं जिनकी उपलब्धि केवल रामायण तथा महाभारत में ही प्रचुरता से होती है, अन्यत्र नहीं। इससे इनकी प्राचीनता स्पष्टतः सिद्ध होती है।

(४) संस्कृत साहित्य में कतिपय विशेषण भास के लिये प्राचीन कवियों ने व्यवहृत किये हैं। यदि इन विशेषणों के अनन्तशयन प्रकाशन में प्रकाशित ग्रन्थावली के कर्त्ता के विषय में भी व्यवहृत होने का कारण मालूम हो तो इन्हें भासकृत मानने में अधिक संशय या दुविधा न होगी।

(क) साधारण नियम है कि नान्दी के अनन्तर सूत्रधार का प्रवेश होता है, परन्तु इन नाटकों में नान्दी का सर्वथा अभाव है। ये नाटक नान्दी से न आरम्भ होकर सूत्रधार के द्वारा आरम्भ किये गये हैं। यह विशेषता भास के नाटकों में पाई जाती है।

(ख) वाक्पतिराज ने अपने 'गउडवहो' नामक प्राकृत महाकाव्य में भास को 'जलणमित्ते[1]'—ज्वलनमित्रम्—अग्नि का मित्र कहा है। कतिपय विद्वानों की सम्मति में वासवदत्ता के जलने की झूठी खबर फैलाकर भास को नाटकीय वस्तु का विकाश दिखलाने का उचित अवसर मिला है। अतः अग्निदाह का उपयोग करने वाले भास को 'ज्वलनमित्र' कहा गया है। यदि यही कारण ठीक हो, तो उपलब्ध वासवदत्ता के कर्ता भास ही होंगे, क्योंकि इसमें वासवदत्ता के अग्निदहन की वार्ता फैलाकर पद्मावती का विवाह सम्पन्न कराया गया है, जिससे मुख्य कार्य—राज्य-प्राप्ति निष्पन्न हुई।

(ग) जयदेव ने भास को कविता-कामिनी का हास माना है[2]। इस विशेषण से हास्यरस के वर्णन में भास की प्रवीणता प्रतीत होती है। उपलब्ध नाटकों में भी हास्यरस के प्रसङ्ग अच्छे ढंग से दिखलाये गये हैं। इनमें हास्य के उद्धत तथा सुकुमार दोनों रूपों का समुचित वर्णन मिलता है। उद्धत हास्य के लिये 'प्रतिज्ञा' के विदूषक की क्लिष्ट भाषा पर ध्यान दीजिये तथा हास्य के सुकुमार रूप को देखने की अभिलाषा हो तो 'वासवदत्ता' के औदरिक-पेट्ट-विदूषक पर दृष्टिपात कीजिये। दोनों रूपों का जीता-जागता चित्र आपके सामने आकर उपस्थित हो जायगा। कालिदास के ग्रन्थों में केवल सुकुमार हास्य के ही दर्शन होते हैं। उद्धत हास्य की गरिमा तो केवल इन नाटकों में ही दीख पड़ती है। अतः जयदेव का कथन इन नाटकों के विषय में भी पूरे तौर से घटता है। इस प्रकार विद्वानों ने इन प्रमाणों के आधार पर इन नाटकों को भासकृत मानने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं की है।

---

१. भासम्मि जलणमित्ते कुन्तीपुत्ते तहावि रघुआरे।
सोबन्धवे अ बन्धम्मि हारिअन्दे अ आणन्दो ॥

२. भासो हासः कविकुलगुरुः कालिदासो विलासः।
केषां नैषा कथन कविता-कामिनी कौतुकाय ॥
(प्रसन्नराघव की प्रस्तावना)

इन्हीं प्रमाणों के आधार पर अनन्तशयन-ग्रन्थावली में प्रकाशित 'स्वप्न-वासवदत्ता' आदि नाटक-चक्र के रचयिता प्राचीन नाटककार भास ही थे, ऐसा बहुत लोग मानते आये हैं, परन्तु भास के 'स्वप्नवासवदत्ता' नाटक के जो उदाहरण तथा विवरण रीति ग्रन्थों में आते हैं, वे प्रकाशित पुस्तक में मिलते नहीं। इस नाटक-चक्र को भासकवि-कृत न कहकर केरलदेशीय कविरचित कहना अत्यन्त उपयुक्त है। अब तो महामहोपाध्याय पण्डित रामावतार शर्म्मा जी की राय ही ठीक मालूम पड़ रही है कि इन नाटकों के कुछ अंश भासकवि के हो सकते हैं, परन्तु केरल देश के किसी ने इन्हें पूरा किया है। यही कारण है कि ये नाटक केरल के बाहर प्रसिद्ध नहीं हो सके। इनकी हस्तलिखित प्रतियाँ केरल में ही मिली हैं और केरल देश के ही नट लोग (जिन्हें चाक्यार कहते हैं) इनका अभिनय कर आज भी लोगों का मनोरंजन करते हैं। ऐसी परिस्थिति में यथार्थ निर्णय कठिन है, परन्तु अधिकांश पण्डितजन इन्हें भास की ही रचना मानते हैं।

आविर्भाव-काल

(१) भास के नाटक चक्र के उद्भावक तथा सम्पादक म०म० गणपति शास्त्री ने भास को चाणक्य तथा पाणिनि से भी प्राचीन सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। शूरों को युद्ध के लिये उत्साहित करने के प्रसंग में चाणक्य ने 'अपीह श्लोकौ भवतः' लिखकर जिन श्लोकों को प्रमाण कोटि में रखा है उनमें से एक भास की उपलब्ध 'प्रतिज्ञा' नाटिका में पाया जाता है[1]। 'प्रतिमा' नाटक में रावण के बार्हस्पत्य[2] अर्थ-शास्त्र में प्रवीणता प्राप्त करने की बात लिखी हुई है। बृहस्पति-कृत अर्थशास्त्र कौटिल्य से भी प्राचीन है। अतः उसके उल्लेख की घटना चाणक्य-अर्थशास्त्र के विषय में भास की अज्ञानता की सूचिका है। प्रयोगों की अपाणिनीयता सिद्ध करती है कि पाणिनि के सर्वमान्य होने के पहिले ही इन नाटकों की रचना हुई। इन प्रमाणों के आधार पर भास का समय कम से कम पाँचवीं सदी ईस्वी पूर्व माना गया है। परन्तु अधिकांश विद्वान् इस मत से सहमत नहीं हैं और वे चाणक्य तथा भास के

---

१. नवं शरावं सलिलैः सुपूर्णं सुसंस्कृतं दर्भकृतोत्तरीयम्।
तत्तस्य मा भून्नरकं च गच्छेद् यो भर्तृपिण्डस्य कृते न युध्येत्॥

२. भो काश्यपगोत्रोऽस्मि, साङ्गोपांग वेदमधीये, मानवीयं धर्मशास्त्रम्, माहेश्वरं योगशास्त्रम्, बार्हस्पत्यमर्थशास्त्रम् प्राचेतसं श्राद्धकल्पञ्च।

पद्य को किसी अन्य ग्रन्थ से लिया हुआ बतला कर इस मत को प्रमाण कोटि में नहीं मानते।

(२) डाक्टर बार्नेट उस नाटक-चक्र के 'कल्पित भास' को सप्तम शताब्दी का केरलीय कवि बतलाते हैं, क्योंकि उसी समय में लिखे गये महेन्द्रवीरविक्रम-विरचित 'मत्तविलास' प्रहसन से इन नाटकों की भाषा तथा पारिभाषिक शब्द पूर्णतया समानता रखते हैं तथा 'राजसिंह' को, जिसका नाम भरत-वाक्यों में अधिकता से पाया जाता है, केरल देश का सातवीं सदी का राजा माना है। परन्तु भामह द्वारा उद्धृत तथा बाण के द्वारा प्रशंसित होने से इनका समय अवश्य ही प्राचीन होना चाहिये। इन नाटकों के पारिभाषिक शब्द भी प्राचीनता के ही द्योतक हैं तथा राजसिंह को व्यक्ति-वाचक नाम मानने में कोई दृढ़तर प्रमाण नहीं है। अतः इस सिद्धान्त में विद्वज्जन आस्था नहीं रखते।

(३) डा० लेस्नी, प्रिन्ट्ज, बैनर्जी शास्त्री, सुखथनकर आदि पश्चिमीय तथा पूर्वीय पण्डितों ने वाह्य परीक्षा को छोड़कर नाटकों की आन्तरिक परीक्षा की है—विशेषतः प्राकृतभाषा की विशिष्ट आलोचना की है। उससे वे निरूपण करते हैं कि भास कालिदास (पाँचवीं सदी) से पुराने हैं, परन्तु अश्वघोष (द्वितीय सदी) से अर्वाचीन हैं। भास के रूपकों में उपलब्ध प्राकृत शब्दों के रूप प्राकृत वैयाकरणों की सम्मति में अत्यन्त प्राचीन ठहरते हैं। यदि 'अस्मि' के अर्थ में भास ने 'ह्मि' का प्रयोग किया है, तो कालिदास ने 'म्हि' का। 'हमारे' के अर्थ में भास ने 'अम्ह्अ' तथा 'अम्हाणं' का प्रयोग किया है, तो कालिदास ने अपने नाटकों में केवल पहिले ही रूप का। 'अहम्' के लिये भास ने 'अहके' तथा 'अहं' का प्रयोग किया है, परन्तु कालिदास ने 'हगे' या 'हके' का। इसी प्रकार अश्वघोष की प्राकृत का विकास भास में दीख पड़ता है। अतः इनका समय दोनों—अश्वघोष तथा कालिदास—के बीच, अर्थात् तीसरी सदी में होना चाहिये; यही मत अधिकांस विद्वान् मानते हैं।

ग्रन्थ

१. प्रतिमा नाटक

राम का वनवास, सीताहरण आदि अयोध्या-काण्ड से लेकर रावणवध तक की घटनाओं का वर्णन इस नाटक में किया गया हैं। इस नाटक से

प्राचीन भारत में कला-विषयक नवीन वृत्तान्त का पता लगता है। प्राचीनकाल में राजाओं के देवकुल होते थे। जिनमें राजाओं की मृत्यु के अनन्तर उनकी पत्थर की बड़ी मूर्तियां स्थापित की जाती थीं। इक्ष्वाकुवंश का भी ऐसा ही देवकुल था, जिसमें मृत नरेशों की मूर्तियाँ स्थापित की जाती थीं। केकयदेश से आते समय अयोध्या के समीप देवकुल में स्थापित दशरथ की प्रतिमा को देखकर ही भरत ने उनकी मृत्यु का अनुमान आप ही आप कर लिया। इसी कारण इसका नाम 'प्रतिमा-नाटक' है। पटने से प्राप्त शैशुनाग राजाओं की मूर्तियों से भी भास की बात सर्वथा पुष्ट होती है। स्वप्नवासवदत्ता को छोड़कर यह नाटक सबसे बड़ा तथा मनोरञ्जक है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी भास के नाटकचक्र में इसका स्थान बहुत ऊँचा है।

२. अभिषेक नाटक

इस नाटक में राज्याभिषेक का वर्णन है। इन दोनों नाटकों में बालकण्ड को छोड़कर रामायण की समग्र उपयोगिनी घटनायें आ गयी हैं। अनुमान है कि बालकण्ड की कथा भी इसी प्रकार रंगमंच पर अभिनय के लिये लिखी गई थी, परन्तु वह अभी तक उपलब्ध नहीं हुई है।

३. पञ्चरात्र

इसमें महाभारत की एक घटना का अन्यथा वर्णन मिलता है। द्रोण ने दुर्योधन से आधा राज्य पांडवों को दे देने के लिये कहा। दुर्योधन ने प्रतीज्ञा की कि पाँच रात में पाण्डवों के मिल जाने पर मैं उन्हें राज्य का आधा भाग दे दूँगा। द्रोण के प्रयत्न करने पर पाण्डव मिल गये तथा आधा राज्य उन्हें दिया गया।

४. मध्यम-व्यायोग

इसमें मध्यम पाण्डव—भीम—ने एक ब्राह्मण के लड़के की रक्षा एक भयङ्कर राक्षस से की है। यह व्यायोग है।

५. दूत-घटोत्कच

अभिमन्यु का वध होजाने पर पाण्डवों को अपनी विजय के विषय में सन्देह होने लगता है। इसलिये सन्धि स्थापित करने के लिये घटोत्कच दूत बनाकर भेजा जाता है, परन्तु दुर्योधन के न स्वीकार करने पर युद्ध फिर जारी किया जाता है।

६. कर्णभार

इन्द्र भगवान् महादानी कर्ण से कवच-कुण्डल माँग ले जाते हैं। कर्ण भी अपने ऊपर युद्ध के नेतृत्व का भार ग्रहण करता है। यही इस नाटक का मूल कथानक है।

७. दूतवाक्य

सन्धि करने के लिये श्रीकृष्ण का दुर्योधन के शिविर में जाना तथा उनका विफल मनोरथ होना इस नाटक में वर्णित है।

८. ऊरुभङ्ग

भीम तथा दुर्योधन के अन्तिम गदायुद्ध का तथा दुर्योधन की मृत्यु का करुणापूर्ण वर्णन है। संस्कृत-साहित्य का यह प्रसिद्ध नियम है कि कोई भी संस्कृत नाटक वियोगान्त नहीं होता—उसके अन्त में सदैव संयोग तथा सुख का वर्णन होना चाहिये; परन्तु केवल यही नाटक इस नियम का प्रतिवादस्वरूप है, क्योंकि इसके अन्त में दुर्योधन की मृत्यु रंगमंच पर अभिनीत हुई है। अतएव नाटक छोटा होने पर भी साहित्यिक दृष्टि से बड़े महत्त्व का है।

९. बालचरित

इसमें कृष्ण के बालचरित का बड़ा ही विशद वर्णन किया गया है। जिन्हें कृष्ण के बाणचरित—वृन्दावन-लीला—जानने की अभिलाषा हो उनके बड़े काम का है।

१०. चारुदत्त या दरिद्र-चारुदत्त

यह रूपक पूरा-पूरा उपलब्ध नहीं होता, परन्तु साहित्यिक दृष्टि से इस अपूर्ण रूपक का भी अधिक मूल्य है, क्योंकि शूद्रक का प्रसिद्ध 'मृच्छकटिक' इसी के आधार पर लिखा गया माना जाता है। इसमें धनहीन, परन्तु सुचारित्र्य सम्पन्न ब्राह्मण चारुदत्त तथा गुणग्राहिणी वारवनिता वसन्तसेना का पवित्र आदर्श-स्नेह बड़े मार्मिक ढंग से वर्णित है।

११. अविमारक

इसमें 'अविमारक' नामक राजकुमार के चरित्र का वर्णन किया गया है। कामसूत्र में उल्लिखित होने से यह प्राचिन काल की अतिशय प्रसिद्ध आख्यायिका जान पड़ती है।

१२. प्रतिज्ञायौगन्धरायण

कौशाम्बी के आखेट के प्रेमी राजा उदयन को कृत्रिम हाथी के छल से उज्जयिनी-नरेश महासेन ने पकड़ लिया। इस रूपक में उदयन के मन्त्री यौगन्धरायण ने दृढ प्रतिज्ञा करके केवल राजा को ही बन्धन से नहीं छुड़ाया, बल्कि कुमारी वासवदत्ता का भी कपट से हरण कराया। मन्त्री की दृढ-प्रतिज्ञा तथा कुटिलनीति का यह सर्वश्रेष्ठ निदर्शन है।

१३. स्वप्नवासवदत्ता

भास की नाट्यकुशलता का यह चूडान्त निदर्शन है। इसे 'प्रतिज्ञा' का उत्तरार्द्ध समझना समुचित होगा। राजा उदयन को अपने विरोधियों को परास्त करना है जिसके लिए मगध के राजा दर्शक की सहायता लेना नितान्त आवश्यक है। यौगन्धरायण दर्शक को ठगने के लिए वासवदत्ता के आग में जल जाने की झूठी खबर फैलाता है, परन्तु वास्तव में उसे दर्शक की भगिनी पद्मावती के पास वेश बदल कर रख जाता है। अनन्तर पद्मावती के साथ वत्सराज का शुभ विवाह हो जाता है। स्वप्न में राजा वासवदत्ता को देखता है जिससे मिलने से उसकी हार्दिक अभिलाषा अत्यन्त बढ़ जाती है और उसे वासवदत्ता के जीवित होने में कुछ विश्वास जमने लगता है। वत्स-विजय के अनन्तर राजा के सामने वासवदत्ता लाई जाती है और दोनों का पुनः आनन्द मिलन होता है। चरित्र-चित्रण में भास ने अपनी नाट्यकला का अद्भुत चित्र खींचा है—ऐसे शुद्ध तथा विषद प्रेम का वर्णन किया है कि मन आनन्द से मुग्ध हो जाता है। नाटकीय घटनाओं की ऐसी मनोहारिणी संगति दिखाई गई है कि अस्वाभाविकता पास फटकने नहीं पाई है। वास्तव में यह नाटक संस्कृत-साहित्य का एक जाज्वल्यमान रत्न है जिसकी प्रभा के सामने अनेक नाटक-रत्न छविहीन प्रतीत होते हैं।

भास की नाट्यकला

भास को मानव जीवन के नाना क्षेत्रों को देखने तथा नाटकों में अंकित करने का अवसर मिला है। इसलिए उनके नाटकों में विविधता तथा बहुमुखता विशेषरूप से दृष्टिगोचर होती है। कुछ नाटक—जैसे स्वप्नवासवदत्ता, प्रतिज्ञा आदि पूर्ण विकसित नाटक हैं, परन्तु मध्यमव्यायोग, दूतवाक्य, दूतघटोत्कच, कर्णभार तथा उरुभंग केवल एक अंग के रूपक होने के कारण 'एकांकी' कहे जा सकते हैं। इन नाटकों की सबसे बड़ी विशेषता है—अभिनेयता। ये समग्र नाटक रंगमंच के ऊपर बड़ी खूबी के साथ दिखाये जा सकते हैं। इसका कारण यह है कि इन रूपकों में न तो कहीं वर्णन की अधिकता है जो रूपक की

अभिनेयता की अवहेलना करती है और न कहीं कथावस्तु का ही अनावश्यक विस्तार है, जो कार्यान्विति को रोकता है। ये सब रूपक नाटकीय दृष्टि से चुस्त, व्यवस्थित तथा सुसंघटित हैं। पात्रों का संवाद भी विस्तृत नहीं है; पात्र ठीक मतलब की बातें थोड़े चुने हुए शब्दों में कहना प्रसन्द करते हैं। भास 'संवादतत्त्व' के विशेष मर्मज्ञ हैं। रूपकों में व्यापार की भी खूब प्रधानता है। इसीलिए भास के रूपक शास्त्र की दृष्टि से सरल, सुबोध तथा अभिनेय हैं।

कथावस्तु

भास ने रामायणीय रूपकों की कथावस्तु में विशेष नविनता नहीं लाई है। वे प्रसिद्ध घटनाओं को नाटकरूप में रखनेवाले केवल सामान्य रूपक हैं। प्रतिमा नाटक में भास ने एक नवीन कल्पना को कथानक के परिबृंहण में लगाया है। 'देवकुल' की कल्पना उस युग की एक मान्य कल्पना थी, जब प्रत्येक राजा के महल में पृथक् मन्दिर प्रतिष्ठित था, जिसमें राजा की मृत्यु के अनन्तर उसकी पाषाणमूर्ति वहाँ स्थापित की जाती थी। यह भास की कोरी कल्पना नहीं है, प्रत्युत ऐतिहासिक तथ्य पर आधारित है। अजातशत्रु तथा बिम्बसार की पुरुषाकृति मूर्तियों से इस तथ्य की पर्याप्त पुष्टि होती है। भास ने बिना किसी कारण के ही राम के द्वारा बाली का वध दिखलाकर उसे सदोष बना दिया है। बाली का रंगमंच के ऊपर मृत्यु दिखलाना नाट्य के प्रचलित प्रथा के सर्वथा विरुद्ध है।

महाभारत तथा कृष्ण-सम्बन्धी नाटकों में संविधानक की नवीनता के कारण विशेष चमत्कार दृष्टिगोचर होता है। भास ने महाभारत की कथा का बहुधः अनुसरण किया है अवश्य, परन्तु कहीं-कहीं वे नवीन संविधानक भी खोज निकालते हैं। 'पञ्चरात्र' को कथा—द्रोण के कथानुसार पाँच रातों में ढूंढ़ निकालने पर पाण्डवों को आधा राज्य दे देना—तथा दूतघटोत्कच का पूरा कथानक कवि की निजी कल्पना से प्रसूत है। 'कर्णभार' में कवि ने कर्ण के दानशील चरित्र का बड़ा ही उत्तम उपन्यास किया है। 'दूत-वाक्य' में श्रीकृष्ण के चरित की महत्ता और दुर्योधन के चरित की हीनता बड़े कौशल से प्रदर्शित की गई है। 'उरुभग' में भीम के द्वारा दुर्योधन को गदायुद्ध में परास्त करने तथा उसकी जंघा के चूर्ण करने का बड़ा ही विशद विवरण है। संस्कृत-नाटकों में 'उरुभंग' ही दुःखान्त नाटक का एक मात्र प्रतिनिधि है और यहाँ भी दुर्योधन की मृत्यु रंगमंच के ऊपर दिखला कर भास ने भरत के शास्त्रीय नियमों का उलंघन किया है।

भासकवि कृष्ण-भक्त प्रतीत होते हैं और इसी लिये इनका 'बालचरित' कृष्णनाटकों में आद्य नाटक प्रतीत होता है। नाम के अनुसार ही कृष्ण की अनेक बाललीलाओं का यहाँ नाटकीय चित्रण है। यहाँ दूत-वाक्य के समान ही कृष्ण के आयुध भी रंगमंच पर आते हैं तथा अरिष्ट दैत्य का बैल के रूप में आने पर भी मानवोचित व्यवहार करना अवश्यमेव खटकता है। अविमारक तथा दरिद्र-चारुदत्त में भास ने लोककथा को नाटक के रूप में परिवर्तित किया है और बड़े ही सुन्दर ढंग से यह परिवर्तन हुआ है। अविमारक और कुरंगी के प्रणय के चित्रण में कवि ने अधिक भावुकता दिखलाई है, जो नाटक की प्रगति में व्याघातक प्रतीत होता है। प्रतिज्ञा तथा स्वप्नवासवदत्ता दोनों ही उदयन के कथाचक्र से सम्बद्ध रूपक हैं। इनके कथानक के लिये कवि बृहत्कथा का ऋणी है। सम्भव है कि उस युग की प्रचलित कथाओं के द्वारा भी भास प्रभावित हों, परन्तु यहाँ कथा वस्तु का पौर्वापर्य इतनी सुन्दरता से प्रस्तुत किया गया है कि कृत्रिमता कहीं लेशमात्र भी नहीं दिखती। व्यापार की स्वाभाविक प्रगति नितान्त आकर्षक तथा चमत्कारजनक है। प्रतिज्ञा के कथानक में भास ने त्रुटि अवश्य दिखलाई है, परन्तु लोककथाओं में ऐसी बातों की स्थिति अस्वाभाविक नहीं मानी जाती। इस प्रकार इन रूपकों का कथानक चुस्त तथा सुव्यवस्थित है।

पात्र-चित्रण

भास के पात्र प्रकारमात्र (टाइप) न होकर वस्तुत: सजीव व्यक्ति हैं। उनका व्यक्तित्व इतना सुस्पष्ट है कि हम उन्हें भूल नहीं सकते। भास के 'उदयन' में गम्भीरता है, धीरोदात्तता है। अपनी प्रियतमा के नाश की अभव्य बात सुनने पर भी विह्वलचित्त होकर वह विक्षिप्त नहीं बन जाता। इसकी तुलना में हर्ष का उदयन (प्रियदर्शिका तथा रत्नावली में चित्रित) बिल्कुल फीका, विवर्ण तथा अनाकर्षक पात्र है। नाटिका के लिये उसे धीर-ललित बनाकर हर्ष ने उसके भव्य चरित्र का अपकर्ष ही दिखलाया है। प्रतिज्ञा नाटक में योगन्धरायण की बुद्धिमत्ता तथा लोकचातुरी का रुचिर चित्रण कर भास ने उसे एक आदर्श अमात्य के रूप में दिखलाया है। भास की नायिकायें भी कम मनोरञ्जक नहीं हैं। वासवदत्ता के औदार्य का चित्रण पवित्रता के आदर्शरूप की झाँकी है। वासवदत्ता अपनी वास्तविकता को छिपाकर अपने पतिदेव के कल्याण के निमित्त अपूर्व त्याग का परिचय देती है। पद्मावती के साथ रहने पर उससे किसी प्रकार का सपत्नीद्वेष नहीं करती, प्रत्युत वह स्वयं पद्मावती के साथ

उदयन का विवाह होने देती है। कुरंगी का चरित्र भी सुन्दर है, परन्तु उसमें भावों का संघर्ष नहीं है। नाटक के विषयानुसार नाना रसों का उन्मीलन है, जिसमें विर तथा शृंगार का प्राधान्य है।

इस प्रकार भास कथावस्तु के विन्यास में और पात्रों के चरित्रचित्रण में प्रतिभासम्पन्न नाटककार हैं—इसमें दो मत नहीं हो सकते।

कविता

भास की भाषा में एक विचित्र अनूठापन है। वाक्य हैं तो बड़े छोटे-छोटे, परन्तु उनमें विचित्र भाव भरा हुआ है। भास की कविता-कामिनी अपने स्वाभाविक पदविन्यास के लिये जितनी प्रसिद्ध है, उतनी ही अपने भावों के लिये भी। कृत्रिमता तो कहीं देखने के लिये भी नहीं मिलेगी। इनकी भाषा तथा कविता भी प्रशंसनीय सरलता तथा आदरणीय सुन्दरता से सर्वत्र व्याप्त है। भास मानव-हृदय के विकारों के सच्चे पारखी हैं। बाह्य प्रकृति के भी सरल वर्णन में इनकी योग्यता किसी से घटकर नहीं है। अलङ्कारों के चुनाव में उपमा तथा स्वभावोक्ति पर ही आपका विशेष स्नेह दीख पड़ता है। ऊपर लिखा जा चुका है कि भास नाटकीय कला के पारंगत आचार्य हैं, चरित्र-चित्रण करने में अद्भुत चित्रकार हैं।

भास की कविता के कतिपय उदाहरण नीचे दिये जाते हैं:—

विस्रब्धं हरिणाश्चरन्त्यचकिता देशागतप्रत्यया
वृक्षाः पुष्पफलैः समृद्धविटपाः सर्वे दयारक्षिताः।
भूयिष्ठं कपिलानि गोकुलधनान्यक्षेत्रवत्यो दिशो
निःसन्दिग्धमिदं तपोवनमयं धूमो हि बह्वाश्रयः॥

स्थान की विशेषता से विश्वास करने वाले हरिण विना चकित हुये घास चर रहे हैं। वृक्षों की शाखायें फूल तथा फलों से लदी हुई हैं। ऋषियों ने दया करके इनकी रक्षा की है। कपिल रंग की गायों के झुण्ड विचर रहे हैं। खेत कहीं नजर नहीं आते। बहुत स्थानों से धूम निकल रहा है। अतएव निःसन्देह यह तपोवन ही है।[1]

---

१. शकुन्तला के प्रथम अङ्क में वर्णित तपोवन इस तपोवन से कई बातों में मिलता जुलता है। कालिदास के "विश्वासोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगाः" पद्यांश में इस पद्य के प्रथमांश की छाया स्पष्टतः दृष्टिगोचर हो रही है।

कुलं तावच्छ्लाघ्यं प्रथममभिकांक्षे हि मनसा
ततः सानुक्रोशं मृदुरपि गुणस्त्वेष बलवान्।
ततो रूपे कान्ति न खलु गुणतः स्त्रीजनभयात्
ततो वीर्योदग्रं नहि न परिपाल्या युवतयः॥

राजा महासेन अपनी पुत्री वासवदत्ता के विवाह के विषय में विचार कर रहा है। वह कहता है कि पहले तो मैं प्रशंसनीय कुल चाहता हूँ। दूसरे वर को दयालु होना चाहिए। यह गुण सुकुमार होने पर भी बलवान् है। अनन्तर वर को सुन्दर भी होना चाहिए। गुणों के विचार से नहीं, बल्कि स्त्रियों के डर से। फिर मैं बलशाली वर को चाहता हूँ, क्योंकि युवतियों की रक्षा तो अवश्य करनी होगी। यदि वर महाशय दुर्बल हुये तो अपनी पत्नी की शत्रु से रक्षा किस तरह कर सकेंगे।

खगा वासोपेताः सलिलमवगाढो मुनिजनः
प्रदीप्तोऽग्निर्भाति प्रविचरति धूमो मुनिवनम्।
परिभ्रष्टो दूराद् रविरपि च संक्षिप्तकिरणो
रथं व्यावर्त्यासौ प्रविशति शनैरस्तशिखरम्॥

सायंकाल का सुन्दर दृश्य है। चिड़ियाँ अपने घोसलों में चली गई। मुनिजन जल में स्नान कर चुके। सन्ध्याकाल में अग्निहोत्र के लिये जलाई हुई आग शोभित हो रही है। धुआँ मुनियों के वन में घूम रहा है। सूर्य ने भी दूर से उतर कर अपनी किरणों को बटोर लिया है और रथ को लौटाकर धीरे-धीरे अस्ताचल पर घुसे चले जाते हैं। प्रसादगुण से युक्त इस पद्य में सन्ध्याकाल का कितना मनोहर नैसर्गिक वर्णन है।

—×—

२. कालिदास

संस्कृत साहित्य के इतिहास में श्रव्य तथा दृश्य उभय विध काव्यों के प्रणयन में महाकवि कालिदास का प्रतिस्पर्धी कोई भी नहीं है। गत परिच्छेद में उनके समय का विशिष्ट निरूपण तथा दृश्य काव्यों का भी सामान्य परिचय दिया गया है। यहाँ उनके नाटकों का समीक्षण प्रस्तुत किया जा रहा है।

रचनाक्रम के अनुसार 'मालविकाग्निमित्र' कालिदास का प्रथम नाटक है। इसकी प्रस्तवना में कवि अपनी नवीन कृति के अभिनय के लिए जो तर्क प्रदर्शित कर रहा है, उससे उसके अभी तक अप्रसिद्ध होने की तथा नाटक की

नूतनता की घटना पूर्णतः संकेतित हो रही है।[1] 'मालविकाग्निमित्र का नायक 'अग्निमित्र' इतिहास-प्रख्यात व्यक्ति है—सेनापति पुष्यमित्र का पुत्र, जिन्होंने ईस्वीपूर्व द्वितीय शती के अन्तिम चरण में १८० ई० पू० के आसपास मौर्यवंश के अन्तिम शासक राजा बृहद्रथ का वध कर ब्राह्मणवंशी शुङ्गवंश की स्थापना की। उस युग की राजनैतिक तथा धार्मिक परिस्थिति का परिचायक यह नाटक अपने प्रमुख वर्णन के लिये पतञ्जलि के महाभाष्य से दृढ पुष्टि पा रहा है। इस नाटक में नृत्य का विन्यास, नाटकीय क्रियाशीलता, विदूषक की हास्योद्भावक युक्तियाँ, नायिका मालविका की कारागार से मुक्ति नाट्याचार्यों का परस्पर कलह, ललितकला की उपासना आदि विषय बड़ी ही रुचिरता से उपन्यस्त हैं। फलतः इतिहास तथा साहित्य की जोड़ी एक साथ ही यहाँ एकत्र दिखलाने में कालिदास ने नवीन कवि होने पर भी अद्भुत क्षमता दिखलाई है।

'विक्रमोर्वशीय' में कवि पुरुरवा और ऊर्वशी के वैदिक आख्यान को नाटक के रूप में परिणत कर अपनी लोकातीत प्रतिभा का मधुर विन्यास प्रस्तुत किया है। इस रूपक में यौवनसुलभ प्रेम का उन्माद संस्कृत तथा अपभ्रंश भाषा के पद्यों में रोचक ढंग से दिखलाया गया है। वैदिक आख्यान में पुरुरवा की विह्वलता का उल्लेख अवश्य है, परन्तु इस नाटकीय आख्यान में वह विह्वलता सामान्य कोटि से उठकर उन्माद कोटि में पहुँच जाती है, जहाँ प्रेमी व्यावहारिक जगत् के तथ्य की विस्मृति में काल्पनिक जगत् में विराज ने लगता है। कमी होने पर भी नायक पुरुरवा विक्रम का अवतार है, परोपकार का साक्षात् विग्रह है। वह अपने प्रेम को हृदय के कोने में छिपाकर त्रस्त अप्सराओं के रक्षण में समर्थ होता है। फलतः उसका काम उसके परोपकार पर हावी नहीं होता, उसे दबा नहीं डालता। नाटक में अन्तः तथा बाह्य प्रकृति का चित्रण भी विद्यमान है। विक्रमोर्वशीय की भाषा शाकुन्तल के समान उतनी मँजी हुई और मुहावरेदार नहीं है, तथापि उसमें प्रसाद तथा सौष्ठव की आभा कम नहीं है।

---

१. पुराणमित्येव न साधु सर्वं।
न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
('मालविका०' की प्रस्तावना)

'अभिज्ञानशकुन्तल' तो कालिदास का सर्वस्व ही ठहरा—"कालिदासस्य सर्वस्वम् अभिज्ञानशाकुन्तलम् ।" शकुन्तला के मूल आख्यान के लिए कालिदास महाभारत के ऋणी हैं। परन्तु महाभारत का आख्यान निःस्वादु तथा निरीह है, नितान्त नीरस, अरोचक तथा आदर्श विहीन है। राजा दुष्यन्त कण्व के आश्रम में जाकर शकुन्तला से विवाह की बात करता है। व्यवहार-कुशल प्रौढा पुरन्ध्रि के समान शकुन्तला बहुवल्लभाओं से युक्त राजा दुष्यन्त से विवाह के लिए शर्त रखती है—

> मयि जायेत यः पुत्रः स भवेत्त्वदनन्तरम् ।
> युवराजो महाराज सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥

राजा की स्वीकृति देने पर विवाह सम्पन्न होता है। महाभारत की शकुन्तला प्रगल्भा, स्पष्ट-वादिनी तथा निर्भीक तरुणी है; परन्तु कालिदास की यह सृष्टि - शकुन्तला एक लज्जाशीला प्रेमपरायणा तथा मुग्धा बालिका है। उसके शील तथा मर्यादा की रक्षा के लिये कालिदास ने दो सखियों की मञ्जुल अवतारणा की है—अनुसूया तथा प्रियंवदा की। इनके चरित्र में भी सूक्ष्म पार्थक्य है। प्रियंवदा व्यवहार के ज्ञान से सम्पन्न मधुरभाषिणी किञ्चित् प्रौढ वयस्का है। उसका नाम ही उसके इस व्यक्तित्व का विशद प्रतिपादक है (प्रियं वदतीति प्रियंवदा)। 'अनसूया' का अभिधान ही उसके असूया रहित व्यक्तित्व का द्योतक है (न विद्यते असूया यस्यां सा अनसूया)। उसका जीवन शकुन्तलागत है; वह शकुन्तला की विदाई के अवसर पर उसके भविष्य के निमित्त अधिक क्रियाशील दृष्टिगोचर होती है। राजा के द्वारा अवहेलना का संकेत तथा शकुन्तला के अनिष्ट की कल्पना उसका सात्त्विक हृदय स्वयं बतला देता है। ये दोनों शकुन्तला के शील-रक्षण की जागरूक प्रहरी हैं।

शाकुन्तल में कण्व महाभारत के समान फल-मूलादि के लिये आश्रम से अनुपस्थित नहीं हैं, प्रत्युत शकुन्तला के भावी अनिष्ट के शमन के लिए सोमतीर्थ की यात्रा पर गये हुये हैं। कण्व की दीर्घ अनुपस्थिति ने नाटक की अनेक घटनाओं के संघटन के लिए समय तथा औचित्य प्रदान किया है। आश्रम के रक्षण के लिए दुष्यन्त से तपस्वियों द्वारा प्रार्थना, नायक-नायिका के प्रणय के उद्भव, विकाश तथा परिणाम का सुयोग, दुर्वासा का शाप—ये सब कण्व की दीर्घ अनुपस्थिति के कारण ही सुसम्पन्न होते हैं। फलतः कण्व का सोमतीर्थ का गमन कालिदास की नूतन कल्पना है। महाभारत मे शकुन्तला का पुत्र आश्रम में ही जनमता है। बड़ा होने पर कण्व उसे राजा

दुष्यन्त के पास भेजते हैं, जो जानबूझ कर झूठ बोलता है और लोकापवाद के भय से पुत्र को स्वीकार करने से पराङ्मुख होता है। 'भरस्व पुत्रं दौष्यन्तिं सत्यमाह दुष्यन्ता' की आकाशवाणी सुनने से पहिले ही वह शाकुन्तलेय (शकुन्तलातनय) को दौष्यन्ति (दुष्यन्त-पुत्र) जानता है। फलतः वह मिथ्यावादी, अनृतभाषी तथा उत्तरदायित्वविहीन अधर्मशील शासक है। परन्तु कालिदास की रसनिर्झरिणी लेखनी ने ऐसे दुःशील दुष्यन्त को सुशील शासक बना दिया है। कालिदास का दुष्यन्त प्रेयसी शकुन्तला के साथ गन्धर्व विवाह की बात जान-बूझ कर स्वेच्छया नहीं भूलता, प्रत्युत कोपनमहर्षि का शाप उसके सिर पर चलते जादू की तरह चक्कर काट रहा था जिसका दैवी अनिवार्य प्रभाव उसे अस्वीकारने के लिए विवश करता है।

निष्कर्ष यह है कि पञ्चम अंक से लेकर सप्तम अंक तक समस्त वस्तु—शकुन्तला का प्रत्याख्यान, उसकी तपस्या तथा पुनर्मिलन की घटना में—कालिदास के उर्वर मस्तिष्क, की दिव्य उपज है। शाकुन्तल का कथानक दो विरुद्ध प्रवृत्तियों के तुमुल संघर्ष पर आश्रित है—काम तथा धर्म, वासना तथा कर्तव्य। नाटक के आरम्भिक तीन अंकों में काम का साम्राज्य है तथा अन्तिम चार अंकों में धर्म की विजय है। वासना के वश में होने से राजा का पतन होता है, परन्तु कर्तव्य की ओर अग्रसर होने से उसका उत्थान होता है। इस प्रकार समग्र अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक 'धर्माविरुद्धः कामोऽस्मि' गीताप्रतिपादित भगवद्विभूति का जीवन्त साहित्यिक निदर्शन है। कालिदास की इस अनुपम रचना का यही शाश्वतिक मूल्य है।

'पद्मपुराण' में शकुन्तला की कथा शाकुन्तल नाटक से मिलती है। इसलिए कतिपय विद्वान्[1] कालिदास को पद्मपुराण का ऋणी बतलाते हैं। परन्तु तथ्य इससे नितान्त भिन्न प्रतीत होता है। सबसे बड़ी विप्रतिपत्ति है सखीद्वय की कल्पना। एक ही सखी राजा से बात-चीत के लिए पर्याप्त है, दो सखियों की कल्पना क्यों? यह कल्पना पुराणकार के मस्तिष्क से बाहर जान पड़ती है। कालिदास का जो अभिप्राय इस कल्पना में है उसका प्रतिपादन ऊपर किया गया है। यह कल्पना आख्यानप्रिय व्यक्ति द्वारा अभिव्यक्त होने पर औचित्य नहीं रखती, परन्तु गूढार्थ की अभिव्यंजना के कारण प्रतिभाशाली कवि की उद्भावना होने की योग्यता निश्चित रूप से रखती है।

१. डा० हरदत्त शर्मा—पद्मपुराण एण्ड कालिदास (कलकत्ता ओरियण्टल सीरीज, कलकत्ता से प्रकाशित)।

नाटकों की अभिनेयता

कालिदास के नाटकों की यह महती विशिष्टता है कि वे कलापक्ष के अनुशीलन से भी खरे उतरते हैं। नाटकों में अभिनेयता की सत्ता नितान्त आवश्यक होती है। 'अभिनेयता' का अर्थ है—अभिनय की योग्यता। नाटक तथा काव्य का यही तो मुख्य पार्थक्य है कि जहाँ काव्य वर्णनपरक होता है, वहाँ नाटक अभिनय-प्रधान होता है। यदि प्रथम में स्थितिशीलता का प्रामुख्य है, तो द्वितीय में गतिशीलता का प्राधान्य। फलतः नाटकों में वर्णन की कमी होना, वार्तालाप का बाहुल्य होना तथा रसोन्मेष की सामग्री का प्राचुर्य होना नितान्त अनिवार्य होता है। गतिमत्ता नाटकीय कला का व्यवहार पक्ष है। इस दृष्टि से विचार करने पर कालिदास के नाटकों में कहीं भी शैथिल्य नहीं है; कथानक में कहीं रुकावट नहीं है; स्वाभाविक वार्तालाप में कहीं व्यवच्छेद नहीं है। इससे उलटी स्थिति है 'वेणीसंहार' नाटक की, जहाँ महाभारतीय कथा का वर्णन इतनी अधिकता के साथ है कि दूसरा पात्र केवल 'ततस्ततः' (तब क्या हुआ ?) के अतिरिक्त अन्य शब्दों का उच्चारण ही नहीं करता। कालिदास के नाटकीय पात्र चुस्त-चालाक हैं, भोंड़े तथा शिथिल नहीं। वे अपने वर्तालाप में, संवाद-योजना में औचित्य का सर्वदा ध्यान रखते हैं। कालिदास ने नियमतः ऐसा प्रसंग ही उपस्थित नहीं किया है जो नाटक की गति में किसी प्रकार का अवरोध उत्पन्न करता। वे इस विषय में सर्वथा जागरूक हैं। पाश्चात्य आलोचक कालिदास की कला की श्रेष्ठता मानने के लिए इस गतिशीलता पर दृढ़ आग्रह दिखलाते हैं।

शाकुन्तल में धार्मिक वातावरण

शाकुन्तल में कवि ने तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक जीवन का सच्चा चित्र उपस्थित किया है। उस समय वर्णाश्रम धर्म की पूर्ण प्रतिष्ठा थी। प्रत्येक वर्ण अपने उचित कार्यों के सम्पादन में दत्तचित्त था। ब्राह्मण यज्ञ-याग एवं अध्ययन-अध्यापन के कार्य में संलग्न थे। प्रजा का संरक्षण तथा दुष्टों का दलन राजा का उचित कार्य था। वैश्य समुद्री यात्रा द्वारा दूर-दूर के देशों से व्यापार कर राष्ट्र को समृद्ध बनाने में जुटे थे। शूद्र भी राष्ट्र के हित में अपने नियत कर्म का सम्पादन करते थे। परम्परागत कर्म निन्दित होने पर भी वर्जित नहीं माना जाता था—"सहजं किल यद् विनिन्दितं न खलु कर्म विवर्जनीयम्।" कालिदास के युग का धार्मिक वातावरण यज्ञीय धूम से सुरभित था। राजा प्रजा के रक्षण को ही अपना आराधनीय धर्म मानता था। राजा को

प्रजा की आय का छठा भाग कर के रूप में प्राप्त होता था और इसीलिए वह—'षष्ठांशवृत्ति' कहलाता था। न्याय दुर्दन्त तथा कठोर न होकर सहानुभूति से स्निग्ध था। शाकुन्तल के धनी व्यापारी निःसन्तान धनमित्र की मृत्यु होने पर उसकी विपुल संपत्ति का अधिकारी राजा को बनाता है, परन्तु राजा के हृदय की सहानुभूति तुरन्त अधिकार करने से रोकती है और उसकी पत्नियों में से आपन्न-सत्वा के अन्वेषण के लिए आग्रह करती है। समाज सुव्यवस्थित था। पिता की सम्पति के विना कन्या का विवाह विपत्ति का आमन्त्रक माना जाता था। शकुन्तला के प्रत्याख्यान से उसकी पुष्टि होती है। फलतः कालिदास के नाटक जनता के सामने जीवन के आदर्शों को प्रस्तुत करने से कभी नहीं चूकते। यहाँ मनोरञ्जन के साथ उपदेश का मंजुल सामरस्य नाटकों के औदात्य के निदर्शन हैं।

शाकुन्तल की सबसे बड़ी विशेषता उसका अमर शन्देश है। शकुन्तला तथा दुष्यन्त प्रणय के प्रथम आवेग में विना किसी गुरुजन की अनुमति या परामर्श के गान्धर्व विवाह कर लेते हैं, परन्तु इस अनुमति के अभाव में उन्हें कितना कष्ट उठाना पड़ा था—यह शाकुन्तल का उत्तरार्ध बतलाता है। प्रणय के स्वरूप को पहचान कर किया गया विवाह अपने में स्थायिता लाता है; विना जाने किया गया विनाश की ओर ले जाता है। फलतः सम्भोग की पुष्टि वियोग के विना कथमपि सिद्ध नहीं हो सकती—

न विना विप्रयोगेण संभोगः पुष्टिमश्नुते।
कषायिते हि वस्त्रादौ भूयान् रागो विवर्धते॥

शाकुन्तल का भावी दम्पतियों के लिए धर्मपूर्ण उपदेश है कि विशेषकर एकान्त में मित्रता खूब सोच समझ कर करनी चाहिए। अन्यथा विना हृदय की पहिचान किये गये व्यक्ति से साथ प्रेम वैर के रूपमें परिणत होता है—

अतः परीक्ष्य कर्तव्यं विशेषात् संगतं रहः।
अज्ञातहृदयेष्वेवं वैरीभवति सौहृदम्॥

—x—

३. विशाखदत्त

विशाखदत्त का 'मुद्राराक्षस' संस्कृत नाटकों में अपनी महत्ता तथा गौरव के लिये अद्वितीय है। इसका विषय राजनीति या कूटनीति है। वह इतनी पेचीदी है जितनी मानवबुद्धि कल्पना कर सकती है। इसके रचयिता विशाखदत्त ने

प्रस्तावना में अपना जो कुछ परिचय दिया है उससे पता चलता है कि इनके पितामह वटेश्वरदत्त अथवा वत्सराज किसी देश के सामन्त थे। पिता भास्करदत्त या पृथु ने महाराज की पदवी प्राप्त की थी। राजनीति—विशेषत: कौटिल्य-अर्थशास्त्र तथा शुक्रनीति के प्रकाण्ड पण्डित होने के अतिरिक्त विशाखदत्त दर्शनशास्त्र—विशेषत: न्याय तथा ज्योतिष के भी पूरे पण्डित थे। वैदिक धर्मावलम्बी होने पर भी उनका मत इतना उदार था कि बुद्धधर्म को वह आदर की दृष्टि से देखते थे। जैनधर्म के प्रति अवश्य उनकी कुछ अनास्था प्रतीत होती है।

रचनाकाल

'मुद्राराक्षस' के रचनाकाल के निर्णय के लिये विद्वानों ने विशेष परिश्रम किया है। भरत-वाक्य में एक राजा का नाम आता है जिसे भिन्न-भिन्न हस्तलिखित प्रतियों में दन्तिवर्मा, चन्द्रगुप्त तथा अवन्तिवर्मा बतलाया गया है। इस भरत-वाक्य का आशय यह है कि जिस प्रकार भगवान् विष्णु ने हिरण्याक्ष के उत्पीडनों से संतप्त भूतल का उद्धार वराहरूप धारण कर किया उसी प्रकार इस समय म्लेच्छों के द्वारा उद्विग्न होनेवाली पृथ्वी की यह पार्थिव अपने भुजबल से रक्षा करे[1]। भिन्न-भिन्न पाठों के कारण इस ग्रन्थ का समय भिन्न-भिन्न शताब्दियों में रक्खा गया है।

(१) दन्तिवर्मा दक्षिण के पल्लव-नरेश माने गये हैं, जो ७२० ईस्वी के लगभग राज्य करते थे। यदि यह बात सत्य हो तो इस ग्रन्थ की रचना अष्टम शतक में हुई, परन्तु उस समय किसी भी आक्रमणकारी म्लेच्छ का पता नहीं चलता है जिसके उत्पीडन से रक्षा की प्रार्थना की जाय।

(२) डाक्टर जायसवाल ने चन्द्रगुप्त द्वितीय (३७५–४१३ ई०) विक्रमादित्य को ही इस भरत-वाक्य का विषय माना है। अत: उनके मत से इस ग्रन्थ की रचना ४०० ईस्वी के लगभग हुई। परन्तु यह भी मत ठीक

---

१. वाराहीमात्मयोनेस्तनुमवनविधावास्थितस्यानुरूपां
यस्य प्राग्दन्त-कोटिं प्रलयपरिगता शिश्रिये भूतधात्री।
म्लेच्छैरुद्वेज्यमाना भुजयुगमधुना संश्रिता राजमूर्तेः
स श्रीमद्बन्धुभृत्यश्चिरमवतु महीं पार्थिवोऽवन्तिवर्मा॥

प्रतीत नहीं होता, क्योंकि म्लेच्छों (हूणों) का शासनकाल चन्द्रगुप्त के राज्य के लगभग ५० वर्ष पीछे आरम्भ होता है। अतः उनसे भरत-वाक्य की सङ्गति नहीं जमती।

(३) टीकाकार ढुण्ढिराज के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य का ही इस भरत-वाक्य में उल्लेख है। परन्तु प्रायः प्रशस्तिवाक्य में नायक से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहता। अतः चन्द्रगुप्त से चन्द्रगुप्तमौर्य की सूचना सर्वथा विरुद्ध है।

(४) अवन्तिवर्मा दो थे—एक काश्मीर के राजा, दूसरे कन्नौज के। कन्नौज-नरेश मौखरि वंश के थे और इन्हीं के पुत्र ग्रहवर्मा के साथ थानेश्वर के महाराज श्रीहर्ष की भगिनी राज्यश्री का विवाह हुआ था। इस भरत-वाक्य में इन्हीं का निर्देश ऐतिहासिक रीति से प्रमाणित होता है। इसी समय हूणों का उपद्रव पश्चिमोत्तर भारत (पंजाब) में विशेष रूप से हुआ था। इन हूणों को अवन्तिवर्मा ने थानेश्वर के राजा प्रभाकरवर्द्धन की सहायता से परास्त किया था। यह घटना ५८२ ईस्वी के आसपास की है। अतः इसकी रचना छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मानना सर्वथा युक्तियुक्त है।

विशिष्टता

'मुद्राराक्षस' नाटक अनेक दृष्टियों से संस्कृत-साहित्य में अद्वितीय है। संस्कृत की सामान्य नाटयधारा के प्रतिकूल इसमें प्रेम-कहानी का ही नितान्त अभाव नहीं है, प्रत्युत इसमें प्रणय का वातावरण भी नहीं है। इस नाटक में नायिका का एकदम अभाव है और नाटक के वातावरण को स्निग्ध तथा ललित बनाने वाले विदूषक का भी कहीं पता नहीं है। सच तो यह है कि यह नाटक आदि से लेकर अन्त तक ओजस्विता, पौरुष और ऊर्जस्वलता के ऊपर एकान्ततः आश्रित है, इसीलिए इसका नाटकीय वातावरण पूर्णरूपेण तेजस्विता से ओत-प्रोत है। अन्य वीररसाश्रयी नाटकों से भी इसका पार्थक्य नितान्त स्पष्ट है। भास का 'प्रतिज्ञा-योगन्धरायण' भी कूटनीति के स्तम्भ पर आश्रित महनीय नाटयप्रासाद है, परन्तु इसमें वह ओजस्विता नहीं है जो मुद्राराक्षस में है। 'वेणीसंहार' से भी इसकी तुलना नहीं की जा सकती, क्योंकि भट्टनारायण का यह नाटक समराङ्गण में प्रवर्तमान भयंकर युद्ध की विषमता से संक्रान्त है, जिसमें योद्धाओं के सन्नाहों से टकरा कर तलवारों की झनझनाहट, घोड़ों की भयानक आवाज तथा भीषण मार-काट के कारण युद्ध की भीषण रंगस्थली

पर्याप्त भय उत्पन्न करती है; परन्तु इस नाटक में वीररस तो अवश्यमेव विद्यमान है, लेकिन न तो तलवारों की झनझनाहट है और न नगाड़ों की गड़गड़ाहट। यहाँ युद्ध वीर सैनिकों के अस्त्रों से नहीं होता; यहाँ तो चाणक्य तथा राक्षस की बुद्धि और कूटनीति के खेल का ही यह पूरा नाटक एक विशाल अखाड़ा है, जिसमें दो अक्खड़ पहलवान पर्दे की ओट से अपना दाव-पेंच दिखाकर दर्शकों को आश्चर्यचकित किया करते हैं। चन्द्रगुप्त का यह कथन बिल्कुल ठीक है कि विना युद्ध के ही आर्य चाणक्य ने दुर्जय शत्रु-सेना को परास्त कर दिया (विनैव युद्धादार्येण जितं दुर्जयं परबलमिति)।

इस नाटक में कोई भी स्त्री-पात्र नहीं है, केवल सप्तम अंक में चन्दनदास की पत्नी का प्रवेश अवश्य होता है, परन्तु वह नाटक के मुख्य कार्य में किसी प्रकार की सहायता नहीं देती। वह केवल चन्दनदास के उत्कर्ष को बतलाने के लिए ही रंग मंच पर लाई गई है। स्त्री-पात्र के अभाव में तथा हास्यरस के उत्पादक विदूषक की अनुपस्थिति में भी इसनाटक में रोचकता तथा आकर्षण कम नहीं है। कवि का कथानक ही इतना पेचीदा तथा गहरा है कि दर्शक की जिज्ञासा न कहीं शान्त होती है, न उसका कौतुक या कौतूहल कहीं अवसान को प्राप्त कर सकता है। सफल नाटकों में जिस कौतूहलवर्धक आख्यान की योजना न्यायसंगत मानी जाती है वह इसमें पूर्णरूप से विद्यमान है। पूरे नाटक भर में चाणक्य तथा उसका प्रतिस्पर्धी राक्षस एक दूसरे को अपनी कूटनीति से परास्त करने के गरज से इतनी घटनाओं का विन्यास कर देते हैं कि आपाततः वे सब विच्छिन्न और विशृङ्खल प्रतीत होती हैं, परन्तु अन्त में जब जाल खींचा जाता है, तब समग्र घटनाओं का संघटित फल एक साथ ही उद्बुद्ध होकर दर्शकों के सामने अपने वैभव को प्रदर्शित करता है। नाटक का व्यापार पूर्ण-रूपेण गत्यात्मक है; कहीं भी शैथिल्य तथा अरोचकता दृष्टि पर नहीं चढ़ती। सुघटित कथावस्तु की योजना में, वैयक्तिकता से मण्डित पात्रों के चित्रण में ओजस्वी वायुमण्डल की अवतारणा में तथा वीररस की अभिव्यंजना में 'मुद्राराक्षस' निःसन्देह संस्कृत-साहित्य में एक अपूर्व सफल नाटक है; इसके विषय में आलोचकों के बीच दो मत नहीं हो सकते।

इस नाटक का मुख्य उद्देश्य राजनीति है। जो कुछ भी घटना-घटती है वह इसी उद्देश्य को अग्रसर करती जाती है। चाणक्य राक्षस को बुद्धिबल से परास्त कर चन्द्रगुप्त का मन्त्री बनना चाहता है। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए उसने अपने जिस बुद्धि-वैभव का प्रदर्शन किया है वह राजनीतिज्ञों को भी

उलझन में डालने वाला है। पाश्चात्य विद्वानों की सम्मति में इस नाटक में घटना की एकता का जितना सुन्दर प्रदर्शन हुआ है उतना अन्यत्र नहीं। आदि से लेकर अन्त तक सभी घटनाएँ राक्षस के वशीकरण की ओर ही प्रवृत्त हो रही हैं। चरित्रचित्रण में विशाखदत्त विशेष निपुण हैं। इन्होंने अपने पात्रों को युगलरूप में चित्रित किया है—चाणक्य और राक्षस, चन्द्रगुप्त और मलयकेतु, इसी प्रकार के युगल पात्र हैं। चाणक्य और राक्षस दोनों ही कुशल राजनीतिज्ञ हैं, परन्तु चाणक्य दीर्घदर्शी और धीर है; राक्षस अधीर तथा विस्मरणशील है। परन्तु राक्षस में जिस मैत्रीभावना का कवि ने चित्रण किया है वह भारतीय संस्कृति की अपूर्व देन है। चन्द्रगुप्त बड़ा ही योग्य तथा विचारशील शासक है। ठीक इसके विपरीत मलयकेतु बुद्धिहीन, अयोग्य तथा अभिमानी, कच्ची बुद्धि का युवक है। वीररस इसका मुख्य रस है। उत्साह प्रत्येक पात्र के हृदय में घर किये हुए है। जान पड़ता है कि विशाखदत्त राजनीतिक नाटक लिखने में सिद्धहस्त थे। इनकी दूसरी कृति 'देवीचन्द्रगुप्त' नामक नाटक है। इसके कुछ ही उद्धरण नाट्यग्रन्थों में मिलते हैं और वे इतिहास की दृष्टि से बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। इसी के आधार पर चन्द्रगुप्त के ज्येष्ठ भ्राता रामगुप्त की सत्ता ऐतिहासिकों ने मानी है।

कवित्व

'मुद्राराक्षस' की शैली में एक विलक्षण 'मर्दानगी' है जिससे उसका प्रत्येक अक्षर सुशोभित है। मुख्य रस वीर ही है। अलंकारों का पद्यों में उतना ही प्रयोग है जिससे भावों के प्रकटन में अथवा मूर्त की कल्पना में तीव्रता का वैशद्य से जन्म हो जाता है। पात्रों के अनुकूल ही भावों का निवेश तथा भाषा की प्रतिष्ठा है। तृतीय अंक में शरद् ऋतु का भी रोचक वर्णन है, परन्तु वह सन्दर्भ तथा कथानक को एक उन्नत कोटि तक पहुँचाने का कार्य करता है। आशय यह है कि विशाखदत्त ने इस नाटक को ऊर्जस्वी और वीररस-मण्डित बनाने में कुछ उठा नहीं रखा है। चाणक्य को इस बात की आशंका से भी महान् क्षोभ हो रहा है कि उसके रहते हुए चन्द्रगुप्त का अभिभव और तिरस्कार कौन सोच रहा है। वह कहता है—

आस्वादित - द्विरद - शोणित - शोण-शोभां
सन्ध्यारुणामिव कलां शशलाञ्छनस्य।
जृम्भा-विदारित-मुखस्य मुखात् स्फुरन्तीं
को हर्तुमिच्छति हरेः परिभूय दंष्ट्राम्॥

(मुद्राराक्षस १।८)

अर्थात् सिंह का तिरस्कार कर उसके दाढ़ (दांत) को कौन व्यक्ति उखाड़ना चाहता है। हाथी को खाने के कारण उसके लोहू से लाल रंग की वह दंष्ट्रा अत्यन्त चमक रही है और सन्ध्याकाल में चन्द्रमा की कला के समान लाल रंग की शोभा से मण्डित है। जंभाई लेते समय सिंह ने जब अपना मुँह खोला तब वह उसमें चमक रही है। ऐसी दंष्ट्रा को सिंह के मुख से उखाड़ लेनेवाला पुरुष काल के साथ साक्षात् युद्ध कर रहा है और अपने ही हाथों उसे न्योता दे रहा है !!! अप्रस्तुत-भावना कितनी सुन्दरता से अभिव्यक्ति की गई है।

शरणमपि सामिद्भिः शुष्यमाणाभिराभि-
विनमितपटलान्तं दृश्यते जीर्णकुड्यम् ॥
(मुद्राराक्षस ३।१५)

एक ओर उपलों को तोड़ने के लिए रखा हुआ पत्थर का एक टुकड़ा पड़ा हुआ है, तो दूसरी ओर छात्रों के द्वारा लाया गया कुशों का एक स्तूप खड़ा हुआ है। उस कुटिया की दीवालें ही पुरानी और जीर्ण नहीं हैं, परन्तु उसकी छाजन भी सुखाई जानेवाली लकड़ियों के कारण बिल्कुल झुकी हुई है। यही है राजाधिराज के मन्त्री की विभूति !!!

विशाखदत्त राजनीति के प्रवीण पण्डित थे, यह कहना व्यर्थ है और इसीलिए इस नाटक में कौटिल्य के अर्थशास्त्र का विपुल प्रभाव विशेषभावेन दृष्टिगोचर होता है। इनकी प्रतिभा राजनैतिक नाटकों के प्रणयन में विशेष सफल बिना किसी सन्देह के मानी जा सकती है, क्योंकि इनका दूसरा अधूरा 'देवीचन्द्रगुप्त' भी पूर्ण राजनैतिक तथा ऐतिहासिक वृत्त से मण्डित है। रामचन्द्र तथा गुणचन्द्र (१२ शतक) ने अपने नाट्य-ग्रन्थ 'नाट्य-दर्पण' में इस नाटक से अनेक लम्बे उद्धरण दिये हैं, जिससे प्रतीत होता है कि यह नाटक पाँच अंकों में अवश्य था। भोज के 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में तथा अभिनवगुप्त की 'अभिनव-भारती' में भी इसके उल्लेख उपलब्ध होते है। यह नाटक शकराज के कारागार से रामगुप्त की महिषी ध्रुवदेवी के कुमार चन्द्रगुप्त के हाथों उद्धार की मनोरंजक ऐतिहासिक कथा पर आश्रित है, जिसे जयशंकर प्रसाद ने 'ध्रुवस्वामिनी' में नाटक का रूप दिया है।

इस प्रकार हम भाषा तथा भाव, शैली तथा कवित्व, वस्तु तथा पात्रचित्रण के समीक्षण के बल पर कहा जा सकता है कि विशाखदत्त का यह नाटक वास्तव में एक महनीय सफल कृति है। यद्यपि इसमें कालिदास के समान कोमल भावों को

तरलता नहीं है, न भवभूति के समान हृदय को रुलानेवाली करुणा का प्रसार है, और न भट्टनारायण के समान योद्धाओं को समराङ्गण में प्राण देने के लिये न्यौता देनेवाले नगाड़े की गड़गड़ाहट है, तथापि उसमें दो विशाल राजनीतिज्ञों के बुद्धिवैभव की नाना खेलों का विपुल आगार है और मानवता की भव्य मूर्ति को उपस्थित करनेवाली नाट्यकला का सुन्दर ओजस्वी रूप है। निःसंदेह 'मुद्राराक्षस' संस्कृत का सफल नाटक होने के अतिरिक्त विश्वसाहित्य में अपना उचित स्थान बनाये रखने की योग्यता रखता है।[1]

—×—

४. शूद्रक

महाकवि शूद्रक की लोकप्रिय रचना 'मृच्छकटिक' है, जो नाटकीय परिभाषा में कवि की कल्पना पर आधारित होने से 'प्रकरण' कहलाता है। इसकी प्रस्तावना में कवि ने अपना परिचय दिया है, जिसमें उसके नाना विद्याओं में निष्णात राजा तथा रणकुशल योद्धा होने की घटना का उल्लेख है, जो कथमपि अनुचित नहीं कहा जा सकता। परन्तु दस दिन और सौ वर्ष की आयु प्राप्तकर शूद्रक के अग्निप्रवेश करने की घटना इसलिये विश्वासार्ह नहीं है कि लेखक अपने मृत्यु का उल्लेख अपनी कृति में क्योंकर कर सकता है (लब्ध्वा चायुः शताब्दं दिनदशसहितं शूद्रकोऽग्निं प्रविष्टः) । यह प्रक्षेप प्रतीत होता है। राजा शूद्रक का अभिधान संस्कृत-साहित्य में इतनी प्रख्याति से मण्डित है कि मृच्छकटिक के रचयिता का व्यक्तित्व अधिकांशतः ठोस ऐतिहासिक भूमि पर आज भी खड़ा नहीं हो सकता।

स्थितिकाल

शूद्रक के समय-निरूपण के विषय में पश्चिमी तथा पूर्वी विद्वानों में बड़ा मतभेद है। पुराणों में आन्ध्रभृत्य कुल के प्रथम राजा शिमुक का वर्णन मिलता है। अनेक भारतीय विद्वान् राजा शिमुक के साथ शूद्रक की अभिन्नता अङ्गीकार कर इनका समय विक्रम की प्रथम शताब्दी में मानते हैं। यदि यह अभिन्नता सप्रमाण सिद्ध की जा सके, तो शूद्रक कालिदास के समकालीन अथवा उनके

---

१. आलोचना के लिए विशेष द्रष्टव्य डा० देवस्थली-इन्ट्रोडक्शन टू दी स्टडी आफ मुद्राराक्षस, बम्बई १९४८ (पृ० ५१-८४)।

कुछ पूर्व के ही माने जायेंगे। परन्तु मृच्छकटिक की इतनी प्राचीनता स्वीकार करने में बहुतों को आपत्ति है। अतः बहिरंग तथा अन्तरंग प्रमाणों के आधार पर यहाँ बहुसम्मत विश्वासयोग्य समय का निरूपण असंभव नहीं है।

(१) वामनाचार्य ने अपनी 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' में ('शूद्रकादिरचितेषु प्रबन्धेषु') शूद्रक-विरचित प्रबन्ध का उल्लेख किया है। 'द्यूतं हि नाम पुरुषस्य असिंहासनं राज्यम्'—इस मृच्छकटिक के द्यूत-प्रशंसा-परक वाक्य को उद्धृत भी किया है, जिससे कहा जा सकता है कि आठवीं शताब्दी के पहले ही मृच्छकटिक की रचना की गई होगी। वामन के पूर्ववर्ती आचार्य दण्डी (सप्तम शतक) ने भी काव्यादर्श में, जैसा कहा जा चुका है, 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि' मृच्छकटिक के इस पद्यांश को अलंकार-निरूपण करते समय उद्धृत किया है। इन बहिरंग प्रमाणों के आधार पर हम कह सकते हैं कि मृच्छकटिक की रचना सप्तम शताब्दी के पहले ही हुई होगी।

(२) समय-निरूपण में मृच्छकटिक के अन्तरंग प्रमाणों से भी बहुत सहायता मिलती है। नवम अङ्क में वसन्तसेना की हत्या करने के लिये शकार आर्य चारुदत्त पर अभियोग लगाता है। आधिकरणिक के सामने वह पेश किया जाता है— अन्त में मनु के अनुसार ही धर्माधिकारी निर्णय करता है—

अयं हि पातकी विप्रो न वध्यो मनुरब्रवीत्।
राष्ट्रादस्मात्तु निर्वास्यो विभवैरक्षतैः सह॥
(९।३९)

इससे स्पष्ट है कि मनु के कथनानुसार चारुदत्त का अपराध सिद्ध होता है और धन-सम्पत्ति के साथ उसे देश से निकल जाने का दण्ड दिया जाता है। यह निर्णय ठीक मनुस्मृति के अनुरूप है —

न जातु ब्राह्मणं हन्यात् सर्वपापेष्वपि स्थितम्।
राष्ट्रादेनं बहिः कुर्यात् समग्रधनमक्षतम्॥
(८।३८०)

अतः मृच्छकटिक की रचना मनुस्मृति के अनन्तर हुई होगी। मनुस्मृति का रचना-काल विक्रम से पूर्व द्वितीय शतक माना जाता है, जिसके पीछे मृच्छकटिक को मानना होगा। भासकवि के 'दरिद्र-चारुदत्त' तथा शूद्रक के 'मृच्छकटिक' में अत्यन्त समता पाई जाती है। मृच्छकटिक का कथानक बहुत

विस्तीर्ण है, दरिद्रचारुदत्त का संक्षिप्त। यदि मृच्छकटिक को भास के रूपक के अनुकरण पर रचा गया मान लें, तो शूद्रक का समय भास के पीछे होना चाहिये, अर्थात् ईस्वी की तीसरी सदी के पीछे होगा।

मृच्छकटिक के नवम अङ्क में कवि ने बृहस्पति को अङ्गारक, अर्थात् मंगल का विरोधी बतलाया है[1]; परन्तु वराहमिहिर ने इन दोनों ग्रहों को मित्र माना है[2]। प्रसिद्ध ज्योतिषी वराहमिहिर का सिद्धांत ही आजकल फलित ज्योतिष में सर्वमान्य है। आजकल भी मंगल तथा बृहस्पति मित्र माने जाते हैं, परन्तु वराहमिहिर के पूर्ववर्ती कोई-कोई आचार्य इन्हें शत्रु मानते थे, जिसका उल्लेख बृहज्जातक में ही पाया जाता है[3]। वराहमिहिर का परवर्ती ग्रन्थकार बृहस्पति को मंगल का शत्रु कभी नहीं कह सकता। अतः शूद्रक वराहमिहिर से पूर्व के ठहरते हैं। वराहमिहिर की मृत्यु ५८९ ईस्वी में हुई थी; इसलिये शूद्रक का समय छठी सदी के पहले होना चाहिये।

इन सब प्रमाणों का सार यही है कि शूद्रक भास (तृतीय शतक) के परवर्ती तथा वरामिहिर (षष्ठ शतक) के पूर्ववर्ती थे, अर्थात् मृच्छकटिक की रचना पचम शतक में हुई थी।

कथावस्तु

मृच्छकटिक में १० अंक हैं। पहले अङ्क का नाम 'अलंकारन्यास' है। इसमें उज्जयिनी की प्रसिद्ध वारवनिता वसन्तसेना को राजा का श्यालक शकार वश में करना चाहता है। रास्ते में अँधेरी रात में विट तथा चेट के साथ शकार उसका पीछा कर रहा है। मूर्ख शकार के कथन से वसन्तसेना को पता चलता है कि वह आर्य चारुदत्त के मकान के पास ही है। अतः

---

१. अङ्गारकविरुद्धस्य प्रक्षीणस्य बृहस्पतेः।
ग्रहोऽयमपरः पार्श्वे धूमकेतुरिवोत्थितः॥
(९।३३)

२. जीवेन्दूष्णकराः कुजस्य सुहृदः।
(बृहज्जातक २।१६)

३. जीवो जीवबुधौ सितेन्दुतनयौ व्यर्का विभौमाः क्रमाद्
वीन्द्वर्का विकुजेन्दवश्च सुहृदः केषाञ्चिदेवं मतम्॥
(२।१५)

उसके घर में घुसती है। विदूषक मैत्रेय शकार को डाँट-डपट कर घर में घुसने से रोकता है। चारुदत्त से वार्तालाप करने के बाद शकार से बचने के लिये वसन्तसेना अपना गहना उसके घर रख आती है। दूसरे अङ्क का नाम 'द्यूतकर-संवाहक' है। दूसरे दिन सवेरे दो घटनाएँ घटती हैं। संवाहक पहले चारुदत्त की सेवा में था, पीछे पक्का जुआरी बन जाता है। वह जूए में बहुत सा धन हार जाता है और धन देने के भय से वह चारुदत्त के घर भाग आता है। चारुदत्त उसे ऋण मुक्त कर देते हैं। संवाहक बौद्ध भिक्षु बन जाता है। उसी दिन प्रात:काल वसन्तसेना का हाथी रास्ते में किसी भिक्षुक को कुचलना ही चाहता है कि उसका सेवक कर्णपूरक उसे बचाता है। चारुदत्त अपना बहुमूल्य दुशाला उपहार में देते हैं।

तीसरे अङ्क का नाम 'सन्धिच्छेद' है। वसन्तसेना की दासी मदनिका को शर्विलक सेवा से मुक्त करना चाहता है। वह ब्राह्मण है; परन्तु प्रेमपाश में बँधकर आर्य चारुदत्त के घर में सेंध मारता है और वसन्तसेना का गहना चुरा लेता है। चतुर्थ अङ्क का नाम 'मदनिका-शर्विलक' है, जिसमें शर्विलक अलंकार लेकर वसन्तसेना के घर जाता है और मदनिका को सेवामुक्त कर देता है। चारुदत्त की पतिव्रता पत्नी धूता अपनी बहुमूल्य रत्नावली उसके बदले में देती है। मैत्रेय रत्नावली लेकर वसन्तसेना के महल में जाता है और जूए में हार जाने का बहाना कर रत्नावली देता है। वसन्तसेना सायंकाल चारुदत्त के घर आने के लिये वादा करती है। पाँचवें अङ्क का नाम 'दुर्दिन' है। इसमें वर्षा का विस्तृत वर्णन है।

षष्ठ अङ्क का नाम 'प्रवहणविपर्यय' है तथा सप्तम का 'आर्यकापहरण'। प्रातः काल चारुदत्त पुष्पकरण्डक नामक बगीचे में गये हैं। उनसे भेंट करने के लिये वसन्तसेना जाना चाहती है; परन्तु भ्रम से शकार की गाड़ी में, जो समीप में खड़ी थी, जा बैठती है। इधर राजा पालक किसी सिद्ध की भविष्यवाणी पर विश्वास कर गोपाल के पुत्र आर्यक को कैदखाने में बन्द कर देता है। आर्यक कारागृह से भाग कर चारुदत्त की गाड़ी में चढ़ जाता है। शृङ्खला की आवाज को भूषण की झनझनाहट समझ गाड़ीवान गाड़ी हाँक देता है। रास्ते में दो पुलिस के सिपाही गाड़ी देखने जाते हैं जिनमें से एक आर्यक को देख उसकी रक्षा करने का वचन देता है और अपने साथी से किसी बहाने झगड़ा कर बैठता है। आर्यक बगीचे में चारुदत्त से भेंट करता है।

अष्टम अङ्क का नाम 'वसन्तसेना-मोटन' है। जब वसन्तसेना पुष्पकरंडक उद्यान में पहुंचती है, तब प्राणप्रिय चारुदत्त के स्थान पर दुष्ट शकार—संस्थानक—मिलता है, जो उसकी प्रार्थना न स्वीकार करने से वसन्तसेना का गला घोंट डालता है। संवाहक, जो भिक्षु बन गया है, वसन्तसेना को समीप के विहार में ले जाता है और योग्य उपचार से उसे पुनरुज्जीवित करता है।

नवम अङ्क में, जिसका नाम 'व्यवहार' है, शकार चारुदत्त पर वसन्तसेना के मारने का अभियोग लगाता है। कचहरी में जज के सामने मुकदमा पेश होता है। उसी समय चारुदत्त का बालक-पुत्र रोहसेन मृच्छकट—मिट्टी की गाड़ी—लेकर आता है, जिसमें वसन्तसेना के दिये सोने के गहने हैं। इसी के आधार पर चारुदत्त को फाँसी का हुक्म होता है। 'संहार' नामक दशम अंक में उसी समय राज्यपरिवर्तन होता है। पालक को मारकर चारुदत्त का परम मित्र आर्यक राजा बन जाता है। वह चारुदत्त को क्षमा ही नहीं कर देता, प्रत्युत मिथ्याभियोग के कारण शकार को फाँसी का हुक्म देता है, परन्तु चारुदत्त के कहने से क्षमा कर देता है। वसन्तसेना के साथ चारुदत्त का ब्याह सम्पन्न होता है। इसी अन्तिम प्रेम-मिलन के साथ यह रूपक समाप्त होता है।

शूद्रक के नाम से 'पद्मप्राभृतक' नामक भाण प्रकाशित है। भाण का कथानक बहुत ही सुन्दर है और उसमें वर्णित विषयों की प्राचीनता भी स्पष्ट दीखती है। अतः मृच्छकटिक के रचयिता शूद्रक पद्मप्राभृतक के भी कर्ता हैं; इसे मानने में आपत्ति नहीं जान पड़ती।

मृच्छकटिक का रूपकत्व

'मृच्छकटिक' नाटक नहीं है, प्रकरण है। प्रकरण का नायक धीर-प्रशान्त होता है। मृच्छकटिक का नायक ब्राह्मण चारुदत्त भी धीर-प्रशान्त है। प्रकरण का वृत्त—कथावस्तु-भी नाटक की भाँति प्रख्यात नहीं रहता, बल्कि कवि-कल्पित हुआ करता है। मृच्छकटिक की कथा—चारुदत्त तथा वसन्तसेना का संगम—शूद्रक के उर्वर मस्तिष्क की उपज है, इतिहास-पुराण आदि में प्रसिद्ध नहीं। वस्तु तथा नेता के अतिरिक्त अन्य लक्षणों से युक्त होने से अवश्य ही यह प्रकरण है। 'मृच्छकटिक' के नामकरण का कारण चारुदत्त के पुत्र की मिट्टी की गाड़ी है, जिसमें लड़के को प्रसन्न करने के लिये वसन्तसेना ने अपने सोने के आभूषण उतार कर भर दिये थे और जिसके कचहरी में

ले आने से आधिकरणिक को चारुदत्त के अभियोग का प्रत्यक्ष प्रमाण मिल गया था। इसी के आधार पर जज को निश्चय हो गया कि चारुदत्त ने अवश्य ही वसन्तसेना की हत्या की है। यह घटना इस रूपक में बड़े महत्त्व की है। अतः इसीके कारण इस रूपक का नामकरण किया गया है।

मृच्छकटिक का वैशिष्टय

मृच्छकटिक संस्कृत का प्रमुख सामाजिक नाटक है—समाज के निम्न-स्तरीय व्यक्तियों का उज्ज्वल चित्रों से मण्डित नाटक। संस्कृत का कवि चोरों, जुवाड़ियों, बदमाशों तथा रंडीबाजों का चरित बहुत ही कम चित्रित करता है, परन्तु शूद्रक के हाथों ये ही जीव अपने स्वाभाविक वैभव के साथ रंगमंच की शोभा बढ़ाते हैं। शूद्रक इस समाज के अंगप्रत्यंग से, छोटी से छोटी बातों से गहरा परिचय रखते हैं। इस प्रकरण में कहीं हम चोर ब्राह्मण को चोरी के लिये जरूरी साधनों को इकट्ठा करते पाते हैं, तो कहीं जुवाड़ियों को कौड़ी फेंकते तथा धौलधप्पा जमाते हुये देखते हैं। कहीं पुलिस के आदमियों को गाड़ी की तलाशी लेते हुये देखते हैं, तो कहीं शहर की मशहूर गणिका को धन के लोभ से हत्या करते हुए पाते हैं। गरज यह है कि यह नाटक परम्परागत पात्रों का चित्रण नहीं है, प्रत्युत समाज के रंगीनी तबीयत वाले शोहदों, गुण्डों तथा दुराचारियों के नाना प्रकार के रंगीन और संगीन चित्रों से चमकता हुआ सचमुच एक सिनेमा है। पात्र खुले व्यक्तित्व से मण्डित हैं। इस प्रकरण को देख कर जान पड़ता है हम अपराधों से दूषित किसी आधुनिक नगर के वातावरण में विचरण कर रहे हैं। इसके दृश्य विश्व के किसी भी सभ्य कहलाने वाले नगर में आज भी प्रत्यक्ष किये जा सकते हैं। मृच्छकटिक का आकर्षण एकदेशीय न होकर सार्वभौम है; और यही इसकी लोकप्रियता का मुख्य हेतु है। पाश्चात्य आलोचक शूद्रक की इस कृति पर हृदय से रीझता है और इससे जनजीवन की झाँकी प्रस्तुत करने वाली अपूर्व और बेमिसाल रचना मानता है।

इस प्रकरण की कथावस्तु के दो अंश हैं—पहिला भाग चारुदत्त तथा वसन्तसेना का प्रेम, दूसरा भाग आर्यक की राज्यप्राप्ति। शूद्रक ने पहले अंश को भास के 'दरिद्र-चारुदत्त' नाटक से अविकल लिया है। शब्दतः और अर्थतः दोनों प्रकार की समता इसमें दृष्टिगोचर हो रही है। जिज्ञासुजन दोनों को साथ-साथ पढ़ कर इस समता को जाँचें। राजनीतिक भाग कवि की अपनी

सम्पत्ति है। यह अंश किसी ऐतिहासिक घटना को लक्ष्य करके लिखा गया है कि नहीं ? इसका निश्चित उत्तर नहीं दिया जा सकता। बहुत से आलोचक इस अंश को प्राचीन ऐतिहासिक घटना के आधार पर लिखा गया मानते हैं। दोनों अंशों को शूद्रक ने बड़ी सुन्दरता के साथ सम्बद्ध किया है। पंचम अंक के विस्तृत वर्षा-वर्णन को छोड़ शेष अंकों में अभिनय की सर्वत्र प्रधानता परिलक्षित हो रही है।

चरित्र-चित्रण

शूद्रक चरित्र-चित्रण में खूब सिद्धहस्त हैं। इनके पात्र जीते-जागते सजीवता की मूर्ति हैं। प्रत्येक पात्र में कुछ न कुछ विशेषता है। मृच्छकटिक का नायक चारुदत्त है। प्रकरण का नायक धीर-प्रशान्त ब्राह्मण, वणिक् या मन्त्री हुआ करता है। चारुदत्त ब्राह्मण है तथा धीर-प्रशान्त है। शूद्रक ने चारुदत्त के रूप में भारत के आदर्श नागरिक का चित्र खींचा है। वह सदाचार का निदर्शन है। कवि ने विट के द्वारा चारुदत्त का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है—

दीनानां कल्पवृक्षः स्वगुणफलनतः सज्जनानां कुटुम्बी
आदर्शः शिक्षितानां सुचरितनिकषः शीलवेलासमुद्रः।
सत्कर्ता नावमन्ता पुरुषगुणनिधिर्दक्षिणोदारसत्त्वो
ह्येकः श्लाघ्यः स जीवत्यधिकगुणतया चोच्छ्वसन्तीव चान्ये॥

(१।४८)

चारुदत्त दीनों के लिये कल्पवृक्ष है। दरिद्रों की सहायता करते उसे दरिद्रता आ घेरती है, परन्तु फिर भी वह दीनों की सहायता करने से विरत नहीं होता। उसमें आत्माभिमान की मात्रा खूब है। उसे जानकर अत्यन्त दुःख होता है कि हमारे घर से छूंछे हाथ लौट जानेवाला चोर अपने मित्रों से मेरी दरिद्रता की निन्दा करेगा। स्वभाव उसका बड़ा उन्नत है। वसन्तसेना का अलंकार चोरी चला जाता है, उसे प्रसन्नता होती है कि उसके घर में सेंध मारनेवाला चोर विफल मनोरथ होकर नहीं गया। वसन्तसेना के अल्पमूल्य भूषण के बदले में बहुमूल्य रत्नावली देने में वह तनिक भी नहीं हिचकता। जो शकार उसके जीवन का ग्राहक था, जो उस पर वसन्तसेना के मारने का मिथ्या अभियोग लगा कर शूली पर चढ़ाये जाने का कारण था, उसी दुष्टबुद्धि मूर्ख शकार को वह क्षमा कर देता है। सचमुच चारुदत्त के रूप में हम एक आदर्श हिन्दू सज्जन का मनोरम चित्र पाते हैं।

वसन्तसेना उज्जयिनी की वेश्या है—इस प्रकरण की नायिका है। उसके चरित्र में हम अनेक स्त्रीसुलभ गुणों का सन्निवेश पाते हैं। वेश्या होने पर भी वह सच्चे प्रेम का मूल्य जानती है—माता के आग्रह करने पर भी वह धनी शकार की संगति नहीं चाहती और विरोध करने पर भी सदाचारी आर्य चारुदत्त की प्रेमपात्री बनने के लिये वह सतत उद्योग करती है। उसका हृदय अत्यन्त कोमल है। सेवकों पर दया करना उसका स्वभाव है। यद्यपि शकार उसे मार डालने का उद्योग करता है, तथापि वह अपने सद्गुणों के कारण जीवित बच जाती है। वसन्तसेना तथा चारुदत्त के अतिरिक्त अन्य पात्रों के भी चरित्र-चित्रण में शूद्रक को सफलता प्राप्त हुई है। धूता सच्ची पतिव्रता हिन्दू नारी है, जो अपने पतिदेव की प्रसन्नता के लिये कठिन से कठिन संकट झेलने के लिये उपस्थित है। अपने पति को कलंक से बचाने के लिये वसन्तसेना के अल्पमूल्य आभूषण के लिये बहुमूल्य रत्नावली देते समय उसे तनिक भी दुविधा नहीं होती। रोहसेन भी स्निग्ध हृदयपुत्र है। मैत्रेय केवल मोदक से अपनी उदरज्वाला को शान्त करनेवाला 'औदरिक'—पेटू— नहीं है, न वह केवल हास्य का साधन है, प्रत्युत वह एक सच्चा मित्र है— विपत्ति में साथ देनेवाला सच्चा बन्धु। अन्य साधारण पात्रों में शर्विलक का चरित्र सज्जनता तथा दुर्जनता का अपूर्व मिश्रण है। वेश्या की गृहदासी मदनिका को अपनी प्रियपात्री बनाने में यह ब्राह्मण देवता तनिक भी नहीं सकुचाते—उसे ऋणमुक्त करने क लिए चोरी करने में कुछ भी लज्जा नहीं, परन्तु अपने मित्र आर्यक के कारागृह में बन्धन की वार्ता सुन वह अपनी प्रणयिनी को छोड़ सहायता करने के लिये खम ठोककर 'मैदाने जंग' में आ जुटता है।

मृच्छकटिक में सबसे विचित्र नाटकीय पात्र है—शकार। यह राजा का श्यालक है। नाम है संस्थानक। यह गर्व का जीता-जागता पुतला है। इसमें दया छूकर भी नहीं है। वसन्तसेना को प्रणयपाश में बाँधना चाहता है, परन्तु वह इस मूर्ख को पसन्द नहीं करती। शकार चारुदत्त का अकारण शत्रु है। वसन्तसेना का गला अपने ही घोंट डालता है, परन्तु दोष मढ़ता है चारुदत्त के सिर। अपने किये कर्म का फल चखने का भी सुयोग उसे आता है, परन्तु चारुदत्त उसे क्षमा कर देता है। शकार के कथन सर्वथा दोषयुक्त होते

हैं— लोक व्यवहार से विरुद्ध, तथा क्रमहीन। उपमायें नितान्त दुष्ट, इतिहास-विरुद्ध तथा सर्वथा असंगत होती हैं। उसकी भाषा शकारबहुला शकारी कहलाती है—

> झाणज्झणन्तबहुभूशणशद्दमिश्शं
> कि दोवदी विअ पलाअशि लामभीदा।
> एशे हलामि शहशत्ति जधा हणूमे
> विश्शावशुश्श बहिणिं विअ तं शुभद्दम्॥

अरी! अपने गहनों को झनझनाती हुई राम से डरी हुई द्रौपदी की तरह क्यों भाग रही हो? मैं तुम्हें उसी भाँति ले भागता हूँ, जिस प्रकार हनुमानजी विश्वावसु की भगिनी सुभद्रा को ले भागे थे।

केवल यही पद्य अकेले ही शकार की उक्ति का वैचित्र्य दिखलाने के लिये पर्याप्त है। वह इतिहास-पुराण की कितनी बड़ी जानकारी रखता है कि द्रौपदी को रामचन्द्र से डर कर भागनेवाली तथा हनुमान् को सुभद्रा का हरण करनेवाला बतलाता है!!!

अनुपम व्यक्तित्व से मण्डित शकार का भारतीय रंगमंच पर अवतरण एक ही बार हुआ और वह भी राजा शूद्रक के हाथों। यह अवतरण इतना सटीक था कि वह नाट्य-शास्त्र के नियमों पर अपना प्रभाव छोड़ गया। अपार्थ अक्रम, व्यर्थ, पुनरुक्त, हतोपम, लोकन्याय विरुद्ध वचन को शकार की वाणी बतलानेवाला पात्र शूद्रक की निजी कल्पना है—अद्वितीय तथा अनुपम, सामाजिक पाप का प्रतीक तथा असंगति का जीवन्त प्रतिनिधि। शकार की, अकेली कल्पना से ही शूद्रक संस्कृत-साहित्य में अमर हो गये!!!

रचना-शैली

शूद्रक की शैली बड़ी सरल है। बड़े-बड़े छन्दों का बहुत कम प्रयोग किया गया है। नये-नये भाव स्थान-स्थान पर मिलते हैं। इस प्रकरण का मुख्य रस शृंगार है। रस की विभिन्न सामग्री से परिपुष्ट कर शृंगार का सुन्दर रूप कवि ने दिखलाया है। शूद्रक ने वर्षा का बड़ा विशद वर्णन किया है। इसमें चमत्कार-जनक अनेक सूक्तियाँ हैं। धर्मप्राण चारुदत्त को मेघाच्छन्न आकाश के देखने पर वामन भगवान् की लीला स्मरण हो आती है—

मेघो जलार्द्रमहिषोदरभृङ्गनीलो
विद्युत्प्रभारचितपीतपटोत्तरीयः ।
आभाति संहतवलाकगृहीतशङ्खः
खं केशवोऽपर इवाक्रमितुं प्रवृत्तः ॥
(५।२)

जल से भींगे भैंस के उदर तथा भौंरे की तरह मेघ नीला है। उसमें बिजुली की चमक पैदा हो रही है, यही पीली चादर जान पड़ती है। वलाका—वकपंक्ति—मेघ के समीप उड़ रही है। वह शंख की तरह है। आकाश में इस प्रकार मेघ को देखकर मालूम होता है कि दूसरे केशव नभोमण्डल को आक्रमण करने के लिये उद्यत हैं।

शर्विलक के चरित्र का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। ये ब्राह्मण देवता आर्य चारुदत्त के घर में रात को सेंध मारने जाते हैं। पहुँचने पर उन्हें मालूम पड़ता है कि वह अपना मानसूत्र भूल आये हैं। झट-पट गले में पड़े रहने वाले डोरे की—जनेऊ की— सुधि उन्हें हो आती है। बस आप इसी से अपना कार्य सम्पादन करते हैं। इस प्रसंग में यज्ञोपवीत की उपयोगिता सुन लीजिये—

यज्ञोपवीतं हि नाम ब्राह्मणस्य महदुपकरणद्रव्यम्, विशेषतोऽस्मद्विधस्य। कुतः—

एतेन मापयति भित्तिषु कर्ममार्गा-
नेतेन मोचयति भूषणसंप्रयोगान्।
उद्घाटको भवति यन्त्रदृढे कपाटे
दष्टस्य कीटभुजगैः परिवेष्टनञ्च ॥
(३।१७)

भाई, ब्राह्मणों के लिये जनेऊ बड़े काम की चीज है, विशेष करके हमारे जैसे (चोर) ब्राह्मण के लिये। क्योंकि जनेऊ से भीत पर सेंध मारने की जगह को नापते हैं। आभूषणों के बन्धन जनेऊ द्वारा छुड़ाये जाते हैं। यन्त्र से दृढ रूप से लगाये गये किवाड़ों को इसकी सहायता से खोलते हैं और यदि साँप या कीट काट खाय, तो उसे जनेऊ से बाँध भी सकते हैं (जिससे विष न चढ़े) ठीक ही है! चोर ब्राह्मण के लिये जनेऊ का और उपयोग ही क्या है?

—×—

५. हर्ष

लक्ष्मी की उपासना के साथ ही साथ सरस्वती की उपासना से सौभाग्य-शाली व्यक्तियों में हर्ष की गणना आदर और निष्ठा के साथ की जाती है। वे सप्तम शती के प्रथमार्ध में उत्तर भारत को शासन के एक सूत्र में बाँधने वाले मानी महीपाल थे वर्धनवंश के प्रतिष्ठापक थानेश्वर के महाराज प्रभाकर वर्धन के पुत्र, बाणभट्ट तथा मयूरभट्ट जैसे प्रतिभाशाली कवियों के आश्रयदाता तथा 'हर्ष-चरित' काव्य के कथापुरुष। चीनी परिव्राजक ह्वान च्वांग ने अपने भारत-यात्रा के विवरण में इनकी विशाल गुणग्राहिता, दानशीलता तथा प्रखर विद्वत्ता की प्रचुर प्रशंसा की है। इनका शासनकाल इनकी उदारनीति, धार्मिक सहिष्णुता तथा सुख-समृद्धि के लिये ऐतिहासिकों के सामने गुप्त साम्राज्य के सुवर्ण युग की एक भव्य आभा प्रकट करता था। ये सरस्वती के सेवकों के ही गुणग्राही और आश्रयदाता नहीं थे, प्रत्युत शारदा की स्वयं एकनिष्ठ उपासना करने के कारण नाटकारों की श्रेणी में लब्धकीर्ति थे। सोड्ढल कवि ने इसीलिये तो श्रीहर्ष को 'गीर्हर्ष' की उपाधि से अपनी 'उदयसुन्दरी' कथा में मण्डित किया है—ये वाणी के आनन्ददाता होने से वस्तुतः 'गीर्हर्ष' ही थे—

> श्रीहर्ष इत्यवनिवर्तिषु पार्थिवेषु
> नाम्नैव केवलमजायत वस्तुतस्तु।
> गीर्हर्ष एव निजसंसदि येन राज्ञा
> संपूजितः कनककोटिशतेन बाणः॥

हर्ष एक रसिक नाटकरचयिता कवि थे। इन्होंने इन तीन रूपकों की रचना की—रत्नावली, प्रियदर्शिका तथा नागानन्द। पहिली दोनों रचनायें नाटिका की श्रेणी में आती हैं और ये दोनों ही संस्कृत-साहित्य में नाटिका कोटि की आद्य कृतियाँ हैं, जिनका वर्ण्यविषय वत्सराज उदयन की प्रणय-कथा है। प्राचीनकाल में वत्सों के राजा उदयन तथा अवन्तिदेश की राजकुमारी वासवदत्ता की प्रेम-कथा विदग्धों के मनोरञ्जन की मञ्जुल सामग्री रही है। कालिदास के समय में विक्रम की प्रथमशती में भी यह इतनी लोकप्रिय थी कि अवन्तिक गाँवों के वृद्धजन इस प्रणयकथा के नितान्त जानकार थे तथा इस कथा से सम्बद्ध स्थानों को दिखला कर वे युवक जनों की जानकारी के साथ-साथ विशुद्ध प्रेमाभिरुचि भी बढ़ाते थे। हर्ष इसी रोमाञ्चक सरस

प्रणयकथा का आश्रय लेकर अपनी दो नाटिकाओं का प्रणयन किया। दोनों मिलकर इस कथा के विविध अंशों की पूर्ति करती हैं तथा पृथक् रूप से दर्शकों के हृदय में रसबोध कराती हैं।

रत्नावली

'रत्नावली' में चार अंक हैं। राजा उदयन का प्रधान अमात्य यौगन्धरायण कूटनीति में प्रवीण मन्त्री है। वह अपने राजा के ऊपर आने वाली भावी विपत्ति को दूर हटाने की गरज से सिंघल देश की राजकुमारी रत्नावली के साथ विवाह का प्रस्ताव करता है। जहाज के डूब जाने पर सुयोग से रत्नावली अमात्य के पास लाई जाती है, जो उसे सागरिका नाम से पट्टमहिषी वासवदत्ता की अनुचरियों में स्थान दिला देता है। प्रमदवन में सुन्दरी सागरिका वासदत्ता की ही भाँती उदयन के हृदय में स्नेह उदित करती है, परन्तु वासवदत्ता की प्रभुता दोनों के मिलन में बाधक सिद्ध होती है। सागरिका वासवदत्ता का वेष धारण कर राजा से मिलने जाती है, परन्तु इस घटना की भनक वासवदत्ता के कानों में पहिले पड़ जाती है। वह इस सम्भावित प्रेम-मिलन से पहिले ही पहुँच जाती है। सारी योजना छिन्न-भिन्न हो जाती है। सागरिका कैद कर ली जाती है। अन्त में किसी जादूगर की करामात से वह भूगर्भ से निकाल ली जाती है, और सिंघल नरेश के मन्त्री द्वारा पहचान ली जाती है। अनन्तर वासवदत्ता के अनुमोदन पर उदयन तथा रत्नावली का विवाह सम्पन्न होता है। 'प्रियदर्शिका' में इसी प्रणयकथा का एक दूसरा ही रूप देखने को मिलता है।

नागानन्द

'नागानन्द' पाँच अंकों में समाप्त होने वाला नाटक है। इसमें बौद्ध अवदान या बौद्ध जातक की कथा नाटकीय रूप में अवतीर्ण की गई है। इसका नायक जीमूतवाहन गरुड़ से नागों की रक्षा के लिए अपने को उत्सर्ग कर देता है। जीमूतवाहन की इस प्रकार की अद्भुत परोपकार-भावना से प्रभावित होकर गरुड़ केवल उसी के ही प्राणों की रक्षा नहीं करता, प्रत्युत उससे पूर्व मारे गये समस्त नागों को स्वर्गीय अमृत की वर्षा कर जिला देता है और भविष्य में नागों के भक्षण से विरत होने की दृढ प्रतिज्ञा करता है। जीमूतवाहन के माता-पिता को अपने प्रियपुत्र के प्राणों की रक्षा से अतीव हर्ष होता है। दर्शकों पर विशुद्ध परोपकार के सुन्दर परिणाम की छाप डाल कर नाटक समाप्त होता है।

समीक्षण

इन तीनों नाटकों में 'रत्नावली' की ख्याति प्राचीन काल में सातिशय थी। दशम शती के अन्त में उत्पन्न धनिक ने दशरूपक की अपनी 'आलोक' व्याख्या में रत्नावली को नाटकीय संविधान की दृष्टि से आदर्श माना है। पञ्चसन्धियों के दृष्टान्तों से इसे पूर्ण तथा महत्त्वशाली बतलाया है। इससे लगभग दो सौ वर्ष पूर्व प्रणीत 'कुट्टनीमत' में दामोदर गुप्त ने 'रत्नावली' के काशी में अभिनय की चर्चा की है जिससे अष्टम शती के उत्तरार्ध में इसकी विपुल प्रसिद्ध तथा लोकप्रियता का संकेत निश्चयेन मिलता है। ये इसकी समता रत्न से करते हुये कहते हैं—

सुश्लिष्टसन्धिबन्धं सत्पात्रसुवर्णयोजितं सुतराम्।
निपुणपरिक्षकदृष्टं राजति रत्नावलीरत्नम्॥

(कुट्टनीमत, आर्या ६४७)

वास्तव में रत्नावली संस्कृत के रूपक-साहित्य में रत्न के समाम उद्दीप्त तथा उज्ज्वल है— सुश्लिष्ट सन्धियों से युक्त, सुन्दर मात्र तथा सुन्दर कविता से मण्डित तथा निपुण आलोचक के द्वारा प्रशंसित। यह संस्कृत की प्रथम नाटिका है, जो नाट्यशास्त्रीय दृष्टि से ही सुसंगत नहीं है, प्रत्युत काव्यपक्ष से भी हृदयावर्जक है। यह रोमाञ्चक प्रणय-नाटिका है जिसकी सफल रचना दरबारी वातावरण में हुई है। लेखक स्वयं राजा है। फलतः उसे राजमहल के पेचिदे प्रणय-कलह और रनिवास के स्निग्ध प्रेमसघर्ष की पूरी जानकारी है। वह मानव हृदय की, विशेषतः स्त्रियों की, अच्छी परख रखता है। इस नाटक में वेषपरिवर्तन से उत्पन्न भ्रान्ति इतनी मनोरञ्जक और आकर्षक रूप से चित्रित की गई है कि अंग्रेजी साहित्यविदों को महाकवि शेक्सपीयर के 'कामेडी आफ एरर' नामक नाटक की स्मृति आये विना नहीं रह सकती। रत्नावली के सौन्दर्य का भी चित्रण बड़ी सुन्दर तूलिका से किया गया है। हर्ष ने रत्नावली के मुख की चन्द्र के साथ समता कितनी रुचिरता से की है—

किं पद्मस्य रुचिं न हन्ति नयनानन्दं विधत्ते न किं
वृद्धिं वा झषकेतनस्य कुरुते नालोकमात्रेण किम्।
वक्त्रेन्दौ तव सत्ययं यदपरः शीतांशुरुज्जृम्भते
दर्पः स्यादमृतेन चेदिह तवाप्यस्त्येव बिम्बाधरे॥

(रत्नावली ३।१३)

[राजा उदयन सागरिका से कह रहा है कि तुम्हारे चन्द्रवदन के रहने पर वह दूसरा चन्द्रमा क्यों उदय ले रहा है ? तुम्हारे मुख में चन्द्र के समस्त कार्य विशद रूप से विद्यमान हैं—कमल की शोभा का हनन, नयनानन्द का विधान, कामदेव का वर्धन। यदि अमृत रखने से चन्द्रमा गर्वीला बना हुआ है, तो वह क्या तुम्हारे बिम्बाधर में नहीं है ? बिम्बाधर की सुधा सुधाकर की सुधा से मिठास में न्यून है ? कभी नहीं, तो यह विफल प्रयास उदय के लिए क्यों ?]

दोनों के नाटिका होने पर भी 'रत्नावली' के सामने 'प्रियदर्शिका' फीकी जँचती है। सम्भवतः वह हर्ष की पहिली रचना हो, जिसमें कवि की लेखनी नाटक लिखने का प्रथम प्रयास कर रही हो। इसीलिए वह रत्नावली की अपेक्षा कम लोकप्रिय तथा कम प्रसिद्ध है।

परन्तु हर्ष की अन्तिम रचना नागानन्द-नायक जीमूतवाहन के रूप में एक परोपकारी, सद्गुणमण्डित दिव्य चरित्र के चित्रण के कारण नितरां लोकप्रिय रही है। जीमूतवाहन पितृभक्ति का उज्ज्वल प्रतीक है, जो विशाल साम्राज्य के वैभव और सौख्य को लात मारकर अरण्यवास को ही आदर्श मानता है। उसे कल्पवृक्ष को दीनजनों के हित दान देते समय तनिक भी हिचकिचाहट नहीं होती। परोपकार की वेदी पर आत्मसमर्पण उसके जीवन का महान् उद्देश्य है। अतः गरुड़ के द्वारा संत्रस्त नागों की रक्षा के लिए अपने-आप को समर्पित कर देता है। उसके अंग-प्रत्यंग को नोचकर खाने वाले गरुड़ को उसके मानव होने का आभास मिलता है और वह उसके खाने से रुक जाता है। तब जीमूतवाहन उसे ललकारता है—

शिरामुखैः स्यन्दत एव रक्तम्
अद्यापि देहे मम मांसमस्ति।
तृप्तिं न पश्यामि तवापि तावत्
किं भक्षणात् त्वं विरतो गरुत्मन् ॥

(नागानन्द ५।१६)

[आशय है कि मेरे शरीर की शिराओं के मुख से अभी तक खून चू रहा है; अभी भी मेरे देह में मांस है; तुम्हारी तृप्ति भी मैं नहीं देखता ! तब पक्षिराज तुम भोजन से क्यों रुक रहे हो ? प्रेम से मेरे शरीर को खा डालो।]

ऐसी उपक्रान्ति तथा जीवन की ममता से हीन व्यक्ति सचमुच दयावीर है—शास्त्रीय परिभाषा में धीरोदात्त है। यह नाटक किसी बौद्ध जातक की घटना के आधार पर निर्मित है। फलत: हर्ष को बौद्ध धर्म के प्रति भी उतना ही प्रेम था जितना वैदिकधर्म के प्रति। इतिहास इस तथ्य का साक्षी है। रत्नावली जैसी प्रणय-नाटिका तथा नागानन्द जैसे आदर्शचरित नाटक के रचयिता हर्ष का नाम संस्कृत-साहित्य के इतिहास में बड़े गौरव से स्मरण किया जायगा; इस विषय में आलोचकों के दो मत नहीं हो सकते।

—x—

६. भट्टनारायण

भट्टनारायण का 'वेणीसंहार' पण्डितसमाज में विशेष प्रसिद्ध है। इस नाटक के द्वारा महाभारत-युद्ध की महत्त्वपूर्ण घटना हमारे नेत्रों के सामने सजीव होकर झूलने लगती है। भट्टनारायण के जीवनचरित के विषय में हम विशेष नहीं जानते। कहा जाता है कि वे उन पाँच कनौजिया ब्राह्मणों में अन्यतम थे जिन्हें बङ्गाल के राजा 'आदिशूर' ने वैदिकधर्म के प्रचार तथा उद्धार के लिये कन्नौज से अपने देश में बुलाया था। इनके वंशज कुलीन ब्राह्मण आज भी बङ्गाल में विद्यमान हैं। इनके जीवन-चरित के विषय में इससे अधिक पता नहीं चलता।

स्थिति काल

वामन ने अपने 'काव्यालङ्कार' में वेणीसंहार के एक पद की शुद्धि प्रदर्शित की है—'पतितं वेत्स्यसि क्षितौ' (वेणीसंहार नाटक) में 'वेत्स्यसि' को दो पदों (वेत्सि + असि) में विभक्त करके व्याकरण से इसकी शुद्धता बताई गई है। इससे स्पष्ट है कि ८०० ई० के पूर्व ही इस नाटक की रचना हो चुकी थी। आदिशूर के समसामयिक होने से भी यही निष्कर्ष निकलता है। आदिशूर ७१५ ई० में गौडदेश के राजा बने—ऐतिहासिकों का ऐसा कहना है। ये उस वंश के आदि पुरुष हैं जिसने पालवंश के पहले गौड देश में राज्य किया था। डाक्टर स्टेनकोनो का कहना है कि आदिशूर मगधदेश के गुप्तवंशी नरेश आदित्यसेन से अभिन्न हैं, परन्तु यह कल्पनामात्र है। अतः भट्टनारायण को अष्टम शतक के प्रथमार्ध में मानना ठीक है।

वेणीसंहार

भट्टनारायण की एकमात्र रचना 'वेणीसंहार' है। यह नाटक महाभारत के एक प्रसिद्ध घटना पर आश्रित है—द्रौपदी के द्वारा वेणी का बाँधना (वेणी + संहार)। दुःशासन के अपवित्र हाथों द्वारा घसीटने से द्रौपदी की वेणी जिस समय खुल गई, उसी समय द्रौपदी ने यह दृढ़ प्रतिज्ञा की कि अपने अपमान के कारणभूत दुर्योधन और दुःशासन की मृत्यु के बाद ही वह वेणी बाँधेगी। इसीलिए यह प्रधान घटना के ऊपर आधारित नामकरण है इस प्रख्यात नाटक का।

नाटक में छः अंक हैं। प्रथम अंक में श्रीकृष्ण के दौत्य कार्य तथा उसमें असफलता का वर्णन है। द्वितीय अंक में दुर्योधन तथा उसकी साध्वी पत्नी भानुमती के परस्पर प्रेमालाप की चर्चा है, जहाँ भानुमती अपने दुष्ट स्वप्न की चर्चा कर अपने पतिदेव के भावी अनिष्ट की आशंका से भयभीत होती है। तृतीय अंक में आरम्भिक प्रवेशक के द्वारा रुधिरप्रिय नामक राक्षस और उसकी वसागन्धा नाम्नी पत्नी धृष्टद्युम्न के हाथों द्रोणाचार्य के वध का संकेत देते हैं। अश्वत्थामा इस अनुचित कार्य से पितृवध का प्रायश्चित केशव तथा पाण्डवों की हत्या द्वारा करने की प्रतिज्ञा करते हैं। कर्ण के साथ उनका संघर्ष होता है, जो दुर्योधन के बीच-बचाव से कथमपि शान्त हो जाता है। चतुर्थ अंक में सुन्दरक द्वारा युद्ध का केवल लम्बा वर्णन ही है, नाटकीय क्रिया या व्यापार का सर्वथा अभाव है। पंचम अंक में कौरवों के दो प्रधान वीर दुःशासन और कर्ण की मृत्यु के संवाद से दुर्योधन विचलित हो उठता है, जो अश्वत्थामा के समझाने-बुझाने पर किसी प्रकार धीरज रखता है। षष्ठ अंक में पूर्व निर्दिष्ट कथांशों का पर्यवसान होता है। यहाँ कथा में नाटकीय कौतूहल की अवतारणा बड़े अच्छे ढंग से की गई है। भीमसेन की विजय और दुर्योधन के उरुभंग का सच्चा समाचार देकर भृत्य पाञ्चालक युधिष्ठिर तथा द्रौपदी से पारितोषिक पाता है, परन्तु कौरवों के सुहृद् चार्वाकमुनि के आगमन से युधिष्ठिर के हर्ष में कमी हो जाती है—यह जान कर कि भीम का दुर्योधन के हाथों अन्त होने की घटना से अर्जुन ने युद्ध त्याग दिया है। युधिष्ठिर अग्नि में प्रवेश करने जा रहे हैं कि दुर्योधन के रक्त से रंजित हाथों से युक्त भीमसेन रंगमंच आते हैं, जिन्हें दुर्योधन समझ कर पहिले तो युधिष्ठिर त्रस्त होते हैं, परन्तु कंचुकी द्वारा पहिचाने जाने पर सच्ची बात से वे नितान्त प्रसन्न होते हैं। भीमसेन अपने

शोणित-सिक्त करों से द्रौपदी की वेणी बाँधते हैं और आनन्द के वातावरण के साथ नाटक समाप्त होता है।

समीक्षण

वेणीसंहार का विश्लेषण कर धनिक ने समस्त पञ्च सन्धियों की सत्ता यहाँ सिद्ध की है। फलतः शास्त्रीय दृष्टि से यह पूर्ण विकसित नाटक का प्रतिनिधित्व करता है। इस नाटक के नायक को लक्ष्यकर अलोचकों में मतभेद है। भीम, दुर्योधन, अश्वत्थामा और युधिष्ठिर—इनमें प्रत्येक को नायक मानने वाले कतिपय विद्वान् हैं, किन्तु मेरी सम्मति में युधिष्ठिर ही इस नाटक का नायक है। उसका रंगमंच पर अवतरण अन्तिम अंक में भले ही होता है, परन्तु उसकी उपस्थिति की सूचना अन्य अंकों की घटनाओं से भी मिलती ही रहती है। आधिकारिक फल का स्वामी ही नाटक का नायक होता है। अधिकारिक फल है राज्य की प्राप्ति और उसका भोक्ता स्वयं युधिष्ठिर ही है, अन्य कोई पात्र नहीं। ऐसी दशा में उसे नायकत्व से वंचित रखना नितान्त अनुपयुक्त प्रतीत होता है।

वेणीसंहार समग्र महाभारत की घटनाओं को नाटक रूप में दिखलाने का प्रथम उद्योग है और सफल उद्योग है। इतः पूर्व भास ने भी महाभारत को नाटकीय रूप में परिणत करने का प्रयास किया था, परन्तु उनके रूपक महाभारत की एक ही विशिष्ट घटना को केन्द्र मानकर विरचित हैं, समग्र महाभारत के नाटकीयरूपेण अवतरण के विषय में भट्टनारायण से पहिले किसी कवि ने हाथ नहीं लगाया था। फलतः कवि का यह प्रयास नितान्त श्लाघनीय तथा स्तुत्य है।

कवि अपने पात्रों के चित्रण में इतिहास का उल्लंघन नहीं करता। ऐतिहासिक व्यक्तियों का चित्रण इतिहास की कसौटी पर खरा उतरता है, परन्तु अश्वत्थामा के शौर्य तथा वीर्य की पूर्ण परिणति कवि ने नहीं दिखलाई है। उनका व्यक्तित्व पूर्णता से मण्डित नहीं कहा जा सकता। युधिष्ठिर, भीमसेन, दुर्योधन तथा दुःशासन—इन पात्रों का चित्रण काफी अच्छा है और महाभारत द्वारा प्रतिष्ठापित आदर्श के विरुद्ध नहीं है। नाटक का स्वभावतः मुख्य रस वीर रस ही है, शृंगार और रौद्र अंग रस हैं। कवि ने ओज गुण का निदर्शन बड़ी सुन्दरता से किया है।

भट्टनारायण वैष्णव कवि हैं। नान्दी में राधा का प्रथम उपन्यास इसका निदर्शन है। श्रीकृष्ण की भगवत्ता इस पद्य में चित्रित है—

आत्मारामा विहितरतयो निर्विकल्पे समाधौ
ज्ञानोत्सेकाद् विघटित-तमोग्रन्थय: सत्त्वनिष्ठा: ।
यं वीक्षन्ते कमपि तमसां ज्योतिषां वा पुरस्तात्
तं मोहान्ध: कथमयममुं वेत्ति देवं पुराणम् ॥

(वेणीसंहार १।२३)

[अपने में ही रमण करने वाले, निर्विकल्प समाधि में सर्वदा प्रेम रखनेवाले, ज्ञान के आधिक्य से जिन पुरुषों के अज्ञान की ग्रन्थियाँ खुल गई हैं, ऐसे सत्त्वनिष्ठ व्यक्ति, अर्थात् योगी लोग भी जिनको अंधकार और प्रकाश से परे देखते हैं, उन पुराण पुरुषोत्तम को यह मोह से अंधा होने वाला दुर्योधन भला कैसे जान सकता है ? उसकी योग्यता ही नहीं है कि वह श्रीकृष्ण के माहात्म्य तथा गौरव को जान सके ।]

भीमसेन की प्रतिज्ञा का भव्य निदर्शन इस पद्य में गया किया है—

चञ्चद्भुज-भ्रमित-चण्ड - गदाभिघात-
सञ्चूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य ।
स्त्यानावनद्ध-घन-शोणितशोणपाणि-
रुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीम: ॥

(१।२१)

[यह भीमसेन शीघ्र ही फड़कती हुई भुजाओं से घुमाकर फेंकी गई गदा के आघात से दुर्योधन की जांघों को चूर्ण कर देगा । अधिक मात्रा में गिरे हुए चपके हुए गाढ़े-गाढ़े रुधिर से जिसके हाथ लाल हो गए हैं ऐसा भीमसेन तुम्हारे इन खुले हुए बालों को स्वयं अपने हाथों से बाँधेगा । अत: तुम विश्वस्त रहो; तुम्हारा मनोरथ सिद्ध होकर रहेगा ।]

शास्त्र-दृष्टि से

युद्ध का रङ्गमञ्च पर प्रदर्शन सिद्धान्त-विरुद्ध है, इसलिये कवि ने वार्तालाप के द्वारा इसकी सूचना दी है। नाटक में जहाँ वर्णनात्मक अंश है वहाँ कार्य की गति अवश्य शिथिल होती है। हर एक प्रकार से ये अंश नाटक के सौन्दर्य को कुछ न्यून कर रहे हैं। पात्रों में सजीवता खूब है। धर्मराज की चिन्ता अपनी प्रजा के कल्याण के लिए जितनी अधिक है उतनी अपने शरीर के लिये नहीं । दुर्योधन का अभिमान सजीव होकर दर्शकों के सामने आता है ।

भीम शौर्य के प्रतिनिधि हैं, परन्तु उनमें उतावलापन इतना अधिक है कि कभी-कभी जोश में आकर अपने न्यायी भ्राता युधिष्ठिर के शासन का उल्लंघन करने को भी उद्यत हो जाते हैं। अर्जुन में वीरता कूट-कूट कर भरी है। द्रौपदी भारतीय नारी की प्रतिष्ठा तथा आत्मगौरव की सजीव मूर्त्ति है। इस प्रकार चरित्रचित्रण नितान्त श्लाघनीय हुआ है। केवल द्वितीय अङ्क में युद्ध के अवसर पर दुर्योधन का भानुमती के साथ प्रेम-प्रदर्शन रसदृष्टि से अनुचित हुआ है। मम्मट ने इसे 'अकाण्डे प्रथनम्' (अनुचित स्थान में रस का विस्तार) के अन्तर्गत रक्खा है। नाटकीय सिद्धान्तों के प्रदर्शन के लिये तो यह नाटक एक अद्भुत भाण्डागार सा है। धनिक ने 'दशरूपकावलोक' में पञ्चसन्धियों के चौसठ प्रभेदों के लक्षण दिखलाते समय इस नाटक से उदाहरण लिये हैं। यह घटना इस नाटक की लोकप्रियता तथा शास्त्रीयता का पर्याप्त प्रमाण है।

—×—

७. भवभूति

महाकवि कालिदास की स्पर्धा करने की योग्यता यदि किसी कवि में है तो वह भवभूति में ही है। 'तिलक-मञ्जरी' के रचयिता धनपाल ने भवभूति की सरस्वती की नटी के साथ जो तुलना की है वह यथार्थ है। भवभूति के नाटकों में सचमुच भारती अपना ललित लास्य दिखलाकर सहृदयों का मनोरञ्जन करती है।

भवभूति विदर्भ देश (आधुनिक बरार) के पद्मपुर के निवासी थे। ये काश्यप गोत्री तथा कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा के मानने वाले महाराष्ट्र ब्राह्मण थे। इनके पितामह का नाम था भट्ट गोपाल, पिता का नीलकण्ठ, माता का जतुकर्णी तथा इनका व्यक्तिगत नाम था श्रीकण्ठ। उदुम्बर इनकी उपाधि थी। आजकल की शैली का अनुगमन करते हुए इनका पूरा नाम 'श्रीकण्ठ नीलकण्ठ उदुम्बर' होगा। 'भवभूति' तो इनको कवियों द्वारा दिया गया विशिष्ट नाम है। इनके पूर्वज सदाचार तथा वेदाध्ययन के लिये प्रसिद्ध थे। वे पंक्तिपावन तथा पाँच अग्नियों की स्थापना करने वाले सोमयाजी श्रोत्रिय ब्राह्मण थे। इन्होंने अपने गुरु का नाम ज्ञाननिधि बतलाया है, परन्तु दार्शनिक ग्रन्थों में उल्लिखित परम्परा के अनुसार ये मीमांसा के प्रसिद्ध आचार्य कुमारिल के शिष्य थे और दार्शनिक जगत् में इनका नाम भट्ट उम्बेक था।

उम्बेक

दर्शन ग्रन्थों में उम्बेक नामक आचार्य के मत तथा वाक्यों का निर्देश बहुशः मिलता है। चित्सुखाचार्य की 'तत्त्वप्रदीपिका' की टीका में 'प्रत्यक्-स्वरूप भगवान्' नामक टीकाकार ने उम्बेक की उस टीका का उल्लेख किया है जिसे उम्बेक ने कुमारिल के 'श्लोकवार्तिक' की एक कारिका पर की है। 'चित्सुखी' में उम्बेक का नाम भी आता है, जिसकी व्याख्या लिखते समय टीकाकार ने उम्बेक और भवभूति को एक ही अभिन्न व्यक्ति बतलाया है। इसके अतिरिक्त 'खण्डनखण्डखाद्य' की विद्यासागरी नामक टीका के रचयिता आनन्दपूर्ण ने श्लोकवार्तिक पर लिखी उम्बेक की टीका का उल्लेख किया है। षड्दर्शनसमुच्चय के टीकाकार गुणरत्न (१४०९) ने एक कारिका उद्धृत की है[1] जिसमें उम्बेक को कारिका का ज्ञाता बतलाया है। यह कारिकाग्रन्थ कुमारिल-विरचित 'श्लोकवार्तिक' ही है। सौभाग्य से उम्बेक-विरचित यह 'श्लोकवार्तिक' की टीका भी हाल ही में प्रकाशित हुई है। इनका दूसरा मीमांसा ग्रन्थ मण्डनमिश्र-विरचित 'भावनाविवेक' की टीका है। ये उम्बेक और भवभूति एक ही व्यक्ति थे। 'मालती-माधव' की एक बहुत प्राचीन हस्त-लिपि में भवभूति कुमारिल के शिष्य बतलाये गये हैं। प्राचीन परम्परा तथा नाटकों की अन्तरङ्ग परीक्षा करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि कुमारिल के शिष्य भट्ट उम्बेक ही हमारे नाटककार भवभूति हैं। कुछ लोग याज्ञवल्क्यस्मृति पर 'बालक्रीडा' नामक टीका लिखने वाले विश्वरूप आचार्य को भी भवभूति से अभिन्न मानते हैं। इस विषय की अधिक छानबीन अपेक्षित है।

समय

राजतरंगिणी से पता चलता है[2] कि भवभूति कान्यकुब्ज के विद्वान् राजा यशोवर्मा के सभापण्डितों में से थे :—

कविवाक्पतिराजश्रीभवभूत्यादिसेवितः ।
जितो यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिवन्दिताम् ॥

---

१. उम्बेकः कारिकां वेत्ति तन्त्रं वेत्ति प्रभाकरः ।
वामनस्तूभयं वेत्ति न किञ्चिदपि रेवणः ॥

२. राजतरङ्गिणी ४।१४४ ।

ये यशोवर्मा कान्यकुब्ज के राजा थे, जिन्हें कश्मीर के राजा मुक्तापीड ललितादित्य ने परास्त कर अपने वश में किया था। यह घटना ७३६ ई० के आसपास की बताई जाती है। यशोवर्मा की सभा के दूसरे कवि वाक्पति ने भवभूति को कविता को समुद्र कहा है जिसके कतिपय रसमय कण इस कवि की कविता में आज भी स्फुरित हो रहे हैं—

भवभूइ जलहि निग्गय कव्वामयरसकणा इव फुरन्ति।
जस्स विसेसा अज्जवि वियडेसु कहाणिवेसेसु[1] ॥
[भवभूति-जलधिनिर्गत-काव्यामृतरसकणा इव स्फुरन्ति।
यस्य विशेषा अद्यापि विकटेषु कथानिवेशेषु ॥]

इन वाक्पतिराज ने 'गउडवहो' नामक महाकाव्य में यशोवर्मा के द्वारा परास्त किये गये किसी गौडदेशीय राजा का वर्णन किया है। ललितादित्य का समय (७२४-७६० ई०) माना जाता है। यशोवर्मा इन्हीं के समकालीन थे। 'गौडवध' के ८२९ वें श्लोक में सूर्यग्रहण का उल्लेख है। डाक्टर याकोबी के अनुसार यह सूर्यग्रहण १४ अगस्त ७३३ ई० को पड़ा था। 'गौडवध' की रचना इसी समय में हुई। उस समय तक भवभूति अपने नाटकों के द्वारा पर्याप्त रूप से प्रसिद्ध हो चुके थे। अतः भवभूति का समय ७०० ई० के लगभग मानना नितान्त उचित है। बाण ने इनका नाम निर्दिष्ट नहीं किया है। अतः ये बाणभट्ट के पीछे हुए। वामन पहले आलङ्कारिक हैं जिन्होंने भवभूति के श्लोकों को उद्धृत किया है। अतः इनका समय बाणभट्ट (६२५) तथा वामनभट्ट (८००) के बीच ७०० ई० के आसपास होना चाहिए।

पाण्डित्य

भवभूति में विदग्धता और पाण्डित्य का अपूर्व मिलन है। उन्होंने वेद, उपनिषद्, सांख्य और योग के गाढ अध्ययन की ओर स्वयं संकेत किया है (मालती-माधव की प्रस्तावना में)। वेद तथा दर्शनों का ज्ञान उनका अगाध था। उनके नाटकों में उनके वैदिक ज्ञान की सूचना अनेक स्थानों पर पायी जाती है। 'महावीरचरित' में पुरोहित की प्रशंसा में 'राष्ट्रगोपाः पुरोहिताः'

---

1. गउडवहो—गाथा ७९९।

वाला ऐतरेय ब्राह्मण का प्रसिद्ध श्लोक उद्धृत किया गया है। उपनिषद् तत्त्व के तो वे परम ज्ञाता थे। 'उत्तररामचरित' में उन्होंने जनक के मुख से 'असूर्या नाम ते लोकाः' (ईशावास्योपनिषद्) की व्याख्या करायी है तथा 'विद्याकल्पेन मरुताम्' (उत्तर० ४।१६) श्लोक के द्वारा औपनिषद अद्वैतवाद का तात्त्विक वर्णन किया है। मालती-माधव में योग तथा तन्त्र का विशिष्टज्ञान दिखलाया गया है। भवभूति की भाषा में दर्शन के पारिभाषिक शब्द इस सरलता से अनायास आते हैं कि जान पड़ता है कि नाटककार इन दर्शनों के चिन्तन में सदा संलग्न रहा है। सचमुच भवभूति संस्कृत भारती के बेजोड़ कवि हैं, जिनमें पाण्डित्य और वैदग्ध्य का अनुपम मिलन सहृदयों के हृदय में चमत्कार तथा आनन्द का स्रोत बहाता है।

रचनाएँ

भवभूति की तीन रचनाएं मिलती हैं और तीनों ही नाटक हैं। इन नाटकों की रचना का क्रम निम्नलिखित प्रकार से प्रतीत होता है—

१. महावीरचरित—इसमें रामचरित का पूरा वर्णन नाटकीय रूप में किया गया है और इसमें छः अङ्क हैं। इस नाटक में कथानक के ऐक्य-प्रदर्शन करने का श्लाघनीय प्रयत्न किया गया है। राम के विरुद्ध जितने कार्य किये गये हैं वे सब रावण की प्रेरणा से ही। राम का चरित नितान्त उदात्त तथा वीरभावापन्न है। इस नाटक में वीर रस की प्रधानता है। राम को आदर्श पुरुष के रूप में दिखलाने के उद्देश्य से भवभूति ने राम के कितने ही दोषों को भिन्न रूप से प्रदर्शित किया है। बाली रावण का सहायक बनकर राम से लड़ने आया था, इसीलिये राम ने उसका वध किया।

२. मालती-माधव—यह दश अङ्कों का एक विशाल प्रकरण है। वस्तु कविकल्पनाप्रसूत है। मालती तथा माधव का प्रेम-प्रसङ्ग बड़े सुन्दर ढंग से चित्रित किया गया है। इसमें यौवन के उन्मादक प्रेम का बड़ा ही रसीला चित्रण है। पूरे प्रकरण में प्रेम की बड़ी ही ऊँची और उदात्त कल्पना दर्शकों के सामने रखी गयी है। धर्म से विरोध करने वाले प्रेम को भवभूति ने समाज के लिये हानिकारक समझकर उसकी उपेक्षा कर दी है।

३. उत्तररामचरित—उत्तररामचरित में रामायण का उत्तरार्द्ध प्रदर्शित है। राम के वन-प्रत्यागमन पर राजगद्दी पाने से लेकर सीता-मिलन तक की दुःखपूर्ण कथायें कुछ कल्पना-प्रसूत घटनाओं के साथ दिखाई गई हैं। भवभूति को

कवि-प्रतिभा का यह सर्वोच्च निदर्शन है। इसके तीसरे अंक में कवि ने कमाल किया है। एक ओर राम अपने वनवास के प्रियमित्र पंचवटी के परिचित स्थानों को देखकर सीता के लिये विलाप करते-करते मूर्छित हो जाते हैं, दूसरी ओर छाया-सीता राम के इस प्रेममय स्मरण से अपने वनवास के कठिन दुःखों को भी लात मारकर अपने जीवन को धन्य समझती हैं। राम इस छाया-सीता के स्पर्श का अनुभव तो अवश्य करते हैं, परन्तु आँखों से देख नहीं पाते। कवि ने खूब ही Poetic justice काव्य-न्याय दिखलाया है। सीता को वनवास देनेवाले राम के रुदन को दिखाकर कवि ने सीता के अपमानित तथा दुःख-भरे हृदय को बहुत शान्त किया है। करुणरस का प्रवाह जैसा इस अंक में दिखलाया गया है वैसा कदाचित् ही कहीं अन्यत्र दृष्टिगोचर हो। भवभूति ने बे-जान पत्थरों को भी रामचन्द्र के विलापों से खूब ही रुलाया है। ऐसा चमत्कार किसी कवि ने नहीं पैदा किया है। करुणरस की पराकाष्ठा को लक्ष्य कर कोई आलोचक कहता है :—

जडानामपि चैतन्यं भवभूतेरभूद् गिरा।
ग्रावाप्यरोदीत् पार्वत्याः हसतः स्म स्तनावपि॥

भवभूति की काव्य-कला

(१) भवभूति की कविता बड़ी चमत्कारिणी है। संस्कृत भाषा के ऊपर आपका पूरा प्रभुत्व है। वाग्देवी ब्रह्मा की तरह आपकी वश्या थी। इनकी कविता में भाषा तथा भाव में अनुपम सामञ्जस्य है; जैसा भाव वैसी भाषा। जो भवभूति भयंकर युद्ध के वर्णन के समय लम्बे समास वाले ओजोगुणविशिष्ट पद्य लिख सकते हैं, वही भवभूति ललितभाव के वर्णन करते समय ऐसा सुन्दर अनुष्टुप् लिख सकते हैं जिसमें एक भी समास है ही नहीं—

अकिञ्चिदपि कुर्वाणः सौख्यैर्दुःखान्यपोहति।
तत्तस्य किमपि द्रव्यं यो हि यस्य प्रियो जनः॥

भवभूति ने अनेक छोटे-बड़े छन्दों का प्रयोग अपने नाटकों में किया है, परन्तु आपकी शिखरिणी सबसे अच्छी है। क्षेमेन्द्र ने सुवृत्त-तिलक में भवभूति के शिखरिणी-वृत्त की प्रशंसा की है—

भवभूतेः शिखरिणी निरर्गलतरङ्गिणी।
चकिता घनसन्दर्भे या मयूरीव नृत्यति॥

(२) भवभूति ने जैसा उज्ज्वल विशद प्रेम का चित्र खींचा है वैसा संस्कृत-साहित्य में अत्यन्त दुर्लभ है। इस विषय में अन्य कवियों ने ही नहीं, प्रत्युत स्वयं कालिदास ने भी सांसारिक-वासना भरे काम का ही वर्णन किया है, विशुद्ध प्रेम का वर्णन कालिदास के ग्रन्थों में विशेष नहीं मिलता। भवभूति ने यौवनकाल की उद्दाम कामप्रवृत्ति का वर्णन मालतीमाधव में किया है और विश्वस्त हृदय के सच्चे, शुद्ध प्रेम का चित्र उत्तररामचरित में दिया है। भवभूति मानव हृदय में इस प्रेम के विकास के अच्छे पारखी थे। प्रारम्भिक तथा अन्तिम दशा में काम तथा प्रेम दोनों का निरीक्षण इन्होंने सूक्ष्म दृष्टि से किया था। नीचे के पद्य में उन्होंने सच्चे प्रेम की परिभाषा भली-भाँति दर्शायी है—

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगुणं सर्वास्ववस्थासु यद्
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः।
कालेनावरणात्ययात् परिणते यत्स्नेहसारे स्थितं
भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते॥

भावार्थ—सच्चा प्रेम सुख तथा दुःख में एकसा रहता है। हर दशा में, चाहे विपत्ति हो या सम्पत्ति, वह अनुकूल रहता है, जहाँ हृदय विश्राम लेता है, वृद्धावस्था आने से जिसमें रस की कमी नहीं होती। समय बीतने पर बाहर लज्जा, संकोच आदि आवरणों के हट जाने से जो परिपक्व स्नेह का सार बच जाता है वही सच्चा प्रेम है। प्रेम की क्या ही सुन्दर परिभाषा है।

भवभूति ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि यह प्रेम बाहरी रूप से हृदय में अंकुरित नहीं होता, बल्कि एक हृदय को दूसरे हृदय से जोड़नेवाला कोई भीतरी कारण होता है—

व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतु-
र्न खलु बहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते।
विकसति हि पतङ्गस्योदये पुण्डरीकं
द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चन्द्रकान्तः॥
(उत्तर० ६।१२)

भावार्थ—प्रीति किसी बाहरी कारण से पैदा नहीं होती, बल्कि कोई भीतरी कारण पदार्थों को आपस में मिलता है। कहाँ तालाब में सकुचा हुआ कमल और कहाँ आकाश में उदित सूर्य! परन्तु सूर्य के उदय होते ही कमल

खिल जाता है और चन्द्रमा के उदय होने पर चन्द्रकान्तमणि पिघलने लगता है। अतः वास्तव में प्रेम का उद्गम भीतरी करणों से होता है। भवभूति ने इस सिद्धान्त को दृढ करने के लिये सांसारिक उदाहरणों को न देकर प्रकृति के अटल नियमों का उल्लेख किया है। यह कवि के गूढ दार्शनिक विचारों को प्रकट कर रहा है।

(३) भवभूति मानव हृदय के सूक्ष्म भावों के सच्चे परिक्षक थे। उन्होंने विभिन्न अवस्थाओं में मानव हृदय के विकारों का सच्चा वर्णन किया है। उत्तर-रामचरित के तीसरे अंक में इसके कितने उदाहरण हैं। गर्भवती सीता तमसा के साथ पचवटी में जा रही हैं, अचानक रामचन्द्र के मसृण वचन उनके कर्णकुहरों में प्रवेश करते हैं। सुदीर्घ द्वादश वर्ष के वियोग के अनन्तर प्राण-प्यारे के इन वचनों को सुनकर सीता की हालत का वर्णन तमसा के मुख से कवि ने करवाया है—

तटस्थं नैराश्यादपि च कलुषं विप्रियवशाद्
वियोगे दीर्घेऽस्मिन् झटिति घटनोत्तम्भितमिव।
प्रसन्नं सौजन्यादपि च करुणैर्गाढकरुणं
द्रवीभूतं प्रेम्णा तव हृदयमस्मिन् क्षण इव॥

भावार्थ—हे सखी! तुम्हारा हृदय निराशा से—राम से संयोग होने की निराशा से—अभी उदासीन था तथा राम के इस दुर्व्यवहार से कुलषित था, परन्तु अब इस दीर्घ वियोग में अचानक भेंट हो जाने से बिल्कुल स्तब्ध हो गया है; राम की सुजनता से प्रसन्न है और विलापों के कारण इसमें शोक की तीव्र धारा चल रही है; राम के प्रेम प्रकट करने से यह हृदय आनन्द से पिघला जा रहा है। हृदय के भावों का सूक्ष्म विश्लेषण कितना तात्त्विक है।

(४) भवभूति चेतन मानवीय प्रकृति के ही सच्चे चित्रकार नहीं हैं, बल्कि जड़ प्रकृति के भी सफल शिल्पी हैं। उन्होंने प्रकृति का निरीक्षण बड़ी सावधानी से किया था। कालिदास ने प्रकृति के केवल कोमल पहलू का ही वर्णन किया है, परन्तु भवभूति की दृष्टि उसके भयङ्कर तथा कठिन दोनों पहलू पर गई थी। दण्डकारण्य का जैसा सच्चा वर्णन उत्तररामचरित में पाया जाता है; जंगल का वैसा वर्णन कादम्बरी को छोड़ अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता। संस्कृत के कवियों का प्राकृतिक वर्णन सदैव अलंकृत रहता है, जिससे लोगों को संदेह होने लगता

है कि क्या यह दृश्य कवि की कल्पना से प्रसूत हुआ है या उसके प्रकृति पर्यवेक्षण से ? परन्तु भवभूति का यह वर्णन अंग्रेज महाकवियों के समान (Detailed) विस्तृत तथा (Realistic) वास्तविक है। इस विषय में कोई भी संस्कृत का कवि हमारे चरित-नायक का मुकाबिला नहीं कर सकता। मालतीमाधव के श्मशान-वर्णन की भी यही विचित्रता है। दण्डकारण्य की भीषणता पर जरा दृष्टिपात करिये—जंगल का कोई भाग बिल्कुल शान्त है और कहीं हिंसक जानवरों की प्रचण्ड ध्वनि सुन पड़ती है। कहीं पर स्वेच्छा से सोये हुये विस्तृत फनवाले भुजंगों के श्वास से आग पैदा हो रही है। जल का नाम नहीं है; कहीं-कहीं छोटी गड़हियों में थोड़ा सा पानी झिलमिला रहा है; बेचारे प्यासे गिरगिटों को पानी नहीं मिलता। वे क्या करें, अजगर के पसीने को पीकर अपनी प्यास बुझाते हैं। कितना भयानक दृश्य है !

पहाड़ो पर सोते बहे चले जा रहे हैं। उनका रोचक वर्णन है—

इह समदशकुन्ताक्रान्तवानीरविरुत्-
प्रसवसुरभिशीतस्वच्छतोया वहन्ति।
फलभरपरिणामश्यामजम्बूनिकुञ्ज—
स्खलनमुखरभूरिस्रोतसो निर्झरिण्यः॥

भावार्थ—यह देखो, झरने बह रहे हैं। इनके किनारे वानीर लता उगी हुई है, उनके ऊपर मधुरकंठ वाले पक्षिगण विहार कर रहे हैं। उनके बैठने से लता के फूल झरनों में गिर जाते हैं, जिससे उनका पानी सुगन्धित हो जाते हैं। पहाड़ों से बहने के कारण नदियों का जल स्वभाव से ही शीतल तथा स्वच्छ है। उनकी धारायें पके हुये फलों से लदे काले जम्बू वृक्षों के कुञ्ज से टकराने पर अत्यन्त शब्द करती हुई अनेक मार्गों से बह रही हैं।

(५) भवभूति अनेक रसों के वर्णन में सिद्धहस्त हैं। इन्होंने वीर रस का सजीव वर्णन किया है। वीरों का गर्वीला गर्जन, अस्त्रों की झंकार, स्यन्दनों की खटखटाहट और बाणों की सनसनाहट—ये सब हमारे सामने सच्ची युद्धभूमि का चित्र हठात् उपस्थित कर देते हैं। मालतीमाधव में शृंगार रस का खासा वर्णन किया गया है। श्मशान-दृश्य में बीभत्स तथा भयानक की मात्रा यथेष्ट है। परन्तु भवभूति सबसे अधिक करुण रस के चित्रण में सिद्धहस्त हैं। कालिदास ने भी रतिविलाप के द्वारा करुण का करुणोत्पादक

कौतूहल खूब ही दिखलाया है, परन्तु भवभूति के वर्णन में कुछ अलौकिकता है, विचित्र चमत्कार है, जो अन्यत्र दीखने को नहीं मिलता। भवभूति करुण रस के प्रधान आचार्य हैं। आलंकारिकों में आदि-रस के विषय में बड़ा मत भेद है। महाराज भोजदेव श्रृङ्गार को ही रसों का सिरताज समझते हैं, तो शैवागम के अनुयायी काश्मीरी कविगण शान्त रस को ही मुख्य रस मानते हैं; परन्तु हमारे भवभूति ने करुण रस को ही सब में प्रधानता दी है। इन्हों ने अपनी सम्मति स्पष्ट शब्दों में दी है:—

एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्त्त-बुद्बुद-तरंगमयान् विकारा-
नम्भो यथा सलिलमेव तु तत्समग्रम्।

भावार्थ—करुण ही प्रधान रस है। रससामग्री (स्थायीभाव, आलम्बन, उद्दीपन आदी) की विभिन्नता से वह भिन्न होता हुआ भिन्न-भिन्न परिमाणों को धारण करता है, परन्तु है एक ही। एक ही जल कभी भँवर के रूप को, कभी बुद्बुदों तथा तरङ्गों के रूप को धारण करता है; परन्तु वास्तव में वह सब जल ही है। जब करुण रस के विषय में भवभूति की ऐसी उच्च धारणा थी, तब उनके करुण वर्णनों की क्या कथा ?

भवभूति की नाट्यकला

भवभूति का 'उत्तररामचरित' उनकी नाट्य-प्रतिभा को प्रकट करनेवाला सर्वोच्च नाटक है। भवभूति स्वभाव से ही गम्भीर प्रकृति के कवि हैं, जिन्हें अपनी अनुभूति से संसार में विषाद तथा वेदना का अधिक संचार दृष्टिगोचर होता है। फलतः वे भावप्रवण कवि हैं और इस भावप्रवणता का प्रभाव उनके नाटकों पर, विशेषतः उत्तररामचरित पर, अधिकता से पड़ा है। भावों के स्निग्ध चित्रण के कारण उत्तररामचरित गीति-नाटक (लिरिक ड्रामा) है, तो प्रकृति तथा युद्ध के वर्णनों के विन्यास के कारण यह 'एपिक ड्रामा' भी कहा जा सकता है। घटनाओं की योजना में मालती-माधव का दश अंकवाला प्रकरण कुछ अव्यवस्थित तथा दुर्व्यवस्थित भले ही दिखाई पड़े, परन्तु राम-सम्बन्धी दोनों नाटकों में घटनाशैथिल्य का सर्वथा अभाव है। 'उत्तर-रामचरित' में घटना का संविधान बड़े ही मनोवैज्ञानिक पद्धति पर प्रदर्शित किया गया है। प्रारम्भ में चित्र दर्शन की योजना बड़ी फलप्रद सिद्ध होती है। राम जैसे

एकपत्नीव्रतधारी पति सीता जैसी सती का पूर्णगर्भावस्था की स्थिति में परित्याग कर देते हैं, इस घटना को स्वाभाविक रीति से सम्भाव्य बनाने के लिये ही भवभूति ने चित्रदर्शन की कल्पना की है, जो कालिदास के संकेत के ही ऊपर आधारित (रघु० १४।२५) है, परन्तु भवभूति ने इसका पूर्ण नाटकीय साफल्य दिखलाया है। जंगल के पूर्वानुभूत दृश्यों को देखकर सीता के हृदय में उन्हें पुनः देखने की प्रबल अभिलाषा उदित होती है। वह राम से इसके लिये निवेदन करती हैं। राम को अपनी ओर से कठोर व्यवहार का आभास भी दिखलाना नहीं पड़ता और वह सीता के दोहद की पूर्ति के साथ ही साथ एक बड़े आवश्यक कार्य का नैसर्गिक ढङ्ग से सम्पादन कर देते हैं। इतना ही नहीं, गंगा और पृथ्वी देवी को सीता के लिये 'शिवानुध्यान पारायण' होने की प्रार्थना, जृम्भकास्त्र के दर्शन से लव-कुश के रामपुत्र होने की पहिचान, आदि घटनाओं का उद्देश्य 'चित्रदर्शन' के द्वारा भली-भाँति सिद्ध होता है। तृतीय अंक की 'छाया सीता' की कल्पना भवभूति के मनोवैज्ञानिक ज्ञान का एक विशिष्ट प्रतीक है। अपमानित नारी के साथ उसी पुरुष का पुनर्मिलन तबतक नहीं हो सकता, जबतक उसकी अपमानजनित वेदना का अपनयन स्वाभाविक रीति से न हो जाय। मानसिक ग्रन्थि का शैथिल्यकरण तथा हृदय में गुप्त विषाद का दूरीकरण सीता के पक्ष में तभी होता है जब वह राम के मुँह से स्वयं अपनी प्रशंसा सुनती हैं। उनके विषण्ण हृदय पर यह अंक ठंडे मलहम का काम करता है, जिससे सप्तम में उनका पुनर्मिलन स्वाभाविक रीति से सम्पन्न होता है। सप्तम के 'गर्भाङ्क' की भी कल्पना एकदम नवीन है, जो राम के ऐतिहासिक वृत्त के साथ-साथ नाटक के सुखान्त स्वरूप को मिलाती है तथा अद्भुत रस के योग से दर्शकों के चित्त में कौतूहल वृत्ति का उदय करती है। इस प्रकार घटनाओं का संविधान एक अन्विति से समवेत है। 'महावीर-चरित' में भावप्रवणता के लिये स्थान नहीं है और इसकी घटनाओं में परस्पर सम्बद्धता का निर्वाह इसीलिये पूर्ण रीति से किया गया मिलता है।

चरित्र-चित्रण

पात्रों के चरित्र-चित्रण में भी भवभूति एक सिद्धहस्त नाटककार हैं। अपनी गम्भीर प्रकृति के अनुरूप ही उन्होंने राम और सीता जैसे परम पावन आदर्श-चरित्र पात्रों को अपने नाटक के लिये चुना है। भवभूति ने वाल्मीकि के

आदिकाव्य का गम्भीर अनुशीलन किया था और इससे उन्होंने अनेक बातें, जैसे मूर्त पदार्थों की अमूर्त से तुलना, करुण रस की सर्वोपरि तथा सर्वमान्य स्थिति आदि तथ्यों को अंगीकार किया है। राम का चरित्र बड़ा ही उदात्त, आदर्श तथा प्रख्यात परम्परा के सर्वथा अनुरूप है। 'रामराज्य' का आदर्श रूप अपने वैभव के साथ यहाँ दीख पड़ता है। राम आदर्श राजा हैं। उनका व्रत ही 'प्रकृतिरंजन' है। स्नेह, दया, सौख्य, यहाँ तक कि पवित्र-चरित्रा जनकनन्दिनी को भी छोड़ते हुए राम को व्यथा नहीं है—

स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा॥
(उत्तरराम० १।१२)

यह पवित्र उद्गार जिस राजा के मुख से स्वतः निकलता है उसके चरित्र की पावनता का माहात्म्य किन शब्दों में वर्णित किया जा सकता है? वे जानकी के पूत चरित्र से परिचित न हों ऐसी बात नहीं है, परन्तु लोकाराधन की वेदी पर अपने निजी सौख्य को तिलाञ्जलि देना राम की कर्तव्यनिष्ठता का, आदर्श भूपतित्व का, उज्ज्वल दृष्टान्त है। तृतीय अंक (उत्तर-चरित) में राम वासन्ती के सामने अपने सच्चे भावों को प्रकट करने से पराङ्मुख नहीं होते, वे 'लोक' की निन्दा भरपेट करते हैं। 'लोक' के अस्तव्यस्त, अमर्यादित स्वरूप से वे भली-भाँति परिचित हैं, परन्तु फिर भी उनकी कर्तव्यनिष्ठा 'लोक' के अनुरञ्जनार्थ प्रियतम वस्तु का परित्याग करने के लिये बाध्य करती है। सीता पीड़िता नारी की प्रतीक हैं। वह राम के द्वारा कठोर गर्भावस्था में परित्यक्ता होने पर भी अपने पति के लिये एक शब्द भी प्रतिवाद के रूप में नहीं कहतीं। राम के भावसंघर्ष को वह भली-भाँति पहचानती हैं। एक ओर राम अपने निजी जीवन के लिए व्यस्त हैं और दूसरी ओर प्रजानुरंजन उन्हें अपनी ओर आकृष्ट करता है। भावों के इस संघर्ष के कारण राम का हृदय टूक-टूक हो जाता है। सीता अपने ही दुःख से दुःखित नहीं हैं, प्रत्युत राम की विषम दशा के चिन्तन से भी चिन्तित हैं। ऐसे पातिव्रत का वर्णन अन्यत्र मिलना नितान्त दुर्लभ है। राम की मूर्छा देखकर वह स्वयं बदहोश हो जाती हैं और अनेक उपायों के द्वारा चेतन दशा में आती हैं। राम और सीता का यह आदर्श चित्रण भवभूति की नाट्य-कला का चरम अवसान है।

"उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते" :

संस्कृत-साहित्य में मान्य समालोचकों की मण्डली में यह किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि एक बार किसी ने कालिदास से पूछा कि नाटक-क्षेत्र में आप में और भवभूति में अधिक सफल कौन हैं? उत्तर में कालिदास की यह उक्ति प्रसिद्ध है—

नाटके भवभूतिर्वा वयं वा वयमेव वा।
उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते॥

यद्यपि कालिदास और भवभूति के कालक्रम से यह किंवदन्ती मेल नहीं खाती, तथापि इन दोनों महाकवियों के वैशिष्ट्य के विषय में संस्कृत के मनीषियों की ऐसी धारणा है। अतः इस धारणा की यथार्थता की सिद्धि के लिये कतिपय आवश्यक तत्त्वों का अन्वेषण अपेक्षित है। सर्वप्रथम इन दोनों महाकवियों की तुलना करने में दोनों के कविस्वभाव के वैभिन्य का पर्यवेक्षण सहायक है। अतः यह देखना आवश्यक है कि इन दोनों महाकवियों के काव्य-निर्माण का वातावरण किस प्रकार का था?

कालिदास सरस्वती देवी के सौभाग्यशाली वरद पुत्र हैं। फलतः शारदा की अनुकम्पा उनके ऊपर स्वाभाविक है। कालिदास, विक्रमादित्य जैसे प्रतापशाली राजा की राजसभा के विद्वत्-रत्नमाला के सुमेरु थे। जीवन काल में ही यशोलाभ मिल चुका था। जीवन सुखमय और शान्त था। अतः उनके काव्य-निर्माण का वातावरण बड़ा ही कोमल और आनन्दमय था। यही कारण था कि उनके कविता करने का ढंग उतना ही स्वाभाविक था जितना कि प्रातःकाल में स्निग्ध वायु के बहने का ढंग। राजसी वातावरण में रहने के कारण कालिदास कोमल तथा ललित वस्तुओं के प्रति अधिक आकृष्ट मालूम पड़ते हैं। इसके विपरीत भवभूति ने अपने पाण्डित्य के बल पर शारदा से मानों कविता लिखने की कला को बलात् छीन लिया है; ऐसा प्रतीत होता है। वे वेद तथा उपनिषद् एवं दर्शन के अभ्यासी पण्डित हैं। फलतः उनकी कविता में गाम्भीर्य का उत्कर्ष मिलता है।

ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां
जानन्ति ये किमपि तान् प्रति नैष यत्नः।

भवभूति की इस उक्ति से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनके समय में उनके काव्य की मान्यता स्वीकृत नहीं थी। वे जीवन के नैराश्यपूर्ण अवस्थाओं से गुजरनेवाले कवि मालूम पड़ते हैं। उनके हृदय में उनके प्रति समाज की

इस उदास वृत्ति से गहरी चोट लगी थी। फलतः उनकी कविता का वातावरण असंतुष्ट-सा प्रतीत होता है। जीवन के अधिक काल तक उन्हें विषम परिस्थितियों का सामना करना पड़ा था। एक तरह से उनका आन्तरिक हृदय विद्रोही जगत् का नेतृत्व कर रहा था। अतएव अपनी इसी वातावरण की विलक्षणता के कारण भवभूति कालिदास की अपेक्षा भावों को व्यक्त करने में अधिक गहराई तक चले गये हैं और विशेषकर उत्तररामचरित में। इनकी इन विशेषताओं का निखरा हुआ स्वरूप समालोचकों के दृष्टिपथ में बलात् आकर कालिदास से भी बढ़ कर सम्मान प्राप्त करता है।

(क) बाह्यपक्ष

प्रकृति वर्णन में वैशिष्ट्य

(१) कालिदास ने अपने काव्य में प्रकृति के केवल ललित तथा सुकुमार पक्ष का ही वर्णन किया है। प्रकृति के सौम्य रूप के चित्रण में ही सर्वत्र कवि की कविता का विलास दृष्टिगोचर होता है। कालिदास ने प्रकृति को उद्दीपन रूप में ही अधिकतर चित्रित किया है। कालिदास की प्रकृति स्वतन्त्र रूप से सहृदयों को आनन्दित न करके नायक-नायिका के रूप में भी आनन्दित करती दृष्टि में आती है। कालिदास ने प्रकृति के अंग नदी, बादल प्रभृति में नायक-नायिका का आरोप किया है। अतः उनकी कविता में प्रकृति-चित्रण के प्रसंग में भी शृंगार रस की अनुभूति होती है। इस प्रकार कालिदास की कविता में वर्णित प्रकृति का कोमल और सरस रूप ही सहृदयों के दृष्टिपथ में अवतरित होता है।

भवभूति प्रकृति के सौम्यरूप का वर्णन नहीं करते, अपितु उसके रौद्ररूप की ही अनूठी झाँकी प्रस्तुत करते हैं। भवभूति ने प्रकृति के विकट, उग्र तथा भयानक अंशों को ही चित्रित किया है। उत्तररामचरित के द्वितीय अंक में भवभूति ने प्रकृति के रौद्र और प्रभावोत्पादक रूप का स्वाभाविक चित्रण किया है। दण्डकारण्य की भीषणता का चित्रण कितना स्पष्ट और स्वाभाविक है—

... ...

निष्कूजस्तिमिताः क्वचित् क्वचिदपि प्रोच्चण्डसत्त्वस्वनाः।

... ...

तृष्यद्भिः प्रतिसूर्यकैरजगरैस्स्वेदद्रवः पीयते॥

अर्थात् भीषण गर्मी के कारण जलाशयों में जल सूख गया है। अतएव प्राण-रक्षा के लिये गिरिगिट अजगर सर्प के देह से निकलनेवाले पसीने को, पी रहा है। यह तो प्रकृति के रौद्ररूप का उदाहरण है। भवभूति के निम्नस्थ पद्य में प्रकृति के सौम्य रूप का दर्शन भी मिलता है—"इह समद-शकुन्ता-क्रान्तवानीरवीरुत्" इस पद्य में प्रकृति के रम्य रूप का सुन्दर चित्रण हुआ है। भवभूति की एक खास विशेषता यह भी है कि वे प्रकृति के उभय रूप का एकत्र बड़ा भावपूर्ण एवं मनोहर चित्रण कहीं कहीं प्रस्तुत करते हैं। यथा—

स्निग्धश्यामाः क्वचिदपरतो भीषणा भोगरूक्षाः
स्थाने स्थाने मुखरककुभो झाङ्कृतैर्निरझराणाम्।

भवभूति में प्रकृति के ध्वनिपक्ष को ग्रहण करने की विलक्षण शक्ति है। वे प्रकृति के स्वरूप के अनुकूल ही शब्दों का विन्यास करते हैं, जिससे प्रकृति का स्वरूप शब्द की ध्वनन शक्ति के कारण स्वयं आँखों के सामने साकार हो उठता है। यथा—

"एते ते कुहरेषु गद्गदनदद्गोदवरीवारयो"।

इत्यादि पद्य में गोदावरी के जल की गद्गद ध्वनि की सूचना है।

(२) युद्ध वर्णन में वैशिष्ट्य

कालिदास श्रृंगार रस के मान्य कवि हैं। अतएव उनके काव्य में वीर रस जब कभी आया है तो वह श्रृंगार रस के अङ्ग रूप में ही आया है। उनके वीर रस के वर्णन का प्रसंग भी श्रृंगार रस के पुट को लिये होता है। कालिदास की श्रृंगार-प्रियता के ही कारण उनके युद्ध के वर्णन में उतना जोर नहीं जितना अपेक्षित है। इसके विपरीत भवभूति के युद्ध-वर्णन का प्रसंग अधिक जोरदार है। भवभूति अपनी शाब्दी ध्वनि की निपुणता के कारण श्रवण-मात्र से युद्ध की भीषणता का दृश्य नेत्र के सामने उपस्थित कर देते हैं। 'झणज्झणित-श्लोक के पढ़ते ही वीररस की अनुभूति होने लगती है। 'झणज्झणित-कङ्कणक्वणितकिङ्किणीकं धनु." के सुनते ही युद्ध में धनुष की बजनेवाली किङ्किणी की आवाज कानों में हठात् आ पड़ती है। इसी प्रकार—"ज्याजि-ह्वया वलयितोत्कटकोटिदंष्ट्र" आदि श्लोक में लव की वीरता का सुन्दर चित्रण है। युद्ध-वर्णन के प्रसंग में गौडी का गाढबन्धन, इस प्रकार की शाब्दी ध्वनि तथा संघर्षमय वीराश्रय वर्णन कालिदास में खोजने पर भी नहीं मिलता।

(ख) आन्तर पक्ष

जिस प्रकार बाह्य प्रकृति के वर्णन में भवभूति की विशेषता परिलक्षित होती है उसी प्रकार अन्तःप्रकृति का वर्णन भी नितान्त श्लाघनीय है।

(१) प्रेमचित्रण में वैशिष्ट्य

कालिदास की अपेक्षा प्रेमचित्रण में भी भवभूति की खास विशेषता है। कालिदास ने अपने काव्य में अधिकतर सांसारिक वासनामय प्रेम का चित्रण किया है। सर्वत्र उन्होंने प्रेम को उन्मुक्तरूप में फूलने-फलने दिया है। दुष्यन्त और शकुन्तला का प्रथम प्रेम वासनामिश्रित उन्मुक्त प्रेम का निदर्शन है। किन्तु भवभूति ने सर्वत्र अपने उत्तररामचरित में उज्ज्वल दाम्पत्य प्रेम का चित्रण किया है। उन्होंने विशुद्ध दाम्पत्य प्रेम को सदा आगे रखा है। प्रेम के वर्णन में भवभूति कभी भी कामुकता के स्तर पर नहीं उतरते। भवभूति के पात्र कहीं भी स्वच्छन्द प्रेम के पक्षपाती नहीं, वरन् समाज के द्वारा अभिनन्दित धर्मानुयायी प्रणय मार्ग के पथिक हैं। राम और सीता का प्रेम समस्त दाम्पत्य प्रेम के आदर्श का प्रतीक है। कवि सच्चे प्रेम को दैवी वरदान समझता है— "अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगतं सर्वास्ववस्थासु तत्" इत्यादि पद्य में भवभूति के अनुसार प्रेम की ज्योति सुख के समीर में तथा दुःख की आँधियों में समानरूप से जला करती है। भवभूति ने "व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतुः, न खलु बहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते" पद्य के माध्यम से स्पष्ट स्वीकार किया है कि प्रेम पर बाह्य सौन्दर्यादि का प्रभाव नहीं पड़ता, अपितु एक हृदय को दूसरे से मिलाने के लिये कोई आन्तरिक भाव ही कारण होता है।

(२) रसनिरूपण में वैशिष्ट्य

कालिदास मूलतः शृङ्गार रस के अधिष्ठाता पुरोहित हैं, जब भवभूति नाट्य-जगत् में करुण रस की प्रधान रूप से अवतारणा करनेवाले आचार्य हैं। भवभूति का करुणरस उनकी व्यथित आत्मा की बहती हुई करुणा की धारा है। कवि का हृदय वेदनामय है। अतः उसका रस भी स्वानुभूत है। विशेष कर अन्य रसों की अपेक्षा करुण रस का चित्रण कठिन होता है और वह कवि के अन्तःप्रकृति से सम्बद्ध रहता है। भवभूति ने प्रधानरूप से करुण रस की गंगा को प्रवाहित कर नाट्यसाहित्य को एक नयी दिशा दी है। भवभूति का रस-वर्णन उनको अपनी अनुभूति पर अवलंबित दृष्टिगोचर होता है। सिद्धान्तरूप से भवभूति ने करुण रस को ही प्रधान रस माना है। अन्य रसों को उसका विवर्तमात्र

माना है। करुण रस की अवतारणा में मानों वे अपने अस्तित्व को खो-से देते हैं। उनके भाव तलस्पर्शी हैं। ये किसी भाव की गम्भीरता के लिये तदनुकूल शब्दों का चुनाव करते हैं। कालिदास ने भी करुण रस का चित्रण किया है, किन्तु वह एकपक्षीय है। अज-विलाप ने स्त्री के लिये पुरुष का विलाप और रति-विलाप में केवल पुरुष के लिये स्त्री का विलाप करुण रस का आस्वादन तो कराता है, किन्तु विशृङ्खल रूप से ही। भवभूति अपने उत्तररामचरित में एकत्र ही राम और सीता को परस्पर एक दूसरे के वियोग में एक दूसरे के लिये विलाप करा कर करुण रस के उभय पक्ष का आस्वादन एकत्र कराते हैं। यही उनकी विशेषता है। करुण रस के अनुभावों का चित्रण निम्न पद्य में कितना मार्मिक तथा हृदयस्पर्शी है:—

"हा हा देवि! स्फुटति हृदयं स्रंसते देहबन्धः,
शून्यं मन्ये जगदविरलज्वालमन्तर्ज्वलामि॥"

भवभूति का करुण रस अत्यन्त गम्भीर तथा मर्मस्पर्शी है। वह उस पुटपाक के समान है जो ऊपर से पंकलिप्त होने के कारण परमशान्त, किन्तु भीतर से तीव्र अन्तर्वेदना से उत्तप्त रहता है।

अनिर्भिन्नो गभीरत्वाद् अन्तर्गूढघनव्यथः।
पुटपाक-प्रतीकाशो रामस्य करुणो रसः॥

भवभूति के करुण रस के इस विलक्षण चमत्कार को देख कर ही तो गोवर्धनाचार्य ने उनकी प्रशंसा निम्नस्थ पद्य में की है—

भवभूतेः सम्बन्धात् भूधरभूरेव भारती भाति।
एतत्-कृत-कारुण्ये किमन्यथा रोदिति ग्रावा॥

करुण रस के साथ ही भवभूति वीर, बीभत्स और रौद्र रस का सजीव चित्रण करते हैं। अतएव इन्हें रसों का आचार्य कहा जाता है।

(२) कालिदास की कविता में व्यञ्जनावृत्ति की प्रधानता है, किन्तु भवभूति की वाणी में वाच्यार्थ की प्रगल्भता है। कालिदास थोड़े से चुने हुए शब्दों में ही अधिक से अधिक अर्थ की अभिव्यक्ति करा देते हैं, जबकि भवभूति विपुल वाग्-विस्तार द्वारा किसी अर्थ या भाव का विशद वर्णन करते हैं। कालिदास अपने पाठकों की कल्पना पर बहुत कुछ छोड़ देते हैं, किन्तु भवभूति

सब कुछ स्वयं कह देते हैं। यथा—'शाकुन्तल' में शकुन्तला को देखकर दुष्यन्त की यह उक्ति—'अये ! लब्धं नेत्रनिर्वाणम्'। यहाँ अल्प भाषा में सारे भावों की व्यञ्जना करा दी गयी है। भवभूति का माधव मालती को देखकर उसकी धवल दृष्टि में स्नान करके कहता है—'अविरलमिव दाम्ना पौण्डरीकेण नद्धः' (मालतीमाधव ३।१६)। पूरे श्लोक में इतने ही भाव का विशद विवेचन किया गया है।

(४) भाव की गम्भीरता के लिए तदनुकूल शब्दों को चुनकर भवभू त बड़े ही सुन्दर ढंग से उस भाव को विशदरूप से चित्रित करते हैं। जहाँ कालिदास केवल 'मृगाक्षि' कह कर ही अपनी नायिका के नेत्रों की चंचलता का सकेत करते हैं, वहीं भवभूति सीता की आँखों की चंचलता का वर्णन एक वर्ष के मृग-शावक की आँखों से उपमा देकर करते हैं। उससे भी उन्हें जब सन्तोष नहीं होता तो उसमें 'त्रस्त' शब्द जोड़ कर डरे हुए एक वर्ष के मृग के नेत्र की चंचलता से उपमा देते हैं। यहाँ पर "त्रस्तैकहायन-कुरंगविलोलदृष्टेः" पद्य के द्वारा नेत्रों की चंचलता के वर्णन में कितनी गम्भीरता झलकती है। मृग के नैन तो स्वयमेव स्वभाव से चंचल होते हैं। तिस पर मृगशिशु के नेत्र में तो और भी अधिक चाञ्चल्य का निवास रहता है। वह यदि एक साल की उम्र का हो, तो कहना ही क्या ? इतना ही नहीं भय के कारण पशु या मानव के नेत्र अपने ही आप इधर से उधर दौड़ा करते हैं—नितान्त चंचल हो जाते हैं। इसी कारण भवभूति की त्रस्तैक-हायन-कुरंगविलोलदृष्टिवाली उपमा नितान्त गम्भीर, अन्तरंग तथा हृदयावर्जक है।

(५) अलंकारों में उपमा के वर्णन में भवभूति की एक यह विशेषता है कि वे अधिकतर मूर्त की उपमा अमूर्त से देते हैं, जो कि स्वाभाविक भी लगती है। कालिदास मूर्त की उपमा मूर्त से ही देते हैं। कालिदास वल्कलवसना शकुन्तला की उपमा सेवार में लिपटे कमलके पुष्प से देते हैं, जब कि भवभूति सीता की उपमा मूर्तिमती करुणा या विरह-व्यथा से देते हैं। (करुणस्य मूर्तिरथवा शरीरिणी विरहव्यथेव वनमेति जानकी—उत्तररामचरित, (३।४)।

(६) नारी के स्वरूप-दर्शन में वैशिष्ट्य

कालिदास ने अधिकतर नारी के बाह्य सौन्दर्य का कमनीय चित्रण किया है, जबकि भवभूति ने नारी के अन्तः सौन्दर्य का सफल विश्लेषण प्रस्तुत किया है। कालिदास की दृष्टि में यदि नारी पके हुए बिम्ब के समान अधर वाली (पक्वबिम्बाधरोष्ठी) तथा जघन के भार से धीमी गति वाली (श्रोणीभारादलस-

गमना) है, तो भवभूति की दृष्टि में वह घर की लक्ष्मी है, नेत्रों के लिए अमृत की बत्ती है, जिसका स्पर्श शरीर पर पुते हुए चन्दन का रस है और जिसकी भुजा कण्ठ में पड़े हुए शीतल-चिकनी मोती की माला है ('इयं गेहे लक्ष्मीः' उत्तर चरित १।३८)। इस प्रकार कालिदास और भवभूति के विषय में यह कहा जा सकता है कि यदि एक की दृष्टि बाह्य सौन्दर्य पर टिकी है, तो दूसरे की दृष्टि उसके भीतरी सौन्दर्य में रमती है।

फलतः इन दृष्टियों से भवभूति उत्तररामचरित की रचना में कालिदास से निःसन्देह श्रेष्ठ हैं।

—×—

८. मुरारि

भवभूति तथा राजशेखर के बीच वाले काल खण्ड में (अष्टम-नवम शती) अनेक नाटकों की रचना हुई, जिनमें कुछ नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में उद्धृत तथा चर्चित होने के अतिरिक्त अभी उपलब्ध नहीं हुये हैं। ऐसे महनीय नाटकों में यशोवर्मा का 'रामाभ्युदय,' मायूराज के 'तापसवत्सराज' तथा 'उदात्तराघव' विशेष प्रसिद्धि रखते हैं। यशोवर्मा तो भवभूति तथा वाक्पतिराज ('गउडवहो' प्राकृत महाकाव्य के कर्ता) के आश्रयदाता के रूप में साहित्य-संसार में पहिले से ही विख्यात हैं। 'रामाभ्युदय' के कर्ता होने के हेतु उनका साहित्यिक व्यक्तित्व आलोचकों के सामने अपने पूरे वैभव के साथ उपस्थित होता है। वाल्मीकि की राम-कथा को समग्ररूप से नाटकीय रूप देने के लिये इस नाटक का प्रणयन किया गया—ऐसा उल्लेख शास्त्रीय ग्रन्थों में बहुशः उपलब्ध होता है। इनका समय अष्टम शती का अन्तिम चरण तथा नवम का प्रथम पाद (७२० ई०—८२० ई०) मानना उचित है। इस कान्यकुब्जनरेश के समकालीन चेदि के कलचुरी नरेश मायूराज[1] (मातृराज या अनङ्गहर्ष) की साहित्यिक योग्यता की चर्चा करना नितान्त उपयुक्त है, जिन्हों ने रामकथा से सम्बद्ध 'उदात्तराघव' और वत्सराज-कथा से सम्बद्ध 'तापसवत्सराज' जैसे उदात्त तथा लोकप्रिय नाटकों की रचना की थी। 'उदात्तराघव' केवल उद्धरणों में जीवित है, परन्तु 'तापसवत्सराज' मुद्रणालोक में प्रकाशित है और ध्वन्यालोक में उद्धृत होने के हेतु ८५० ई० से पूर्ववर्ती है।

---

१. मायुराजसमो जज्ञे नान्यः कलचुरिः कविः।
उदन्वतः समुत्तस्थुः कति वा तुहिनांशवः॥
(राजशेखर)

तापसवत्सराज

यह ६ अंकों में समाप्त होने वाला नाटक है। रानी वासवदत्ता के अग्निदाह की वार्ता से उद्विग्न होकर वत्सराज उदयन तापस बन जाता है। रानी वासवदत्ता तथा राजा वियोगजन्य शोक से अभिभूत होकर जब प्रयाग में आत्म-हत्या करने पर उद्यत होते हैं, तब संयोग से इनका मिलन हो जाता है। नाटक को सुखान्त बनाने के लिये रुमण्वन्त विजय का समाचार लाता है। इस अंश पर प्राचीन उदयन से सम्बन्धित नाटिका 'रत्नावली' का पूरा प्रभाव लक्षित होता है। फलतः यह नाटक हर्ष (६५० ई०) तथा आनन्दवर्धन (८५० ई०) के मध्य में कभी लिखा गया था—सम्भवतः अष्टम शती के अन्त में।

इन महनीय राजाओं— यशोवर्मा तथा मायूराज के पूर्वोक्त नाटकों की कभी तूती बोलती थी, परन्तु आज इनकी स्मृतिरक्षा नाट्य-ग्रन्थों के ही द्वारा हो रही है। धनिक के द्वारा अपनी 'दशरूपक टीका' में उद्धृत छलितराम तथा पाण्डवानन्द के निर्माण का काल इस कालखण्ड से उतर कर नहीं है।

मुरारि कवि के प्रख्यात नाटक अनर्घराघव का भी यही युग है। नाटक की प्रस्तावना बतलाती है कि मुरारि मौद्गल्यगोत्री श्री वर्धमानक और तन्तुमती देवी के पुत्र थे। सूक्तिग्रन्थों में उपलब्ध प्रामाणिक सूक्तियाँ इन्हें माघ तथा भवभूति से अर्वाक्कालीन सिद्ध करती हैं। यह सूक्ति मुरारि के ऊपर माघ के प्रभाव की द्योतिका है —

मुरारिपदभक्तिश्चेत् तदा माऽघे रतिं कुरु।
मुरारिपदभक्तिश्चेत् तदा माघे रतिं कुरु॥

रत्नाकर ने अपने प्रख्यात हरविजय में श्लेषरूप में मुरारि के नाटक का संकेत किया है[1], जिससे अनर्घराघव की रचना का काल रत्नाकर के समय (८२५ ई०—८५० ई०) से पूर्ववर्ती प्रतीत होती है। भवभूति तथा रत्नाकर के मध्य में होने वाले मुरारि का समय अष्टम शती का अन्तिम चरण (७८० ई०) मानना कथमपि अयथार्थ नहीं कहा जा सकता।

---

१. अङ्कोत्यनाटक इवोत्तमनायकस्य
नाशं कविर्व्यधित यस्य मुरारिरित्थम्॥
(हरविजय ३८।२७)।

अनर्घराघव

मुरारि कवि का अनर्घराघव सात अंकों में समाप्त हुआ है। प्रस्तावना में सूत्रधार का यह कहना है कि रौद्र, बीभत्स, भयानक तथा अद्भुत रस से युक्त नाटक के अभिनय को देखते-देखते दर्शक लोग उद्विग्न हो गये हैं, अत: वे 'अभिमत रस' से युक्त नाटक का अभिनय देखना चाहते हैं। इस कथन में भवभूति के नाटकों पर व्यङ्ग्य कसा गया है। भवभूति के होते हुये मुरारि का अपने समर्थन में यही कहना है कि उनका नाटक वीर और अद्भुत रस से युक्त तथा गम्भीर और उदात्त वस्तु से सम्पन्न है। अतएव समस्त काव्यरसिकों को आनन्द देनेवाला है[1]। कवि की यह उक्ति मार्मिक अवश्य है। इन्होंने अपने नाटक द्वारा इस उक्ति को चरितार्थ करने का प्रयत्न अवश्य किया है, पर आलोचकों की दृष्टि में यह प्रयत्न प्रयासमात्र रहा है, इन्हें सफलता नहीं मिली है। भवभूति के अनन्तर रामकथा पर नाटक लिखना कोई सरल काम नहीं था। सफलता उसी कवि की चेरी बनकर रहती है जिसमें नाट्यप्रतिभा प्रचुरमात्रा में विद्यमान रहती है। मुरारि में उसका नितान्त अभाव था। अतः नाटक की दृष्टि से 'अनर्घराघव' सफल प्रयास नहीं कहा जा सकता। कविता पर्याप्त रूप से अच्छी है। सप्तम अङ्क में राम के लङ्का से अयोध्या आते समय मुरारि ने रघुवंश के तेरहवें सर्ग का अनुसरण किया है। कविता में प्रौढता है, ओज का प्रकर्ष है, वर्णन की बहुलता है; परन्तु हम उस सुकुमारता को नहीं पाते जो हमें कालिदास की कविता में मिलती है, और न वह मानवहृदय के भावों की परख पाते हैं जिसके कारण भवभूति के नाटक सहृदयों का मनोरञ्जन करते हैं।

समीक्षण

नाटकीय गुणों से वर्जित होने पर भी यह रचना काव्यदृष्टि से रमणीय है। मुरारि अप्रलचित शब्दों के प्रयोग में इतने निपुण हैं कि भट्टोजिदीक्षित ने सिद्धान्तकौमुदी में इन प्रयोगों के निदर्शन के निमित्त मुरारि को उद्धृत

---

१. तस्मै वीराद्भुतारम्भगम्भीरोदात्तवस्तवे।
　जगदानन्दकाव्याय सन्दर्भाय त्वरामहे॥

किया है। फलतः शब्दपाण्डित्य से मण्डित मुरारि को हम कविप्रतिभा से विहीन नहीं मान सकते। नाटक में सुभग पद्यों की कमी नहीं है। एक दो कल्पना की ओर दृष्टिपात करने का अब अवसर है।

नायिका की मुख की समता पाने वाले कमल की यह योग्यता नितान्त स्पृहणीय है—

गोत्रे साक्षादजनि भगवानेष यत्पद्मयोनिः
शय्योत्थायं यदखिलमहः प्रीणयन्ति द्विरेफान्।
एकाग्रां यद् दधति भगवत्युष्णभानौ च भक्तिं
तत् प्रापुस्ते सुतनु वदनौपम्यमम्भोरुहाणि॥

(अनर्घराघव ७।८२)

[इन कमलों के वंश में भगवान् ब्रह्मा ने साक्षात् जन्म लिया, शय्या से उठकर ये कमल दिन भर भ्रमरों को तृप्त करते हैं और एकाग्र दृष्टि से भगवान् सूर्य की ओर देखने की भक्ति धारण करते हैं; इसीलिए ये तपस्वी कमल, हे सुन्दरी! तुम्हारे मुख की समता पाने में समर्थ हो सके हैं।]

तारागणों के विषय में यह सूक्ति बड़ी रोचक है—

अनेन रम्भोरु भवन्मुखेन
तुषारभानोस्तुलया धृतस्य।
ऊनस्य नूनं परिपूरणाय
ताराः स्फुरन्ति प्रतिमानखण्डाः॥

(वही, ७।८७)

[हे कदली के समान ऊरुओं वाली सीता, तुम्हारे मुख के साथ तौलने के लिए चन्द्रमा पलड़े में रखा गया, तब उसमें कमी दिखाई पड़ी। इस कमी की पूर्ति करने के लिये तारागण पासंग (प्रतिमान) के रूप में चमक रहे हैं। भार की भी कमी पासंग से पूरी की जाती है। ताराओं का भी यही कार्य है। कल्पना मनोरम तथा आवर्जक है।

—x—

९. राजशेखर

महाकवि मुरारि के सौ वर्ष के भीतर ही संस्कृत-साहित्याकाश में कविराज राजशेखर के रूप में एक जाज्वल्यमान नक्षत्र का उदय हुआ। इनके विषय में हमारी जानकारी कम नहीं है। इनके समय तथा जीवन-चरित का पर्याप्त परिचय हमें उनके ग्रन्थों की अन्तरङ्ग परीक्षा से प्राप्त है। ये जिस 'यायावर' वंश में उत्पन्न हुये थे, उसे अकालजलद, सुरानन्द, तरल, कविराज जैसे कवियों की प्रसूति का गौरव प्राप्त था। ये महाराष्ट्र-चूडामणि कविवर अकालजलद के प्रपौत्र तथा दुर्दक-शीलवती के पुत्र थे। चौहानवंशीया अवन्तिसुन्दरी नामक क्षत्रिय ललना से विवाह करने के कारण इनके उदार हृदय का पता चलता है। अवन्तिसुन्दरी संस्कृत की ही नहीं, प्रत्युत प्राकृत की भी बड़ी भारी विदुषी थी। 'काव्यपाक' के विषय में वामन के विरोध में राजशेखर स्वयं इनकी सम्मति उद्धृत ही नहीं करते, प्रत्युत उसका समर्थन भी अपनी 'काव्यमीमांसा' में करते हैं। 'देशीनाममाला' में हेमचन्द्र ने कतिपय देशी शब्दों के अर्थ के विषय में इनकी सम्मति उद्धृत करते हैं और नये अर्थों का उल्लेख करते हैं। प्राकृत काव्य की परख तथा अभिरुचि रखने का प्रमाण इस घटना से भी मिलता है कि इन्हीं के आदेश से राजशेखर के प्राकृत नाटक 'कर्पूरमञ्जरी' का प्रथम अभिनय सम्पन्न हुआ था। इस प्रकार राजशेखर को कविता की दिव्य प्रतिभा अपने पूर्वजों से रिक्थ के रूप में निःसंशय प्राप्त हुई थी।

ये महाराष्ट्र, सम्भवतः विदर्भ, के निवासी थे, परन्तु ये कान्यकुब्ज के राजा के अध्यापक थे। इसका नाम वे 'निर्भर' या 'निर्भय' बतलाते हैं। 'निर्भय' निश्चित रूपेण उपाधि थी कान्यकुब्ज नरेश प्रतिहारवंशी राजा महेन्द्रपाल की (राज्य काल ८९३ ई०—९०७ ई० तक), क्योंकि इन दोनों वर्षों के इनके शिलालेख मिलते हैं, 'विद्धशालभञ्जिका' नामक इनकी अन्यतम रचना त्रिपुरी के कलचुरि राजा युवराज केयूरवर्ष के लिये प्रस्तुत की गई थी। फलतः ये कान्यकुब्ज-नरेश के दरबार से कुछ दिनों के लिए त्रिपुरी चले गये थे। इनका अपूर्ण बालभारत महेन्द्रपाल के उत्तराधिकारी महीपाल के लिए लिखा गया था (९१७ ई० का शिलालेख मिलता है)। अत एव इनका पुनः कान्यकुब्ज दरबार में लौट आना सिद्ध होता है। इन राजाओं का

शासन काल दशवीं शती के प्रथम चरण (९२० ई०) तक होने के कारण राजशेखर का भी यही समय माना जा सकता है (८९० ई० से लेकर ९२० ई० लगभग)।

राजशेखर को अपने नाटक 'बालरामायण' के ऊपर पर्याप्त गर्व था। इसमें उन्होंने अपने को वाल्मीकि, भर्तृमेण्ठ तथा भवभूति की परम्परा के अन्तर्भुक्त कवि मानते हैं—

बभूव वल्मीकभवः कविः पुरा
ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम्।
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया
स वर्तते सम्प्रति राजशेखरः॥

इसमें वाल्मीकि रामायण की रचना से तथा भवभूति रामविषयक नाटकद्वय के निर्माण के हेतु एक परम्परा में औचित्यतः अन्तर्भुक्त हैं, परन्तु 'हयग्रीववध' जैसे लुप्त महाकाव्य के प्रणेता भर्तृमेण्ठ का रामकथा से क्योंकर सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है? यह समस्या आलोचकों के सामने आज भी अपना समाधान चाहती है।

रचनायें

राजशेखर विशिष्ट भाषाविद् कवि थे। संस्कृत के अतिरिक्त उनकी प्राकृत भी 'प्रकृतिमधुर', अपभ्रंश 'सुभव्य' तथा भूतवचन 'सरसरचनन' (कमनीय रचना वाला) होता था—इस तथ्य का उल्लेख उन्होंने स्वयं 'बालरामायण' में किया है। वे भूगोल के विशेष पण्डित प्रतीत होते हैं, जिसका परिचय बालरामायण के दशम अङ्क में वर्णित रामप्रत्यावर्तन से ही नहीं चलता, प्रत्युत सम्प्रति अनुपलब्ध 'भुवनकोश' नामक उनके ग्रन्थ से भी लगता है। वे अपने को 'कविराज' कहते हैं—वह कवि, जो तत्तत् विशिष्ट भाषा में, प्रबन्धों में, तत्तत् रस में स्वतन्त्र होता है (यस्तु तत्र तत्र भाषाविशेषेषु, तेषु प्रबन्धेषु, तस्मिन् तस्मिश्च रसे स्वतन्त्रः, स कविराजः)। इस पदवी को उन्होंने अपनी रचनाओं के द्वारा यथार्थ सिद्ध कर दिया है। अपभ्रंश तथा पैशाची की कोई रचना तो नहीं मिलती, परन्तु संस्कृत और प्राकृत-विषयक उनकी कृतियाँ प्रख्यात और लोकप्रिय हैं। वे अपने को 'षट् प्रबन्ध' का

रचयिता साभिमान कहते हैं ('विद्धि नः षट् प्रबन्धान्' बालरामायण १।१२)। इन रचनाओं में दो नाटक, दो नाटिकायें, एक अलंकार-ग्रन्थ उपलब्ध हैं। हेमचन्द्र द्वारा 'काव्यानुशासनविवेक' में उद्धृत 'हरविलास' नामक ग्रन्थ नाम्ना प्रख्यात है। सम्भवतः यही उनका षष्ठ प्रबन्ध हो सकता है।

(१) बालरामायण—विशाल दश अङ्कों में रामायणीय कथा का भव्य नाटकीय रूप दिया गया है। राजशेखर की यही प्रौढ रचना है जिसे अङ्कों की सख्या के कारण 'महानाटक' कहा जाता है। (२) बालभारत (प्रचण्डपाण्डव) में कवि ने महाभारत की कथा की अवतारणा नाटकरूप में की थी, परन्तु दुर्भाग्यवशात् यह नाटक पूरा नहीं हो सका और केवल आरम्भ के दो ही अङ्क प्राप्य हैं। (३) विद्धशालभञ्जिका—चार अङ्कों में विभक्त नाटिका है। (४) कर्पूरमञ्जरी—चार जवनिकान्तरों में समाप्त नाटिका ही है, परन्तु प्राकृतभाषा में निबद्ध होने के कारण वह शास्त्रदृष्ट्या 'सट्टक' कहलाता है। यह प्राकृत का प्रथम सट्टक है जो अभिनय तथा काव्य की दृष्टि से नितराम् सफल है। इसमें राजा चण्डपाल और कुन्तलदेशीय राजकुमारी कर्पूरमञ्जरी का विवाह कौलमत के तन्त्रिक आचार्य भैरवानन्द के उद्योग से सम्पन्न किया गया है। ये ही चारों ग्रन्थ राजशेखर की नाटकीय रचनायें हैं। इनका काव्यमीमांसा ग्रन्थ अलंकार शास्त्र के सिद्धान्तों का उन्मीलन करता है और विषय की अपनी नवीनता तथा प्रतिपादन की सरलता के हेतु आलोचकों में खूब प्रख्यात है।

बालरामायण

राजशेखर की सर्वश्रेष्ठ कृति है जिस पर प्रस्तावना की विस्तृत आत्मस्तुति से प्रतीयमान विपुल अभिमान लेखक को है। दश अङ्कों में विभक्त यह महानाटक है। रामायण की घटना बड़े विस्तार और वैशद्य से यहाँ वर्णित है। रामकथापरक नाटकों की तुलनात्मक आलोचना करने पर इसमें बहुत कुछ नवीनता दृष्टिगोचर होती है। कवि सीता के प्रति रावण के अनुराग को महत्त्व प्रदान करता है। प्रथम अंक में रावण स्वयं आता है, परन्तु अपने आराध्य शंकर के धनुष को भंग करना अस्वीकार कर लौट जाता है। वह परशुराम से सहायता माँगता है, परन्तु वह अपमानित होता है और मित्रों के बीच-बचाव करने पर दोनोंमें

किसी प्रकार युद्ध होने से रुकता है (द्वितीय अंक)। उसी सीतानुरक्ति तथा तज्जन्य विषण्णता को दूर करने के लिए सीता का विवाह रचाया जाता है। रावण व्याघात करता है और अन्ततः रंग में भंग हो जाता है (तृतीय अंक)। चौथे अंक में राम और परशुराम के बीच द्वन्द्व युद्ध होता है जिसमें परशुराम पराजित होकर चले जाते हैं। पाँचवे अंक में रावण को सीता और उसकी धात्रेयी जैसी पुत्तलिकायें काठ की बनी हुई भेंट की जाती हैं। वह उसे वास्तविक समझता है और प्रेम में विक्षिप्त होकर पुरुरवा के समान प्रकृति के पदार्थों जैसे पक्षियों तथा नदियों से अपनी प्रेमसी का पता पूछता है। भावावेश की यह स्थिति शूर्पणखा के उपालम्भ द्वारा विध्वस्त होती है। अगले अंक में दशरथ की मृत्यु तक की घटनायें विन्यस्त की गई हैं। सातवें अङ्क में दधिरथ और कपित्थ नामक दो वानर सेतु की रचना का विस्तृत वर्णन करते हैं। माल्यवान् की कूटयुक्ति से सीता का कटा हुआ सिर समुद्रतट पर फेंके जाने पर राम के सैनिकों में भय और आतंक का क्षण भर के लिये कारण बनता है, परन्तु वह स्वयं बोलने लगता है और पुत्तलिका का ही सिर होने की घटना प्रकट हो जाती है। अष्टम अङ्क में रावण युद्ध के लिए उपकरणों की तैयारी करता है और कुम्भकर्ण को भी भेजने पर सफल नहीं होता, क्योंकि उसके मायाजाल का प्रभाव राम के ऊपर तनिक भी नहीं होता। नवम अङ्क में राम-रावण के घोर युद्ध तथा रावण की मृत्यु का वर्णन किया गया है दसम अङ्क में राम लंका से अयोध्या को प्रत्यावर्तन करते हैं। कवि अपने विस्तृत भौगोलिक ज्ञान का परिचय देता हुआ इस मार्ग का विशद वर्णन करता है। अन्त में राम का अभिषेक सम्पन्न होता है।

समीक्षण

इस संक्षिप्त वस्तुवर्णन से राजशेखर के दृष्टिकोण का संकेत किसी भी आलोचक को मिल जाता है। कवि विस्तार को इसलिए पसन्द करता है कि उसे अपने मनोनुकूल वर्णन का सुयोग प्राप्त होता है। राजशेखर की दृष्टि राम तथा रावण के संघर्ष पर ही प्रधानतया केन्द्रित है। अतः योद्धाओं का अस्त्रसंचालन तथा हुंकार, प्रतिपक्षियों के साथ घमासान संग्राम—आदि सामरिक घटनायें राजशेखर को अपनी ओर विशेष रूप से आकृष्ट करती हैं। कवि कलापक्ष का आश्रय लेकर महाकाव्य की शैली पर नाटक लिखता

है वह हृदयपक्ष की नितान्त उपेक्षा करता है। अंक बड़े लम्बे-लम्बे हैं। नाटकीय व्यापार तथा गति का अभाव अलोचकों की दृष्टि में बलात् चढ़ जाता है— इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

राजशेखर लेखनी के धनी भावुक कवि हैं। कोमल भावों की अभिव्यञ्जना में समर्थ यह कवि युद्ध के भीषण वर्णन में भी सफल है। यह शार्दूलविक्रीडित छन्द का सफल प्रयोक्ता है, जिसका प्रयोग युद्ध के वर्णन के अवसर पर होता है। क्षेमेन्द्र की यह प्रशस्ति यथार्थ है—

शार्दूलविक्रीडितैरेव प्रख्यातो राजशेखरः।
शिखरीव परं वक्रैः सोल्लेखैरुच्चशेखरः॥

राजशेखर 'शब्द-कवि' हैं। इनके पदों की रमणीय शय्या किस रसिक के मन को नहीं हर लेती। वेद के ज्ञाता के लिए 'श्रुत्यर्थबोधीगुरुः' का प्रयोग कितना शोभन तथा श्रवण-सुखद है। नोकझोंक वाले शब्दों का विन्यास इनके नाटकों में अद्‌भुत चमत्कार पैदा करता है। उनकी काव्यप्रतिभा प्रथम कोटि की है जिसका परिचय कर्पूरमञ्जरी के अनुशीलन से ही मिल जाता है। इन्होंने अपने वर्णनों में बहुत ही निपुणता दिखलायी है। शैली विशेषतः गौडी है, फिर भी पाञ्चाली का स्थान-स्थान पर पुट है। भवभूति के तो ये पक्के शिष्य हैं। इनके काव्य में भी शब्दों से अर्थ की प्रतिध्वनि होती है। यह शब्दचमत्कार इनकी रचना में पद-पद पर मिलता है। परन्तु रस का वह परिपाक, हृदय के भावों की गहरी परख, प्रकृति और मानव का परस्पर रागात्मक सम्बन्ध—जो भवभूति की काव्यकला के भूषण हैं, वे यहाँ खोजने पर भी नहीं मिलते।

कवि ने सीता के सौन्दर्य की अभिव्यक्ति कितने सुन्दर ढंग से की है—

तद्वक्त्रं यदि मुद्रिता शशिकथा तच्चेत्स्मितं का सुधा
सा दृष्टिर्यदि हारितं कुवलयैः ताश्चेद् गिरो धिङ् मधु।
सा चेत् कान्तिरतन्त्रमेव कनकं किं वा बहु ब्रूमहे
यत्सत्यं पुनरुक्तवस्तुविरसः सर्गक्रमो वेधसः॥

[यदि उसका मुँह वर्तमान है, तो चन्द्रमा की कहानी खतम हो गई। उसकी मुसुकान है, तो अमृत क्या है ? यदि उसकी चितवन है, तो कमलों ने हार मान ली। उसकी वाणी के आगे मधु को धिक्कार है। वह कान्ति यदि विद्यमान है, तो सोना स्वाधीनता खो बैठा। उसके बारे में हम और अधिक क्या कहें ? ब्रह्मा की सृष्टि पुनरुक्त वस्तुओं के निर्माण से पराङ्मुख है—यह तथ्य नितान्त सत्य है।]

शृंगार का कोमल पक्ष दोनों नाटिकाओं में सरसता से चित्रित किया गया है। 'विद्धशालभञ्जिका' संस्कृत में निवद्ध होने से नाटिका है, तो 'कर्पूरमञ्जरी' प्राकृत में निवद्ध होने से 'सट्टक' है, परन्तु दोनों में शास्त्रीय दृष्टि से नाम का अन्तर है, अन्यथा दोनों के घटनाचक्र में मूलतः ऐक्य है। नाट्यशास्त्र की पद्धति से दोनों वस्तु-विन्यास, रसोन्मीलन तथा पात्र चित्रण में पूर्ण समानता रखी है। राजशेखर की कविप्रतिभा नितान्त श्लाघनीय है। जिस प्रकार युद्धवर्णन में वे रौद्र रस की अभिव्यञ्जना में सफल हैं, उसी प्रकार प्रेम के विश्लेषण में तथा शृंगार रस की अभिव्यक्ति में समर्थ हैं। शब्द-सौष्ठव, अर्थ-सौन्दर्य तथा रसोद्दीप्ति सर्वथा हृदय को आवर्जित करती हैं। इस प्रसंग के विशदीकरण के निमित्त एक दो उदाहरण पर्याप्त है। 'विद्ध-शालभञ्जिका' की इस सुभग नान्दी में कामदेव का चारु चित्रण है—

कुलगुरुरबलानां केलिदीक्षाप्रदाने
परमसुहृद् अनङ्गो रोहिणीवल्लभस्य।
अपि कुसुमपृषत्कैर्देवदेवस्य जेता
जयति सुरतलीलानाटिकासूत्रधारः॥

[केलि की दीक्षा देने में अबलाओं के कुलगुरु, चन्द्रमा के परम मित्र फूल के बाणों से महादेव को जीतने वाले तथा सुरतलीला की नाटिका के सूत्रधार कामदेव की विजय हो।]

यहाँ शब्दों का विन्यास निश्चयरूपेण कोमल और लालित्यपूर्ण है।

वियोग का प्रसंग कर्पूरमञ्जरी में बड़ी मार्मिकता से चित्रित किया गया है। प्राकृत की मधुरिमा से उक्ति में विशेष चमत्कार उत्पन्न हो गया है—

सह दिवसणिसाइं दीहरा सासदंडा
सह मणिवलयेहि बाहधारा गलंति।
सुहअ! तुअ वियोए तेऊ उव्वेऊणीए
सह अ तणुलताए दुव्वला जीविदासा॥
(कर्पूरमंजरी २।९)

[हे सुभग, तुम्हारे वियोग में वह नायिका नितान्त उद्विग्न हो गई है। दिन और रातों के साथ उसकी सांसें लम्बी हो गई हैं। मणि की बनी चूड़ियों के साथ नेत्रों से आंसुओं की धारा गिरती है। और कितना कहा जाय? देहलता के साथ ही साथ उसके जीवन की आशा भी दुर्बल हो गई है।] सहोक्ति का सौन्दर्य कितना चमत्कारी है। उसकी कोमल देहयष्टि जिस प्रकार बलहीन पड़ गई है, उसी प्रकार उसके जीने की आस भी कमजोर हो गई।

कर्पूरमञ्जरी में कवि ने विरहवर्णन के प्रसङ्ग में सच्ची काव्य-प्रतिभा का परिचय दिया है—

परं जोण्हं उण्हा गरलसरिसो चन्दणरसो
खदक्खारो हारो रअणिपवणा देहतवणा।
मुणाली बाणाली जलइ अ जलद्दा तणुलदा
वरिट्ठा जं दिट्ठा कमलवअणा सा सुणअणा॥

[तात्पर्य है कि जब वह कमलनयनी सुन्दरी दृष्टिपथ में आयी तब से चांदनी ताप उत्पन्न करने लगी, चन्दनरस गरल के समान प्रतीत हुआ, हार कटे स्थल पर नमक-सा लगने लगा, रात के ठण्डे पवन देह को जलाने लगे, मृणाल बाणावली प्रतीत हुआ और जल से आर्द्र तनुलता भी जलने लगी।]

इनके काव्य में लोकोक्तियां तथा मुहावरों का विशेष चमत्कार दीख पड़ता है। 'वरं तत्कालोपनता तित्तिरी न पुनः दिवसान्तरिता मयूरी' हिन्दी के 'नव नगद न तेरह उधार' का ही पुराना प्रतिनिधि है। इनके नाटकों में गति शीलता का अभाव भले ही हो, परन्तु पात्रों की सजीवता निश्चय ही चमत्कारिणी है।

—×—

१०. क्षेमीश्वर

ये राजशेखर के समकालीन थे तथा राजा महिपाल (कन्नौज नरेश) के सभापण्डित थे। इनके लिखे हुए दो नाटक हैं— (१) चण्डकौशिक, (२) नैषधानन्द, जिनमें चण्डकौशिक विशेष प्रसिद्ध है। इसमें सत्यहरिश्चन्द्र का जीवन-चरित्र नाटकरूप में दिखलाया गया है। इसमें पाँच अङ्क हैं। हिन्दी में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इसी नाटक के आधार पर अपना 'सत्यहरिश्चन्द्र' नामक प्रख्यात नाटक लिखा है।

११. शक्तिभद्र

रामकथा में आश्चर्य रस के द्वारा कौतूहल वर्धन के रसिक नाट्यकार शक्तिभद्र केरल देश के कवि हैं जिनका 'आश्चर्यचूडामणि' नामक नाटक की ख्याति दक्षिण देश में विशेष रूप से है। इस राम नाटक में सात अंक हैं तथा राम के वनवास से आरम्भ कर रावण के विजय तक की प्रमुख घटनाओं का यहाँ वर्णन है। इस नाटक में चार घटनायें विशेष महत्त्व रखती हैं—शूर्पणखा का विरूपण, जानकी का हरण, हनुमान का सन्देश तथा सीता की अग्नि-शुद्धि। जानकी हरण की कथा में विशेष स्वाभाविकता लाने के उद्देश्य से रावण रामके रूपमें सीता का हरण करता है। यहाँ पर रावण और शूर्पणखा दोनों ही राम और सीता का वेष धारण करते हैं और सीता तथा राम को धोखा देने का प्रयास करते हैं। राम का चित्रण नितान्त सुन्दर हुआ है। वे विकलता तथा निराशा से दुःखी मानव के प्रतीक न होकर धर्म संस्थापक मर्यादावादी वीर पुरुष हैं। प्रतिनायक रावण अधार्मिकता का प्रतीक है। सीता विशुद्धता की मूर्ति है, तो शूर्पणखा छलना की। फलतः रामकथा का यह नवीन प्रकार का विन्यास है।

केरल के राजा कुलशेखर (१०म शती) ने 'तपती संवरण' नामक प्रख्यात नाटक का निर्माण किया था। आश्चर्यचूडामणि की प्रस्तावना इसे केरल का प्रथम नाटक बतलाती है। फलतः शक्तिभद्र का समय ९ शती में मानना उचित है—कुलशेखर से पूर्व।

नाटक का ह्रास युग

संस्कृत नाटक के अभ्युदय का युग दशम शती तक समाप्त हो जाता है। भास से लेकर राजशेखर तक का कालखण्ड संस्कृत नाटककारों की प्रतिभा से दीप्त तथा उज्ज्वल था। उसके अनन्तर भी संस्कृत नाटकों का निर्माण चलता रहा, परन्तु इस युग में प्रतिभा की उतनी विमल विभूति दृष्टिगोचर नहीं होती। अतः इसे 'नाटक का ह्रास युग' की संज्ञा दी जाती है। इस युग के मुख्य नाटकों तथा प्रणेताओं का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जाता है।

(क) कुन्दमाला

यह बड़ा ही कमनीय रूपक है। कथानक रामचन्द्र के उत्तर-चरित का वर्णन प्रस्तुत करता है। यह छः अंकों में विभक्त है—(१) प्रथम अंक में वाल्मीकि के आश्रम के पास लक्ष्मण के द्वारा गर्भवती सीता का परित्याग वर्णित है। (२) द्वितीय अंक में सीता के दो पुत्र लव-कुश उत्पन्न होते हैं, जो वाल्मीकि के द्वारा रामायण के गाने की शिक्षा पाकर राम के नैमिषारण्य में प्रस्तुत अश्वमेध यज्ञ में अपनी माता सीता के साथ जाते हैं। (३) तृतीय अंक में लव-कुश के साथ सीता यज्ञ में पहुँचती हैं। गोमती के तीर पर टहलते हुए राम और लक्ष्मण जलधारा में कुन्दपुष्पों की बहती हुई माला देखते हैं। राम उसे सीता द्वारा निर्मित जानकर विलाप करते हैं जिसे समीपवाले कुंज में खड़ी हुई सीता स्वयं अपने कानों राम का करुण विलाप सुनती हैं। (४) चतुर्थ अंक में तिलोत्तमा नामक अप्सरा राम के सम्मुख सीता का रूप धारण कर आती है, जिससे राम का विषाद और उग्र हो जाता है। (५) पंचम अंक में लव-कुश राम के सामने रामायण का गायन करते हैं। (६) षष्ठ—अन्तिम अंक में पृथ्वी देवी प्रकट होकर सारे समाज के सामने सीता को पतिव्रता घोषित करती हैं और अन्त में रामचन्द्र का पुत्रों से समन्वित साध्वी सीता से मिलन होता है।

इस सामान्य कथावस्तु का वर्णन इसे उत्तररामचरित का ऋणी बतलाने के लिये पर्याप्त है। दोनों राम के उत्तर-चरित पर आधारित सुखपर्यवसायी नाटक हैं। दोनों में अदृश्य सीता की कल्पना की गई है, परन्तु कुन्दमाला'भवभूति के

'उत्तररामचरित' के द्वारा प्रभावित होने की विशिष्टता रखता है, उसकी समता वह कथमपि नहीं कर सकता। इसकी भाषा जरूर सरल और सुबोध है। शैली प्रसादमयी है और दर्शकों के मनोरञ्जन करने में अलम् है, परन्तु मानव-हृदय के सूक्ष्म भावों का जो विश्लेषण उत्तररामचरित में है वह कुन्दमाला में खोजने पर भी नहीं मिल सकता। प्रकृति-चित्रण में भी दोनों में नितान्त पार्थक्य है। उत्तररामचरित में भीषण, भयावह प्रकृति का चित्रण है, किन्तु कुन्दमाला में प्रकृति के मधुर भाव को अभिव्यक्त किया गया है। यह अन्तर दोनों कवियों के दृष्टिकोण का पर्याप्त विभेदक है।

लक्ष्मण रमणीरूपा गोमती का वर्णन करते हुए कह रहे हैं—

मरकतहरितानामम्भसाम् एकयोनिः
मदकलकलहंसीगीतरम्योपकण्ठा ।
नलिनवनविकासैर्वासयन्ती दिगन्तान्
नरवर! पुरतस्ते दृश्यते गोमतीयम् ॥
(अंक ३, श्लोक ५)

सीता का विलाप प्रकृति के पशु-पक्षियों को कितनी मार्मिकता के साथ प्रभावित कर रहा है—

एते रुदन्ति हरिणा हरितं विमुच्य
हंसाश्च शोकविधुराः करुणं रुदन्ति ।
नृत्यं त्यजन्ति शिखिनोऽपि विलोक्य देवीं
तिर्यग्गता वरममी न वयं मनुष्याः ॥
(अंक १, श्लोक १८)

इस उपेक्षित नाटक की उपलब्धि १९२३ ई० में ही हुई है। इसके रचयिता की समस्या आज भी गवेषकों से अपना समाधान चाहती है। कुछ विद्वान् दिङ्नाग (प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक) को इसका रचयिता मानते हैं, परन्तु उनकी रचना न होकर यह किसी धीरनाग या वीरनाग नामक कवि की कृति है। देश-काल का पता नहीं है। कुन्दमाला का प्रथम उल्लेख रामचन्द्र-गुणचन्द्र कृत 'नाट्यदर्पण' (रचनाकाल ११०० ई० के आसपास) में मिलता है[1], जिससे इसका रचनाकाल १००० ई० के आसपास, अर्थात् दशम शती के उत्तरार्ध में प्रतीत होता है। भवभूति से प्रभावित होने की घटना इस काल निर्धारण की पोषिका है।

---

१. 'प्रकर्या यथा वीरनागनिबद्धायां कुन्दमालायाम्' आदि—नाट्यदर्पण, पृ० ४८, (बड़ौदा सं०)।

(ख) प्रसन्नराघव

रामकथा पर निर्मित यह नाटक अपनी प्रसन्न पदावली तथा मनोरम कविता के कारण अत्यन्त प्रसिद्ध है। नाटक का वैशिष्ट्य रामचन्द्र के मधुर भावों के चित्रण में है और इसलिए इसका नाम बहुत ही सार्थक है। इस नाटक में पहिली बार वाटिका का दृश्य दिखलाया गया है, जहाँ राम अपने गुरु के लिए पुष्पचयन करने जाते हैं और सीता से उनका प्रथम साक्षात्कार होता है, जो गिरिजा पूजन के निमित्त माता के आदेश से गई हुई थीं। इस पूरे दृश्य को गोस्वामी तुलसीदास ने अपने 'रामचरितमानस' के बालकाण्ड में भावुकता के साथ चित्रित किया है। अन्य कल्पनाओं के लिए भी वे इस नाटक के ऋणी हैं, परन्तु वाटिका वाला दृश्य तो सर्वाधिक महत्त्वशाली है।

इसमें रामकथा सात अंकों में वर्णित है जिसमें राम और सीता के वाटिकावाली प्रथम साक्षात्कार की कथा बड़ी सुन्दरता से उपन्यस्त है। इस नाटक के रचयिता हैं तार्किक जयदेव, जो महादेव और सुमित्रा के पुत्र थे तथा बरार के कुण्डिनपुर के निवासी थे। इनके काल का पता इस घटना से लगता है कि विश्वनाथ कविराज (१३५० ई०) ने अपने 'साहित्यदर्पण' में इस नाटक का एक पद्य दृष्टान्तरूपेण उद्धृत किया है—

कदल कदली करभः करभः
करिराजकरः करिराजकरः।
भुवनत्रितयेऽपि बिभर्ति तुला-
मिदमूरुयुगं न चमूरुदृशः॥

[इस कमनीय पद्य का तात्पर्य बड़ा ही सुन्दर है। मृगनयनी सीता के
ऊरुयुगल की त्रिभुवन में कहीं समता नहीं मिल सकती। कदली (केला का
चिकना खम्भा) तो कदली (जड़) ही है। करभ (हाथ का प्रकोष्ठ से चलकर
कनिष्ठिका तक का भाग) तो करभ (अति लघु) ही है। गजराजका सूंड भी
सूंड़ (अति कठोर ही है। इन दृष्ट उपमानों के तिरस्कार कर देने पर जगत् में
वह पदार्थ ही अविद्यमान है जिससे उस ऊरुयुगल की समता निष्पन्न की जाय।]
फलतः प्रसन्नराघव की रचना का काल १२०० ई० के आसपास निश्चय
करना चाहिए। ग्राम तथा माता-पिता के नामों में भिन्नता होने के कारण
नाटक का कर्ता 'गीतगोविन्द' के प्रणेता जयदेव से नितान्त भिन्न है, जो केन्दुबिल्व
(कुछ लोग इसे बंगाल में और कुछ लोग इसे उड़ीसा में स्थित मानते हैं) के

निवासी तथा गाधादेवी के पुत्र थे। जयदेव की भाषा में अद्भुत विलास एवं लालित्य है। इनकी शैली बड़ी ही प्राञ्जल, प्रासादिक, परिष्कृत एवं मधुर है। इनकी उपाधि 'पीयूषवर्ष' (अमृत बरसाने वाला) सर्वथा उचित है। अपने विषय में इनकी यह गर्वोक्ति सार्थक प्रतीत होती है—'विलासो यद् वाचामसम-रसनिष्यन्दमधुरः'। फलतः 'प्रसन्नराघव' की कीर्ति उसकी नाटकीयता की अपेक्षा उसकी सुकुमार रसमयी काव्यकल्पना के ऊपर ही अधिक है।

शैली का एक ही नमूना पर्याप्त होगा—

अपि मुदमुपयान्तो वाग्विलासैः स्वकीयैः
परभणितिषु तोषं यान्ति सन्तः कियन्तः।
निजघनमकरन्दस्यन्दपूर्णालबालः
कलशसलिलसेकं नेहते किं रसालः॥
(प्रसन्नराघव १।१९)

[इस संसार में भला ऐसे सज्जन कितने हैं जो अपनी कविताओं से आनन्दित होते हुए भी दूसरों की काव्यरचनाओं पर पूर्ण सन्तोष प्रकट करते हैं? क्या आम का वह वृक्ष, जिसका थाला अपने सघन मकरन्द रस से ही भर रहा हो, घड़ों के जल से सींचे जाने की कामना नहीं करता?]

इस नाटक के शब्दविन्यास बड़े ही मधुर तथा प्राञ्जल हैं। यथा 'युवतिलोकललामवल्ली', 'कलकण्ठी-कण्ठसंवादभ्रमः', 'सततसुखसंवासवसतिः', 'केषां नैषा कथय कविताकामिनी कौतुकाय' आदि पदों का लालित्य स्वयंसिद्ध है, पैरवी करने की जगह उसके लिए नहीं है।

(ग) प्रबोधचन्द्रोदय

प्रबोधचन्द्रोदय संस्कृत के रूपक-साहित्य में एक विशिष्ट प्रकार का निदर्शनभूत आदिग्रन्थ है। यह उस नाट्यप्रकार का प्रातिनिध्य करता है जिसमें अमूर्त पदार्थ (जैसे श्रद्धा, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, दम्भ, हिंसा आदि) मूर्त रूप में कल्पित होकर नाटक के पात्र बनाये गये हैं। साधारणरीत्या मूर्त पदार्थों की ही नाटकों में पात्रकल्पना की जाती है। यह ठीक उसके विपरीत है। कहीं तो समस्त पात्र ही अमूर्तात्मक हैं और कहीं मूर्त तथा अमूर्त का मिश्रण प्रस्तुत किया गया है। ऐसे नाटकों को हमने 'प्रतीक नाटक' (अंग्रेजी में एलेगारिकल ड्रामा) की संज्ञा प्रदान की है। संस्कृत के नाट्यशास्त्रीय

ग्रन्थों में सामान्य नाटकों से उन नाटकों का पृथक् निरूपण नहीं किया गया है। संस्कृत के आलोचक इस विशिष्टता को महत्त्व देने के पक्ष में नहीं हैं, परन्तु पाश्चात्य आलोचना इसे विशेष महत्त्व देती है।

प्रतीक नाटक की उत्पत्ति का रहस्य आज भी अतीत में पड़ा है। केवल अश्वघोष (प्रथम शती) के एक अपूर्ण नाटक में अमूर्त पात्रों की सत्ता उपलब्ध होती है। इस रूपक में हम 'बुद्धि' 'कीर्ति' और 'धृति' को प्रवेश कर कथनोपकथन करते हुए पाते हैं। तदनन्तर स्वयं बुद्ध का आगमन होता है, जो यूनानी कला से गृहीत वेषभूषा से मण्डित हैं। नाटक के त्रुटित होने से हम यह नहीं जानते कि आगे चलकर बुद्ध का कथनोपकथन इन अमूर्त पदार्थों के साथ होता है या नहीं ? ऐसे मिश्रण के लिये हमें 'प्रबोधचन्द्रोदय' से आगे बढ़ कर सोलहवीं शती के कविकर्णपूर के चैतन्य-चन्द्रोदय तक जाना होगा, जहाँ महाप्रभु चैतन्य अमूर्त पदार्थों के साथ मिश्रित कर दिये गये हैं। यद्यपि वे उनके साथ कथनोपकथन वस्तुतः नहीं करते। अश्वघोष के प्रतीक नाटक का यह लघु अंश मोहराज पराजय (१३ शती का प्रथमार्ध) की स्मृति उदित कर देता है, जहाँ यथार्थ और काल्पनिक, मूर्त और अमूर्त पात्र कथनोपकथन करते हैं। फलतः अश्वघोष का बौद्ध प्रतीक नाटक प्रबोधचन्द्रोदय जैसे वेदान्ती प्रतीक नाटक की पूर्वपीठिका प्रस्तुत करता है और इस विशिष्ट सरणि का यही प्रथम तथा प्राचीन प्रतिनिधि है।

समयनिरूपण

प्रबोधचन्द्रोदय के रचयिता का नाम कृष्ण मिश्र है। नाटककी प्रस्तावना संकेत करती है कि इस नाटक का अभिनय जेजकमुक्ति (बुन्देल खण्ड) के चन्देल-वंशीय राजा कीर्तिवर्मा के समक्ष उनके सेनापति गोपाल की आज्ञा से किया गया था। चेदिवंश के राजा कर्ण ने (१०४२ ई० में जीवित) कीर्तिवर्मा को परास्त किया था। परन्तु कीर्तिवर्मा के सेनानी गोपाल ने उसे परास्त कर अपने स्वामी को पुनः सिंहासन पर बैठाया। सम्भवतः यही महोत्सव नाटक के अभिनय के लिये सुयोग्य अवसर था। कीर्तिवर्मा का समय ११ शती का उत्तरार्ध है और प्रबोधचन्द्रोदय के निर्माण का यही युग है।

इस नाटक की घटनास्थली यही पुण्यमयी वाराणसी नगरी है, जहाँ विवेक की सेना के सामने मोहराज को पराजित होना पड़ता है और प्रबोधरूपी चन्द्रमा का उदय होता है। नाटक में कवि ने विवेक, मोह, ज्ञान, विद्या, दम्भ श्रद्धा, भक्ति आदि केवल अमूर्त पात्रों को प्रस्तुत कर अपने लक्ष्य की सिद्धि की है।

यह सम्पूर्णतया दार्शनिक नाटक है। कवि की दृष्टि अद्वैत वेदान्त की उपासिका है। केवल शुष्क ज्ञान से मुक्ति की सिद्धि न होकर भक्ति के द्वारा संपुष्ट ज्ञान से ही वह प्राप्त हो सकती है— यह सप्रमाण यहाँ दिखलाया गया है। कवि की लेखनी अमूर्त पदार्थों के चित्रण में इतनी समर्थ है कि वे पात्र जीवित पदार्थों के समान ही उठते-बैठते हैं, बोलते-चालते हैं। उदाहारणार्थ दम्भ का चित्रण इसका उज्ज्वल निदर्शन है। द्वितीय अङ्क में दम्भ और अहंकार का वार्तालाप इतना सजीव, सशक्त तथा सटीक है कि केवल इतना भी अंश कृष्णमिश्र की नाट्यकुशलता का पूर्ण प्रमापक है। नाटक की काव्यशैली का परिचय प्रस्तुत करने वाला यह एक ही श्लोक आलोचकों के लिए यहाँ पर्याप्त होगा।

> अमुष्य संसारतरोरबोध-
> मूलस्य नोन्मूलविनाशनाय।
> विश्वेश्वराराधनबीजजातात्
> तत्त्वावबोधादपरोऽभ्युपायः ॥
>
> (प्रबोधचन्द्रोदय ४।७१)

[अज्ञान रूपी जड़ वाले संसारवृक्ष के समूल नाश करने का यही एकमात्र उपाय है कि जगदीश्वर (परमात्मा) के आराधनबीज से प्रादुर्भूत तत्त्वज्ञान का आश्रय लिया जाय।]

इस शैली के रूपकों में यशःपाल कवि का 'मोहराज-पराजय' (१३वीं शती), वेदान्तिदेशिक का 'संकल्पसुर्योदय' (१३वीं श०), कविकर्णपूर का 'चैतन्यचन्द्रोदय' (१३वीं श०) तथा आनन्द-राम मखी के 'विद्यापरिणयन' और 'जीवानन्दन' (१८वीं शती) मुख्य नाटक माने जाते हैं।

(घ) वत्सराज

रूपक के दश भेदों में से नाटक, प्रकरण तथा प्रहसन को लोकप्रियता प्राप्त थी। अतएव इनके उदाहरण पर्याप्त परिणाम में हमें प्राप्त होते हैं, परन्तु रूपक के अन्य प्रभेदों, जैसे डिम, समवकार, वीथि, अङ्क तथा ईहामृग नाम से ख्यात भेदों के दृष्टान्त बहुत ही न्यून हैं। इनके लोक-प्रचलित न होने से इधर कवियों का ध्यान ही नहीं गया। केवल वत्सराज कवि ने इन अप्रचलित रूपकों की रचना की है तथा इन प्रकारों का भव्य निदर्शन प्रस्तुत किया है।

वत्सराज कालिंजर के राजा 'परमर्दिदेव' के अमात्य थे तथा उनके पुत्र 'त्रैलोक्यवर्मदेव' के समय में भी उसी पद पर प्रतिष्ठित रहे। परमर्दिदेव का समय ११६३ ई०-१२०३ ई० तक था तथा उनके पुत्र का समय १३वीं शताब्दी के मध्यभाग तक था। इस प्रकार वत्सराज का समय १२वें शतक का उत्तरार्ध तथा १३ वें शतक का पूर्वार्ध है। ये परमर्दिदेव ही 'परमाल' के नाम से प्रसिद्ध थे, जिनके पृथ्वीराज के द्वारा पराजित होने की घटना का वर्णन चन्दवरदाई के 'रासो' (महोबा समय) में मिलता है। वत्सराज के ये रूपक बड़े ही महत्त्वपूर्ण हैं। इन अप्रचलित रूपकों के स्वरूप का ज्ञान हमें इन ग्रन्थों से मिलता है। इनकी भाषा में प्रवाह है। वह लम्बे समासों से न तो दबी है और न अप्रचलित शब्दों के प्रयोगों से भरी है।

(१) **कर्पूरचरित-भाण**—नीलकण्ठ के यात्रा-महोत्सव में यह भाण 'परमाल' की आज्ञा से खेला गया था। इसमें एक द्यूतकर की द्यूतक्रीडा तथा वेश्या के साथ उसकी प्रणयलीला का मनोहर वर्णन किया गया है।

(२) **हास्य-चूडामणि-प्रहसन**—यह प्रहसन एक अङ्क का है। इसमें भागवत धर्म के एक आचार्य 'ज्ञानराशि' की खूब दिल्लगी उड़ाई गयी है। इस आचार्य को 'केवली' विद्या आती थी जिसके सहारे वह गड़े हुये धन का तथा भूली हुई वस्तुओं का पता लगाया करता था। धार्मिक कृत्य को छोड़ कर लौकिक कार्यों की अनुरक्ति को लक्ष्य कर इस प्रहसन की रचना की गयी है।

(३) **त्रिपुरदाह**—डिम। इस डिम में चार अङ्क हैं। कथा पुराण से ली गयी है। भगवान् शंकर ने त्रिपुर असुर का नाश किस प्रकार किया था, इसी का साङ्गोपाङ्ग वर्णन इस डिम में है। भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में 'त्रिपुरदाह' नामक डिम के प्रथम प्रयोग का उल्लेख किया है। इसी संकेत को ग्रहण कर वत्सराज ने इस रूपक की रचना की। इसमें रौद्र रस का परिपाक पूर्णरूप से विद्यमान है। अन्य डिम बहुत पीछे के हैं। घनश्याम-रचित डिम, वेङ्कटवर्य का 'कृष्णविजय', रामकविकृत 'मन्मथोन्मथन' डिम के अन्य उदाहरण हैं।

(४) **किरातार्जुनीय**—व्यायोग। व्यायोग एक अङ्क का होता है। इस एकाङ्की रूपक में अर्जुन और शिव का युद्ध दिखलाया गया है। कथानक वही है जो भारवि के सुप्रसिद्ध महाकाव्य का है। प्रह्लादनदेव-रचित 'पार्थ-पराक्रम' इससे कुछ प्राचीन है। इसके रचयिता चन्द्रावती (जोधपुर) के परमार राजा धारावर्ष के भाई थे। धारावर्ष आबू के परमार राजाओं में

नितान्त प्रसिद्ध हैं। प्रह्लादनदेव का समय ११६३-१२०९ ई० है। 'पार्थ-पराक्रम' लोकप्रिय व्यायोग है, जिसमें महाभारत के विराट पर्व में उल्लिखित अर्जुन के द्वारा विराट राजा की गायों का कौरवों के पञ्जे से छुड़ा लेने का (गोग्रहण) वर्णन है। काञ्चनाचार्य का 'धनञ्जय-विजय' रामचन्द्र का 'निर्भयभीम' (१२ वाँ शतक), विश्वनाथ (१३५०) का 'सौगन्धिकाहरण' व्यायोग के अन्य उदाहरण हैं। भास का 'मध्यमव्यायोग' इन सबों से प्राचीन है।

(५) समुद्रमथन—समवकार। तीन अङ्क के इस समवकार में समुद्रमथन का वृतान्त बड़े विस्तार के साथ दिया गया है। भरत ने समुद्रमथन को समवकार का आदर्श बतलाया है। इसी सूचना के अनुसार वत्सराज ने इस रूपक का प्रणयन किया। समवकार के अन्य उदाहरण उपलब्ध नहीं होते।

(६) ईहामृग—इसका वृत्त मिश्र होता है। इसमें चार अङ्क और तीन सन्धियाँ रहती हैं। कथानक में संघर्ष इतना होता है कि प्रतीत होता है कि तुमुल संग्राम हुये विना न रहेगा, परन्तु फिर भी वह युद्ध व्याज से रोक दिया जाता है। मृग के समान अलभ्य नायिका की अभिलाषा के कारण इसका नाम सार्थक दीख पड़ता है। 'वीरविजय' तथा 'रुक्मिणीहरण' का पता नहीं चलता। वत्सराज का 'रुक्मिणीपरिणय' इसका एकमात्र उपलब्ध उदाहरण है। तीन अङ्क के इस रूपक में कृष्ण के साथ शिशुपाल तथा रुक्म के विशेष संघर्ष का तथा छल पूर्वक युद्ध रोकने का वर्णन है।

वत्सराज के ये रूपक काव्य-दृष्टि से नितान्त सुन्दर हैं। इसकी भाषा साफ सुथरी है। और श्लोक प्रसाद गुण से युक्त हैं। इसका निवेश रूपक के स्वरूप के अनुकूल ही है। 'रुक्मिणीहरण'—ईहामृग की यह नान्दी बड़ी ही सुन्दर है:—

दरमुकुलितनेत्रा स्मेरवक्त्राम्बुजश्री-
रुपगिरिपतिपुत्री प्राप्तसान्द्रप्रमोदा।
मनसिजमयभावैर्भावितध्यानमुद्रा
वितरतु रुचिरं वः शाम्भवी दम्भभङ्गिः॥

—o—

रूपक के अन्य भेद

नाटिका

दशरूपक के अनुसार प्रकरण और नाटक के मिश्रण को 'नाटिका' कहते हैं। नायक नाटक से लिया जाता है और वृत्त प्रकरण से। इसीलिये नाटिका के नायक इतिहासप्रसिद्ध व्यक्ति ही होते हैं; परन्तु इनका वृत्त कविकल्पना-प्रसूत होता है। संस्कृत-साहित्य में सबसे पहली नाटिका महाराज हर्षवर्धन की 'रत्नावली' तथा 'प्रियदर्शिका' है। इन्होंने जिस परम्परा को अग्रसर किया उसी का अनुसरण पिछले नाटिका के लेखकों ने किया। विल्हण की 'कर्णसुन्दरी' नाटिका १०८० और १०९० के आसपास की रचना है। विल्हण अपने महाकाव्य के लिये प्रसिद्ध हैं। इस नाटिका में चार अङ्क हैं। इसमें 'अणहिलवार' के राजा कर्णदेव त्रैलोक्यमल्ल (ई० १०६५–१०९४) का वृद्धावस्था में कर्णाटक के राजा जयकेशी की कन्या के साथ विवाह सम्पन्न होने का वर्णन है। कथानक का प्रदर्शन 'विद्धशालभञ्जिका' से मिलता है।

धारा के परमारनरेश अर्जुनवर्मा के गुरु मदनपाल सरस्वती ने 'विजयश्री' या 'पारिजातमञ्जरी' नामक नाटिका लिखी है। इस नाटिका में भी चार अङ्क हैं, जिसके केवल दो अङ्क धारा में शिला पर खुदे होने से सुरक्षित हैं। इस नाटिका का समय १३वीं शताब्दी का प्रारम्भ है। अर्जुनवर्मा ही इसके नायक हैं। कवि ने दिखलाया है कि जब अर्जुनवर्मा ने चालुक्य नरेश भीमदेव द्वितीय को परास्त किया तब उनकी छाती पर एक माला गिरी और गिरते ही वह एक सुन्दरी के रूप में परिणत हो गयी। यह सुन्दरी चालुक्य नरेश की कन्या थी और इसी से राजा का विवाह हुआ। नाटिका का यही कथानक है, जिसमें कुछ ऐतिहासिक तथ्य भी प्रतीत होता है।

मथुरादास ने राधा-कृष्ण के प्रेम को 'वृषभानुजा' नाटिका में बड़ी सुन्दरता से दिखलाया है। इस नाटिका के रचयिता गङ्गा के तीरस्थ सुवर्ण-शेखर नामक स्थान के कायस्थ थे। राधा कृष्ण के हाथ में किसी सुन्दरी का चित्र देखकर उनसे मान कर बैठती है। पीछे देखने पर यह राधा का ही चित्र निकलता है। यही वृत्तान्त इस नाटिका में दिखलाया गया है। बिल्हण की

'कर्णसुन्दरी'[1] कवि की प्रसिद्ध उदात्त शैली में लिखी गयी है, जिसका निदर्शन हमें 'विक्रमांकदेवचरित' में मिलता है। 'वृषभानुजा' नाटिका की भाषा कर्णसुन्दरी से अपेक्षाकृत सरल है। मथुरादास की पदावली अत्यन्त कोमल है, जो राधा-कृष्ण की लीलाओं के वर्णन के लिये नितान्त उचित है। नीचे के पद्यों से दोनों की रीति का पार्थक्य स्पष्ट हो जायगा—

विधत्ते निःसेकं सहजरमणीयस्तरुणिमा
वपुर्वल्लीं चित्रैः कवचयति लीला-किसलयैः।
विलासव्यापारः किमपि कमलस्थो नयनयो–
रनङ्गं तन्व्यङ्गचास्त्रिभुवनजिगीषुं रचयति॥

(कर्णसुन्दरी १। २९)

इदं मधुरगीतिभिर्मधुकराङ्गनानां सखे
कलापिकुलनर्तितैः पिकदकम्बकोलाहलैः।
लतानववधूलसत्किसलयानुकारोद्गमै–
र्ममागमनमङ्गलं परितनोति मन्ये वनम्॥

(वृषभानुजा १। १६)

प्रकरण

प्रकरण की कथावस्तु नाटकीय कथा के समान इतिहास या पुराण में प्रसिद्ध न होकर कवि की कल्पना से प्रसूत होती है। नायक धीरप्रशान्त होता है और मन्त्री ब्राह्मण अथवा वणिक् में से कोई एक होता है। नायिका कहीं कुलवती और कहीं वेश्या रखी जाती है। इसमें विशेषकर शृंगार रस की ही प्रधानता रहती है। प्रकरण को हम सामाजिक रूपक कह सकते हैं— वह रूपक जो समाज के नाना स्तरवाले व्यक्तियों का कथानक तथा चित्रण प्रस्तुत करता है। अंग्रेजी का 'सोशल ड्रामा' संस्कृत का यही 'प्रकरण' है। मालतीमाधव तथा 'मृच्छकटिक' महनीय प्रकरण हैं, जिनका वर्णन नाटक के प्रसंग में ऊपर किया गया है। अन्य प्रकरणों की रचना कालान्तर में की गई। प्रधान प्रकरण निम्नलिखित हैं—

---

१. 'कर्णसुन्दरी' काव्यमाला (नं० ७) में तथा 'वृषभानुजा' भी वहीं (नं० ४६) में प्रकाशित हुई है।

(१) मल्लिकामारुत[1]—इस प्रकरण में १० अङ्क हैं। रचयिता का असली नाम उद्दण्ड कवि है, जो वस्तुतः केरल में कालिकट के राजा की सभा के पण्डित थे तथा १७ वीं शताब्दी के मध्यभाग में विद्यमान थे। कथानक बिल्कुल मालतीमाधव के समान है। नामसाम्य से कभी-कभी यही प्रकरण दण्डी के मत्थे भी मढ़ा जाता है।

(२) कौमुदीमित्रानन्द[2]—यह हेमचन्द्र के शिष्य रामचन्द्र की कृति है, जिसकी रचना ११७३–७६ ई० के बीच में हुई। यह प्रकरण अभिनय के लिये उपादेय नहीं है, क्योंकि इधर-उधर विकीर्ण कथनोपकथन का यह एक संग्रहमात्र प्रतीत होता है।

(३) प्रबुद्धरौहिणेय—जयप्रभसूरि के शिष्य रामभद्रमुनि (१३ शतक) के द्वारा रचित है। यहाँ जैनधर्म में प्रसिद्ध एक आख्यान का प्रकरणरूप से निर्माण हुआ है।

(४) मुद्रितकुमुदचन्द्र[3]—धनदेव के पौत्र तथा पद्मचन्द्र के पुत्र यशश्चन्द्र की रचना है। यह प्रकरण एक विख्यात धार्मिक शास्त्रार्थ का अवलम्बन कर लिखा गया है, जो ११२४ ई० में श्वेताम्बर मुनि देवसूरी और दिगम्बरमुनि कुमुदचन्द्र के बीच हुआ था। इसमें कुमुदचन्द्र का मुखमुद्रण हो गया इसीलिये इस रूपक का यह सार्थक नाम रखा गया है।

भाण

एक अङ्क में समाप्त होनेवाले, धूर्त तथा विट के चरित्र को वर्णन करने वाले रूपक को 'भाण' कहते हैं। संस्कृत-साहित्य में प्राचीनता की दृष्टि से भाण का स्थान नाटक से किसी प्रकार कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। अभी हाल में बहुत प्राचीन काल में लिखित 'भाण' उपलब्ध हुए हैं, जिनका प्रकाशन 'चतुर्भाणी' के नाम से मद्रास से हुआ है। इन भाणों की भाषा, भाव, सरणि प्राचीनता की प्रधान प्रतीक हैं। इन भाणों के रचयिता वररुचि, ईश्वरदत्त,

---

१. जीवानन्द विद्यासागर के द्वारा प्रकाशित।

२. भावनगर से १९१७ में प्रकाशित।

३. काशी से प्रकाशित, वीर सं० २४२३।

श्यामलिक तथा शूद्रक हैं। इनके विषय में किसी प्राचीन आलोचक का यह श्लोक मिलता है—

वररुचिरीश्वरदत्तः श्यामलिकः शूद्रकश्च चत्वारः।
एते भाणान् बभणुः का शक्तिः कालिदासस्य॥

कालक्रम से इन भाणों[1] का संक्षिप्त वर्णन यों है—

(१) उभयाभिसारिका—इसके रचयिता वररुचि हैं। वररुचि के 'कण्ठाभरण' काव्य का उल्लेख महाभाष्य में मिलता है। अतः यह ईस्वी पूर्व तृतीय शतक से अर्वाचीन नहीं है। इस भाण की भाषा तथा शैली बड़ी प्रौढ है। पाटलिपुत्र में इस भाण का अभिनय हुआ था।

(२) पद्मप्राभृतक—इसके रचयिता 'शूद्रक' कवि हैं, जिनका वर्णन नाटक-प्रकरण में विस्तार के साथ किया गया है। शूद्रक राजा होने के अतिरिक्त रूपककार भी थे। प्राचीन काल में विक्रमादित्य के समान ही सरस्वती के उपासक तथा कवियों के आश्रयदाता होने से इनकी पर्याप्त ख्याति थी। इनके विषय में रामिल और सोमिल ने 'शूद्रक-कथा' लिखी थी। किसी अज्ञात कवि का 'विक्रान्त-शूद्रक' नामक नाटक तथा पञ्चशिख का 'शूद्रक-चरित' नाटक का भी उल्लेख मिलता है। इस भाण में प्राचीन काल के प्रसिद्ध कला-वेत्ता 'मूलदेव' का चरित्र चित्रित किया गया है। इसके पढ़ने से प्राचीन काल के पण्डितों के नोक-झोक की बातें जानी जा सकती हैं। इस भाण का एक पद्य हेमचन्द्र ने 'काव्यानुशासन' (पृ० १८८) में उद्धृत किया है। अन्य ग्रन्थों में भी इसके उद्धरण मिलते हैं।

(३) धूर्तविट-संवाद—इसके रचयिता का नाम है 'ईश्वरदत्त'। भोजदेव ने 'शृंगारप्रकाश' में इस ग्रन्थ का उल्लेख किया है। हेमचन्द्र ने भी इस ग्रन्थ के एक पद्य का उल्लेख अपने काव्यानुशासन में किया है। इससे स्पष्ट है कि इनका समय एगारहवीं शताब्दी से पूर्व का है। इस रूपक में विट और धूर्त का परस्पर संवाद कामिनियों तथा वेश्याओं के विषय में दिया गया है। भाषा में बड़ी प्रौढता है।

---

१. शिवपुरी (मद्रास) से प्रकाशित १९२२। 'शृंगार हाट' नाम से हिन्दी में अनूदित बम्बई, १९५९।

(४) पादताडितक—इसके रचयिता का नाम है श्यामलिक। इन्होंने अपने को उदीच्य लिखा है, जिससे यह ज्ञात हो सकता है कि वे कश्मीर के निवासी थे। क्षेमेन्द्र ने 'औचित्य-विचारचर्चा' में श्यामलिक का जो पद्य उद्धृत किया है वह इस भाण में मिलता है। अभिनवगुप्त ने श्यामलिक का नाम निर्देश किया है तथा 'पादताडितक' से उद्धरण भी दिए हैं। अतः इनका समय ८००-९०० ई० के बीच का होना चाहिए। बहुत सम्भव है कि ये महिमभट्ट के गुरु 'श्यामलिक' ही हों।

१६ वीं शताब्दी के बाद भी अनेक भाणों की रचना होती रही, जिसमें वामनभट्ट बाण का 'शृङ्गारभूषण', रामभद्रदीक्षित का 'शृङ्गारतिलक', (या अय्या भाण), वरदाचार्य का 'वसन्ततिलक' (अम्मा भाण), शंकरकवि का 'शारदा-तिलक', नल्लाकवि (१७ वीं शती के लगभग) का 'शृङ्गार-सर्वस्व', युवराज-कृत 'रससदन' भाण मुख्य हैं। इन भाणों का कथानक, लेखनशैली, वर्णन का प्रकार बिलकुल मिलते-जुलते हैं। जिस चतुर्भाणी का उल्लेख विस्तार से ऊपर किया गया है उसकी शैली से इनकी शैली भिन्न है।

प्रहसन

संस्कृत के नाटक-साहित्य में प्रहसन का एक विशिष्ट स्थान है। मध्यकालीन प्रहसनों में कुछ अश्लीलता का अंश भले आ गया हो, परन्तु प्राचीन प्रहसन काव्य-दृष्टि से विशुद्ध हास्य के पोषक हैं और अश्लीलता की छाया से दूर हैं। इन प्राचीन प्रहसनों में वैदिक धर्म के न मानने वाले चार्वाक, जैन, बौद्ध, शैव, कापालिकों के मतों की खासी दिल्लगी उड़ाई गई है। उनके आक्षेप-जनक सिद्धान्तों की, जिनसे जनता में अनाचार फैलने की आशंका है, बुराइयों की ओर बड़े मार्मिक रूप से संकेत किया गया है। इन प्रहसनों का उपयोग तत्कालीन समाज तथा धर्म की स्थिति जानने में भी है। ऐसे उच्चकोटि के प्रहसनों में 'मत्तविलास' प्रहसन मुख्य है। इसके लेखक पल्लववंशीय सिंहविष्णु वर्मा के पुत्र महेन्द्रविक्रम वर्मा हैं। इनका समय सप्तम शतक का प्रथमार्ध है। इस प्रकार ये महाराज हर्षवर्धन तथा पुलकेशी द्वितीय के समकालीन ठहरते हैं। इनके प्रहसन में कापालिक, शाक्यभिक्षु तथा पाशुपत का परस्पर संघर्ष बड़ी ही संयतभाषा में दिखलाया गया है। कापालिक की यह शंकर-स्तुति बड़ी ही रोचक तथा मार्मिक है :—

पेया सुरा प्रियतमामुखमीक्षितव्यं
ग्राह्यः स्वभावललितो विकृतश्च वेषः।
येनेदमीदृशमदृश्यत मोक्षवर्त्म
दीर्घायुरस्तु भगवान् स पिनाकपाणिः॥

शंखधर कवि का 'लटकमेलक', जिसकी रचना कान्यकुब्ज के महाराज गोविन्दचन्द्र (११वीं शताब्दी) के राज्यकाल में की गई थी, बड़ा ही लोकप्रिय प्रहसन माना जाता है।

ज्योतिरीश्वर कविशेखर—मिथिला के कर्नाटवंशीय राजा हरिसिंह देव (१३०० ई०—१३२५ ई०) के आश्रित कवि थे। इनका 'धूर्तसमागम' नामक प्रहसन सामान्यतः प्रख्यात है, परन्तु इनकी मैथिली रचना 'वर्णरत्नाकर' तो भाषाविदों में अपनी कोशात्मक विशिष्टता के कारण विशेष महत्त्व रखती है। जगदीश्वर का 'हास्यार्णव' अधिक प्रख्याति से मण्डित है, यद्यपि इसके देशकाल का यथार्थ परिचय नहीं मिलता। गोपीनाथ चक्रवर्ती का 'कौतुकसर्वस्व' दुर्गापूजा के शारदीय महोत्सव के लिये लिखा गया था, जो अन्य प्रहसनों की अपेक्षा अधिक रोचक और कम अश्लील है। रचनाकाल का पता नहीं चलता। लेखक तो निःसन्देह वंगदेशीय है। रामराज दीक्षित का 'धूर्तनर्तक' सत्रहवीं शती की रचना है। अन्य प्रहसनों की उपलब्धि इसे रूपक का लोकप्रिय प्रकार सिद्ध कर रही है।

रूपक के अन्य भेदों का प्रचार उस युग में कम था। उधर लोकरुचि न होने से इनकी रचना भी बहुत ही कम हुई। केवल पूर्व वर्णित वत्सराज कवि की कृपा से हमें डिम, व्यायोग, समवकार तथा ईहामृग नामक अप्रसिद्ध रूपक-भेदों के दृष्टान्तरूप में शास्त्रीय पद्धति पर निर्मित रूपकों की उपलब्धि हुई, जिससे पाठक इनके स्वरूप को जानने में सर्वथा समर्थ होता है।

—×—

संस्कृत-नाटकों का समीक्षण

संस्कृत भाषा में निबद्ध ललित काव्यविषयक साहित्य में संस्कृत-नाटक अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। प्राचीन दो भाषाओं के साहित्य में नाटक ने जितनी प्रौढि तथा पूर्णता प्राप्त की उतनी अन्यत्र मिलना नितरां

दुष्कर है। ये दोनों भाषायें हैं संस्कृत तथा यावनी (ग्रीक, यूनानी) यूनानी नाटकों की पूर्ण अभिव्यञ्जना पर आग्रह रखने वाले विद्वानों की यह आपात-मनोहर उक्ति रही है कि वैसी ही पूर्ण अभिव्यञ्जना रखने वाले, जीवन के स्तरों में व्यापनशील संस्कृत नाटकों का विकास यूनानी नाटकों के प्रभाव पर ही आधारित रहा है, परन्तु इस उक्ति की युक्ति-हीनता का विश्लेपण इसी ग्रन्थ में पहले ही किया गया है। इन दोनों भाषाओं के नाटक स्वच्छन्द वातावरण में, बिना किसी पारस्परिक प्रभाव के ही अपनी अभ्युन्नति के चरम शिखर पर पहुँचे हैं; पारस्परिक प्रभाव की कल्पना दुराग्रहमात्र है।

संस्कृत के नाटककर्ताओं ने अपने नाटकों का विषय रामायण तथा महा-भारत से, लौकिक कथा-साहित्य से और अपनी उर्वर कल्पना से गृहीत किया है। रामायण तथा महाभारत को आधार मान कर रचित तत्तत् नाटकों की रचना में आजकल का समालोचक मौलिकता के अभाव का प्रश्रय स्वीकार करता है, परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। कवि जयदेव ने बड़ी ही मार्मिक बात कही है कि नाटककर्ताओं तथा महाकाव्य-प्रणेताओं के लिये नाटक और महाकाव्य राम-कथा का में आश्रयण प्रतिभा-दारिद्रय का सूचक नहीं है, प्रत्युत राम के महनीय गुणों का ही यह अवगुण है कि कविजन जनता के हृदय में अपनी कला के उद्देश्य की सफलता के लिये अन्य नायकों की ओर दृष्टिपात न कर उनको ही अपनी कृतियोंका नायक बनाते हैं। संस्कृत नाटकों की वस्तु प्राचीन अवश्य है, परन्तु उस वस्तु के विन्यास में, सजावट में तथा अभिनय में नितान्त मौलिकता है। नाटकों की कथावस्तु प्राचीन कथाओं का पूर्णतः अनुगमन नहीं करती; घटनाओं में पुनर्योजना की जाती है और अपने उद्देश्य को लक्ष्य में रख कर घटनाओं का स्वतन्त्र चुनाव तथा पुनः उनमें क्रमबद्धता लाई जाती है और नये-नये पात्र, जो मूल कथा-ग्रन्थों में उपस्थित नहीं थे, प्रस्तुत किये जाते हैं।

प्राचीन कथावस्तु का आधार कवियों की मौलिकता के अभाव को कथमपि इंगित नहीं करता। संस्कृत के कवियों ने प्राचीन कथाओं के चित्रण और विश्लेषण में अपनी अपूर्व मौलिकता का परिचय दिया है। तथ्य तो यह है कि किसी नवीन कथा के गठन की अपेक्षा प्राचीन कथाओं के विन्यास में अधिक मौलिकता लाने का अवसर मिलता है। विश्लेषित विषयों की अपेक्षा नवीन विषयों के विश्लेषण में मौलिकता की अधिक प्रवृत्ति होती है। फलतः जो आलोचक प्राचीन कथा के आधार पर नाट्यप्रासाद खड़ा करके कवियों में

प्रतिभा का दारिद्र्य तथा मौलिकता के ह्रास की कल्पना करता है, वह तथ्य से नितान्त दूर रहता है। प्राचीन कथाश्रयण के कारण संस्कृत के कवियों में प्रतिभा-हीनता का दोष कथमपि सुसंगत नहीं प्रतीत होता।

आलोचकों का यह बहुचर्चित आरोप है कि संस्कृत के कवियों ने अपने आश्रयदाता राजाओं को प्रसन्न करने के लिये ही नृपवृत्त को आश्रयण कर अपनी रचनायें की हैं। संस्कृत नाटकों में राजा ही वर्णित है, कवियों का जो उद्देश्य उन्हीं की कृपा प्राप्ति थी। परन्तु यह आरोप तर्क की कसौटी पर ठीक नहीं जँचता। दरबारी कवियों ने ही नाटक लिखा हो, ऐसी बात तो नहीं है। स्वयं राजाओं ने भी तो नाटकों का प्रणयन किया है। हर्ष, शूद्रक यशोवर्मा, मायूराज आदि राजाओं ने भी तो नाटकों का निर्माण किया। ये किन राजाओं को प्रसन्न करने के लिए नाटक लिखे? ये तो किसी राजा के चाकर नहीं थे, जो चाटुकारिता से प्रेरित होकर नाटकों का निर्माण करते। राजाओं का चित्रण राजकीय वैभव, विपुल सैन्य तथा अतुल सम्पत्ति से समन्वित पुरुषविशेष के रूप में नहीं किया गया है, अपि तु वे सामान्य जन के रूप में ही चित्रित किये गये हैं, जो सामान्य जनजीवन यापन करते हैं तथा अपनी प्रजा के दुःख-सुख में पूरी सहानुभूति रखते हैं। सच्ची बात तो यह है कि संस्कृत कवियों का उद्देश्य सामान्य जन-जीवन का ही चित्रण है। वे अपनी कृतियों के अभिनन्दन, प्रसारण तथा अभिमूल्यांकन के लिये ही राजदरबारों का आश्रय लेते थे। नाटकों का प्रथम अभिनय प्रायः अभिरूपभूयिष्ठा राज्य-सभा में किया जाता था। कालिदास के 'अभिज्ञानशाकुन्तल' का अभिनय विक्रमादित्य की सभा में सर्वप्रथम प्रस्तुत किया गया था। परन्तु भवभूति के नाटकों का अभिनय किसी राजदरबार में न होकर कालप्रियानाथ की यात्रा में उपस्थित आर्यमिश्रों के सामने किया गया था। यह यात्रा जनसाधारण का आकर्षण भी थी जहाँ नाना स्थानों से लोग आजकल की तरह मेला देखने के लिये आते थे। राजा की प्रशस्ति की मुहर लग जाने पर ही नाटक जनता के निमित्त उन्मुक्त कर दिये जाते थे।

संस्कृत नाटकों के रचयिता जिन आदर्शों का चित्रण अपने नाटकों में करते थे वे होते थे प्राचीन आदर्श—सुविचारित, सुपरीक्षित तथा सुव्यवस्थित। ऐसे आदर्शों के विश्लेषण की पूरी सामग्री एकत्र करने के लिए कविजन प्राचीन राष्ट्रिय नायकों को अपनी कृतियों का पात्र बनाते थे और उन्हें रङ्गमञ्च के ऊपर अवतीर्ण करते थे। प्राचीन आदर्शों को समय ने प्रामाणिक और उपयोगी

सिद्ध कर दिया था। फलतः नवीन युग में परिवर्तित आदर्शों की अयुक्तिमत्ता से विषण्णहृदय कविजन प्राचीन आदर्शों की ओर स्वतः आकृष्ट हुए और उन्हीं को अपने नाटकों में संवार कर चित्रित करने में अपने को कृतकार्य बनाया। संस्कृत के कवि जनसाधारण को नये अपरीक्षित आदर्शों तथा नये अव्यवस्थित आचरणों की ओर झुकते हुए देखकर दुःखित हुए और उनके कल्याण के लिए उन प्राचीन आदर्शों को अपनी रचनाओं में स्थान दिया जिनकी उपयोगिता तथा कार्यशीलता में किसी प्रकार का सन्देह नहीं था। इन आदर्शों की प्रशंसा का रहस्य उनकी इसी उपयोगिता तथा समयानुकूलता में अन्तर्निहित है। यदि कोई प्राचीन कथानक इन आदर्शों के संरक्षण में सफल नहीं था, तो कविजन उस कथानक के अंशविशेष को बदल देने के लिए सर्वथा प्रस्तुत रहते थे। महाकवि कालिदास ने इसीलिए शकुन्तला के महाभारतीय कथा को आदर्श से सुसंगत बनाने की दृष्टि से यत्र-तत्र परिवर्तित करने में कथमपि संकोच नहीं किया। राजा दुष्यन्त को उद्दण्डता तथा मृषावादिता के दोष से उन्मुक्त करने के लिए ही कालिदास ने दुर्वासा के शाप की कल्पना की है।

छद्म से किये गये वालिवध से रामचन्द्र को दोषमुक्त करने के लिए ही तो मायुराज के 'उदात्तराघव' में इस प्रसङ्ग का पूरा परिहार कर दिया है, तथा भवभूति ने 'महावीरचरित' में इसका अन्यथा परिवर्तन कर दिया है। संस्कृत कवि का लक्ष्य आदर्शों की सृष्टि है—उन आदर्शों की, जो मानवजीवन के प्रद्योतन के निमित्त विद्युत्-स्तम्भ हैं और जिनका संरक्षण भारतीय संस्कृति का प्रधान उद्देश्य है। फलतः इन आदर्शों पर आंच आने देने का अवसर संस्कृत कवियों के लिए असह्य हो जाता है और वे उस अवसर का सर्वात्मना प्रतिरोध करते हैं।

संस्कृत नाटकों के पात्र जीवन तथा जगत् से पलायनवृत्ति के सर्वथा पराङ्मुख होते हैं। वे जीवन के संघर्ष से कभी भागते नहीं, और न कभी वे जीवन की समस्याओं के सुलझाने से विमुख होते हैं। वे समग्र मानव बनने के लिए कृतसंकल्प हो कर सामने आने वाले प्रतिबन्धों को तोड़ने का उद्योग करते हैं। बौद्ध संघ के अनुयायी भिक्षु तथा भिक्षुणी नाटक में पात्र रूप से प्रवेश पाते हैं, परन्तु वे वहाँ न तो निर्वाण का उपदेश देते हैं और न वे संन्यास के आश्रयण पर आग्रह रखते हैं। वे जगत् में मानवजीवन को परिपूर्ण तथा समग्र बनाने के कार्य में ही सर्वदा सहायता देते हैं। संस्कृत नाटकों का अन्तिम आशीर्वचन (जिसे शास्त्रीय परिभाषा में 'भरतवाक्य' कहते हैं) कविजनों के

हार्दिक आदर्शों की पूर्ण अभिव्यक्ति करता है। वे मानव-जीवन की समग्र सौख्य-सम्पत्ति की सिद्धि के सूचक अग्रदूत हैं। कालिदास सार्वभौम दुर्गनिस्तारण, भद्रदर्शन, कामावाप्ति तथा सर्वत्र आनन्द को ही मानव-जीवन का लक्ष्य मानते हैं और उसे ही अपने नाटकों द्वारा प्रस्तुत करना चाहते हैं। राष्ट्र की समग्र उन्नति का ही उपदेश कवि देता है। 'नागानन्द' नाटक का नायक मानवजीवन की सार्वत्रिक उन्नति की कामना करता है—"प्रकृति तथा मानव दोनों अपने जीवन के उत्कर्ष के सम्पादन में समर्थ हों। मेघगण उचित समय पर वृष्टि करें; जिससे मयूर लोग प्रसन्न होकर नाचें तथा पृथ्वी उगे हुए हरे-भरे शस्यों की चादर सदा ओढ़ा करे। मत्सरता से हीन मानस से प्रजाजन विपत्तिहीन होकर सुकृतों का संचय करे। आनन्द गोष्ठियों में, नाच-गान से युक्त समाज में मनुष्य अपने बन्धुओं और मित्रों के साथ आनन्द मानते हुए जीवन यापन करें"—जीवन के उत्कर्ष का यह मनोरम चित्रण बतलाता है कि संस्कृत नाटक इहलोक की प्रतिष्ठा पर आग्रह रखते थे, इहलोक की उपेक्षा कर परलोक के चिन्तन में वे कभी व्यग्र नहीं होते थे। इस आदर्श के अनुकूल ही नाटक का प्रधान रस शृङ्गार तथा वीर होता है। शृङ्गार जीवन में सौन्दर्य तथा स्नेह का पक्षपाती है, तो वीर अन्याय का उच्छेद कर न्याय के स्थापन में बद्धपरिकर होता है। नाटक में शान्त रस की स्थिति नगण्य ही है। यदि प्रतीक नाटकों के लघु वर्ग को ध्यान से बाहर रखें, तो शान्त रस की समस्त नाटकों में उद्भावना विशेष महत्त्व नहीं रखती। भारतीय समाज पारलौकिक भावना को प्रश्रय देने के लिए पर्याप्त रूपेण आलोचकों की निन्दा का पात्र है। इसलिए संस्कृत नाटकों की लक्ष्यभूत ऐहिक समृद्धि तथा कल्याण की भावना पर जोर देने की आवश्यकता है 'विक्रमोर्वशीय' नाटक का यह भरतवाक्य कालिदास के मानव आदर्श का प्रतिनिधित्व करता है—

सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु।
सर्वः कामानवाप्नोतु सर्वः सर्वत्र नन्दतु॥

संस्कृत नाटकों के ऊपर धार्मिक पूर्वाग्रह-रखने का आरोप लगाना मिथ्या है। धर्म मानव-जीवन के ऊपर अपना प्रभाव सन्तत डालता है। अत एव धर्म का चित्रण धर्म के ही लिये न होकर मानवजीवन की प्रेरिका शक्ति के रूप में ही यहाँ किया गया है। किसी भी संस्कृत नाटक में धार्मिक अनुष्ठान का पूर्ण वैभव और विस्तार के साथ वर्णन शायद ही किया गया है। अंग्रेजी का 'रिलिजन' शब्द मजहब या सम्प्रदाय का बोधक है। संस्कृत का 'धर्म' शब्द

अपनी व्यापकता तथा अर्थविस्तार में उससे कहीं अधिक विस्तृत तथा उदात्त है। संस्कृत नाटकों में अर्थ तथा काम के विश्लेषण के संग में धर्म का चित्रण कम नहीं है, परन्तु यह वह उदात्त शक्ति है जो इस समस्त विश्व को, नाना प्रकीर्ण अंगों को, एक सूत्र में बांध कर नियमन तथा व्यवस्थापन करने वाला तत्त्व है। इसमें सम्प्रदाय की संकीर्णता नहीं है। धर्म यह कभी नहीं सिखाता कि मानव अपने कर्तव्यों का तिरस्कार कर जीवन में विद्यमान संघर्षों से भाग कर किसी दैवी इच्छा के प्रति आत्मसमर्पण कर दे। संस्कृत नाटक मानवों के अपने कर्तव्यों से च्युत होकर आलस्य में जीवन यापन का साहित्य नहीं है, प्रत्युत यह आत्मविश्वास, स्वशक्ति पर पूर्ण निभर्रता तथा संघर्षों पर विजय-प्राप्ति का प्रेरक साहित्य है।

संस्कृत का कवि भारतीय संस्कृति का सन्देश-वाहक कवि है। वह अपनी रचनाओं में इस संस्कृति के विशुद्ध रूप के चित्रण में तथा उसके सार्वभौम प्रभाव के विश्लेषण में अपनी शक्ति लगाता है। भारतीय संस्कृति का मूल मन्त्र है—"तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा:" (अर्थात् त्याग के साथ भोग करो)। त्याग तथा भोग का मञ्जुल समन्वय इसे ऐसी विशिष्टता प्रदान करता है जो न तो केवल त्याग-प्रधान श्रमण संस्कृति में और न तो केवल भोग-प्रधान भौतिकवादी संस्कृति में उपलब्ध होती है, भारतीय संस्कृति वर्णाश्रमधर्म पर आधारित है और इसीलिए वह धर्म-अर्थ-काम इस पुरुषार्थत्रयी के आसक्ति-रहित समसेवन के ऊपर आग्रह रखती है। व्यास की यह श्रद्धेय सूक्ति इसी तथ्य को प्रद्योतित करती है—

> धर्मार्थकामाः सममेव सेव्या
> यो ह्येकसक्तः स नरो जघन्यः॥

संस्कृत नाटक इसी संस्कृति का अग्रदूत है। भारत तथा भारत के बाहर जहाँ वह प्रचारित हुआ वहाँ वह इस उदात्त सन्देश के सुनाने से कभी पराङ्मुख नहीं हुआ, फलतः कर्तव्यपरायणता, नैतिकता, सत्याग्रह, दीनसंरक्षण आदि कमनीय दिव्य गुणों के ललित रूप से प्रचार करने में वह सर्वदा अग्रसर रहा। संस्कृत कवियों की इस उपलब्धि को कभी भूलना नही चाहिये। भवभूति उत्तररामचरित में प्रेम तथा कर्तव्य के बीच भीषण संघर्ष दिखला कर कर्तव्य की महत्ता पर आस्था रखते हैं। प्रजारञ्जक रामचन्द्र राजा के कर्तव्य से कभी विमुख नहीं होते और उसकी रक्षा में अपनी पतिव्रता सती-साध्वी धर्मपत्नी सीता को कठोर गर्भ की दशा में छोड़ते समय वे किसी संशयदोला में

अविरुद्ध नहीं होते। उनका जीवनदर्शन कितने सुबोध शब्दों में कवि अभिव्यक्त करता है—

स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा॥

इसी प्रकार 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में कालिदास ने श्रेय तथा प्रेय के परस्पर संघर्ष का परिहार श्रेय के अभ्युत्थान के द्वारा किया है। हर्ष ने अपने 'नागानन्द' में परदुःखकातर जीमूतवाहन का चारु चित्रण कर परोपकार को ही मानवजीवन के लिए आदर्श रूप में प्रस्तुत किया है। फलतः मानव के सामने जीवन के महनीय और माननीय आदर्शों को अभिनय के द्वारा चित्रित करने में संस्कृत कवियों ने बड़ी व्युत्पत्ति दिखलाई है। भारतीय संस्कृति की कलात्मक अभिव्यक्ति, जीवनदर्शन की मनोरम अभिव्यञ्जना, नियति के ऊपर मानवीय प्रयत्नों का निष्कलंक प्रतिपादन संस्कृत नाटकों को विश्व साहित्य में सर्वदा गौरवमय और महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करता रहेगा—इसमें किसी प्रकार की मतभिन्नता नहीं हो सकती। नाटक की महत्ता के विषय में कालिदास की यह मार्मिक उक्ति इसी सत्य की ओर स्पष्ट संकेत करती है—

त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नाना-रसं दृश्यते।
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम्॥

(मालविका० १।४)

अष्टम परिच्छेद

संस्कृत काव्य-शास्त्र

संस्कृत काव्यशास्त्र अलंकार शास्त्र के नाम से विशेष प्रख्यात है। यह साहित्य शास्त्र के नाम भी प्रचलित है। इसका इतिहास १००० वर्ष से ऊपर के सुदीर्घ काल में फैला हुआ है, लगभग ६०० ईस्वी से लेकर १८०० ईस्वी तक। इसका आरम्भ काल ६०० ईस्वी से भी प्राचीन माना जाता है। क्योंकि इस शास्त्र का आदिम ग्रन्थ भरत का "नाट्यशास्त्र" लगभग २०० ईस्वी की रचना माना जाता है। इस शास्त्र का उद्गम उत्तर भारत में विशेष रूप से हुआ, परन्तु इसकी संवर्धना करने में भारत के इतर प्रान्तों के आचार्यों ने भी महनीय योगदान दिया। तथापि काश्मीर के आचार्यों ने इस शास्त्र के विकास में बड़ा ही महत्त्वपूर्ण कार्य किया है; इसे कोई भी इतिहास-वेत्ता व्यक्ति अस्वीकार नहीं कर सकता।

अलंकार-शास्त्र केवल अलंकारों का वर्णन करने वाला शास्त्र नहीं है, प्रत्युत काव्य के सौन्दर्य का प्रतिपादक शास्त्र है। साधारण दृष्टि से अलंकार काव्य के गुणाधायक तत्वों के लिए ही प्रसिद्ध है। परन्तु इसका एक व्यापक अर्थ भी है—काव्य की शोभा। फलतः जब हम अलंकार-शास्त्र नाम का प्रयोग करते हैं, तब हमारी दृष्टि इसी व्यापक अर्थ की ओर रहती है। वामन का प्रसिद्ध सूत्र इसी तत्त्व का द्योतक है कि सौन्दर्य ही अलंकार है—"सौन्दर्यम् अलंकार:"। काव्य में सौन्दर्य के आधायक जितने तत्त्व होते हैं उन सब की समान संज्ञा है "अलंकार"। फलतः अलंकारशास्त्र काव्य के बाह्य अलंकरणों का वर्णन न होकर काव्य-शोभा के वर्द्धक तत्वों का प्रतिपादक शास्त्र है। इसे स्थावर मानने की जो परम्परा चल निकली है, वह नितान्त अनुचित है। यह शास्त्र कभी भी स्थावर नहीं रहा, प्रत्युत क्रमशः विकासशील तथा गतिमान रूप में विद्यमान रहा। इसका परिचय इसके दीर्घकाल के विकास को देखने से किसी भी आलोचक को स्पष्ट संकेत मिल सकता है।

भारतीय अलंकार शास्त्र के इतिहास को हम मोटे तौर से चार भागों में विभक्त कर सकते हैं—

१. आरम्भिक काल (अज्ञात काल से लेकर भामह तक)

२. रचनात्मक काल (भामह से आनन्दवर्धन तक ६५० ईस्वी से लेकर ८५० ईस्वी तक)

३. निर्णयात्मक काल (आनन्दवर्धन से मम्मट तक—८५० ईस्वी से लेकर १०५० ईस्वी तक)

४. व्याख्या काल (मम्मट से पंडितराज जगन्नाथ तक—१०५० से लेकर १७५० ईस्वी तक)

इस शास्त्र के सर्वप्राचीन उपलब्ध ग्रन्थ भरत नाट्यशास्त्र में चार अलंकार, दस दोष और दस गुणों का वर्णन कर ही अलंकारशास्त्र की इतिश्री मानी गई है। इस प्राचीन युग में नाटक का समीक्षण ही आलोचना का सर्वश्रेष्ठ विषय था। अलंकार-शास्त्र का परिचय तो वाचिक अभिनय के प्रसंग में स्वल्प मात्रा में दिया गया है। फलत: अलंकार-विद्या नाट्य-विद्या के अन्तर्गत तथा सहायक मानी जाती थी। परन्तु भरत के लगभग तीन सौ वर्ष के अनन्तर भामह के युग में अलंकार-विद्या स्वतंत्र विद्या के रूप में प्रतिष्ठित हुई और तब से लेकर आज तक अलंकार शास्त्र अपनी स्वतंत्र सत्ता ही कायम किये हुये नहीं है, प्रत्युत प्रत्येक शताब्दी में विकसित होता हुआ आज परिपक्व तथा उन्नत दशा पर पहुँच गया है। आचार्य भामह के ग्रन्थ का नाम "काव्यालंकार" है। उसके अनुशीलन से पता चलता है कि भरत और भामह के बीच वाले, अन्धकार सम्पन्न प्रतीत होने वाले इस युग में भी अलंकार शास्त्र का विश्लेषण जारी था। मेधाविरुद्र नामक आचार्य इस काल के एक प्रख्यात आचार्य माने जाते हैं। भामह ने ३८ स्वतंत्र अलंकारों का सन्निवेश अपने ग्रन्थ में किया है। परन्तु काव्य में रससमीक्षण की महत्ता की ओर आलोचकों का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट न था।

साहित्यशास्त्र का रचनात्मक युग भामह से आरम्भ होकर आचार्य आनन्दवर्धन तक चला जाता है। यह २०० वर्षों का काल हमारे शास्त्र के इतिहास में इसलिए महत्त्वपूर्ण माना जाता है कि काव्य के मौलिक तत्त्वों की उद्भावना हमारे आचार्य ने की। एक ओर भामह, उद्भट तथा रुद्रट काव्य के उन बाह्य आभूषणों की रूपरेखा का विश्लेषण कर रहे थे, जो अलंकार के नाम से अभिहित होता है, तो दूसरी ओर दंडी और वामन काव्य में रीति तथा तत्सम्बद्ध गुण-तत्त्व की परीक्षा में संलग्न थे। इनकी दृष्टि में काव्य का सौन्दर्य गुणों के द्वारा ही अभिव्यक्त होता है। इसी युग में नाट्य

शास्त्र की गहरी छानबीन आरम्भ हुई। भट्ट लोल्लट तथा शंकुक ने भरत के ग्रन्थ पर अपनी दृष्टि से टीकाएँ लिखी तथा उनके रससिद्धान्त को समझाने का महनीय उद्योग किया। परन्तु रसवाद अभी तक नाट्य के सम्बन्ध में ही था। काव्य में रसवाद का महत्त्वपूर्ण विवेचन करने वाले आचार्य आनन्दवर्धन है जो अपनी सूक्ष्म विवेचना के कारण अलंकार शास्त्र के सर्वश्रेष्ठ आलोचक माने जाते हैं। इन्होंने (८५० ईस्वी) साहित्य शास्त्र की एक नई धारा आरम्भ की जो ध्वनि-सम्प्रदाय के नाम से प्रख्यात है और जिसका तात्त्विक विवेचन इन्होंने अपने युगान्तरकारी ग्रन्थ ध्वन्यालोक में किया। इस मत के अनुसार काव्य में ध्वनि ही सर्वश्रेष्ठ स्थान रखती है। ध्वनि से तात्पर्य उस अर्थ से है, जो शब्दत: प्रतिपादित न होकर कवि के तात्पर्य से ही गम्य माना जाता है।

तीसरा काल निर्णयात्मक काल माना जाता है। यह आनन्दवर्धन से आरम्भ होकर मम्मट तक चला जाता है। (८५० ईस्वी से लेकर १०५० ईस्वी तक)। आनन्दवर्धन के द्वारा प्रतिपादित ध्वनि के सिद्धान्त को सुप्रतिष्ठित होने में २०० वर्ष का समय लगा। एक ओर ध्वनि के समर्थक आचार्यों की टोली थी, तो दूसरी ओर ध्वनि-विरोधी आचार्यों की। ध्वनि के समर्थक तथा आनन्दवर्धन के मान्य व्याख्याकार थे—अभिनवगुप्त (दशम शतक) ये शैवदर्शन के मूर्धन्य आचार्य होने के अतिरिक्त साहित्य शास्त्र के भी प्रौढ़ तथा मान्य आचार्य हैं। इन्होंने अपने दोनों ग्रन्थ "ध्वन्यालोक लोचन" तथा "अभिनव भारती" में रस सिद्धान्त का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया, जो आज सर्वथा मान्य है। ध्वनि-विरोधी आचार्यों में कुन्तक तथा महिमभट्ट का नाम लिया जा सकता है। एकादश शतक में काश्मीर में उत्पन्न होने वाले इन दोनों आचार्यों ने ध्वनिसिद्धान्त के विरोध में नवीन मान्यताओं की प्रतिष्ठा की। कुन्तक का "वक्रोक्तिजीवित" वक्रोक्ति सिद्धान्त का प्रतिष्ठापक, बड़ा ही विशाल, प्रौढ़ तथा मौलिक विवेचन है और महिमभट्ट का "व्यक्तिविवेक" उतना ही प्रौढ़ तथा विचारोत्तेजक सिद्धान्त-ग्रन्थ है। मम्मट ने अपने "काव्यप्रकाश" नामक प्रख्यात ग्रन्थ में इन विरोधी मतों की व्यर्थता दिखला कर ध्वनि को मत को ही, इतने दृढ़ आधारों पर सर्वत: पुष्ट किया कि बाद के अलंकारिकों को इसका खंडन करने का साहस ही नहीं हुआ।

इस शास्त्र का अन्तिम काल व्याख्या-काल है जो मम्मट से आरम्भ होकर पंडितराज जगन्नाथ तक ७०० वर्षों तक फैला रहा। इस युग में प्राचीन ग्रन्थों की सुबोध व्याख्याएँ लिखी गई तथा काव्य के विविध अंगों पर—विशेषतः काव्य तथा रस पर-पृथक ग्रन्थों का निर्माण हुआ। पंडितराज जगन्नाथ (सत्रह शतक) का "रसगंगाधर" अलंकारशास्त्र के तत्वों का विशेष प्रतिपादक तथा नितान्त मौलिक ग्रन्थ माना जाता है। इससे तीन सौ वर्ष पहिले लिखा गया विश्वनाथ कविराज का "साहित्यदर्पण" विवेचना की दृष्टि से सचमुच दर्पण ही है, जिसमें साहित्य के समग्र सिद्धान्त अपने विशद रूप में प्रतिबिम्बित हो रहे हैं।

इस संक्षिप्त परिचय से स्पष्ट है कि संस्कृत का अलंकारशास्त्र एक वर्द्धिष्णु शास्त्र है, जिसमें नये-नये सम्प्रदायों का जन्म हुआ तथा प्राचीन सिद्धान्तों का भी विश्लेषण तथा परिबृंहण बड़ी गम्भीरता के साथ सम्पन्न हुआ। अलंकार शास्त्र में ४ मुख्य सम्प्रदाय हैं—रस सम्प्रदाय (भरत), अलंकार सम्प्रदाय (भामह तथा उद्भट), गुण सम्प्रदाय (दंडी और वामन) तथा ध्वनिसम्प्रदाय (आनन्दवर्धन एवं अभिनव-गुप्त)। इस विकास तथा संवर्धनपर दृष्टिपात न करके जो आलोचक इसे एक स्थावर शास्त्र मानते हैं, वे यथार्थता से कोसों दूर हैं और इसके वास्तव रूप से एकदम अपरिचित हैं।

—:※:—

संस्कृत समीक्षा का महत्त्व

संस्कृत आलोचना के इस संक्षिप्त परिचय के अनुशीलन से इस शास्त्र की विशिष्टता तथा व्यापकता का परिचय प्रत्येक आलोचक को हो सकता है। यह शास्त्र बहुत प्राचीन काल से काव्य की समीक्षा में तथा काव्य की रचना में आलोचकों तथा कवियों का मार्ग निर्देश करता आया है। यह काव्य के बहिरंग तथा अन्तरंग उभय पक्षों के विषय में प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत करता है। आपाततः यह प्रतिभास होना स्वाभाविक है कि यह केवल काव्य के बहिरङ्ग रूप को ही समीक्षण का विषय बनाता है। परन्तु इस शास्त्र के अन्तराल में प्रवेश करनेवाले आलोचक को यह समझते देर न लगेगी कि यह काव्य के अन्तरङ्ग का भी, उसके हृदय का भी, उसी प्रकार मार्मिक विवेचन प्रस्तुत करता है। यदि दोष तथा अलङ्कार का विवेचन इस आलोचनापद्धति के बहिरङ्ग समीक्षण का फल है, तो ध्वनि तथा रस की मीमांसा इसके अन्तरंग प्रवेश का परिचायक है। तथ्य यह है कि संस्कृत आलोचना काव्य को एक सर्वांग-सम्पन्न वस्तु मानती है और इसीलिए वह उसके शरीर तथा आत्मा दोनों का विवेचन तथा समीक्षण करना अपना महत्त्वपूर्ण कार्य समझती है। ऐसी स्थिति में जो पाश्चात्य आलोचक तथा नव्य भारतीय समीक्षक इसे केवल बहिरंग तत्त्व-विवेचना ही मानते हैं वे सिद्धान्त से सर्वथा दूर हैं। दोषों की समीक्षा आपाततः बहिरङ्ग प्रतीत होती है, परन्तु वह काव्य के अन्तरङ्ग के अध्ययन पर आश्रित रहती है। 'भग्नप्रक्रम' दोष को ही देखिए। यह काव्यकला के सूक्ष्म तथा गम्भीर सिद्धान्त के ऊपर आश्रित रहता है। कला समरसता तथा समरूपता (सिमेट्री) पर आश्रित होनेवाली एक महनीय वस्तु होती है। जब तक यह 'सामञ्जस्य' चित्र या काव्य के विविध अङ्गों में वर्तमान नहीं होता, तबतक यह कलात्मक होने के महनीय गौरव से सदा वञ्चित रहता है। काव्य में प्रयुक्त होनेवाले शब्दों में, धातुओं में, प्रत्ययों में तथा इतर अङ्गों में सामञ्जस्य होना अनिवार्य होता है और इस महत्त्वपूर्ण नियम के उल्लंघन करने पर 'भग्नप्रक्रम' काव्य-दोष का जन्म होता है। इसी प्रकार अन्य दोषों के अनुशीलन से महनीय काव्य सिद्धान्तों का व्यापक परिचय हमें प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि साधारण रीति से जो दोष-समीक्षा बहिरङ्ग के समान प्रतीत होती है, सूक्ष्मता से देखने पर वही नितान्त अन्तरङ्ग,

व्यापक तथा तलस्पर्शिनी ज्ञात होती है। फलतः संस्कृत आलोचना काव्य के अन्तरङ्ग तथा बहिरङ्ग उभयविध पक्षों का अध्ययन तथा विवेचन करने के कारण अत्यन्त महनीय है; इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

समीक्षा-संसार के लिए संस्कृत आलोचना की काव्य तत्त्वों की चार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण देन हैं—औचित्य, वक्रोक्ति, ध्वनि तथा रस। ये चारों काव्य-सिद्धान्त काव्य के नितान्त अन्तरङ्ग तत्त्व हैं जिनके अभाव में काव्य अपने स्वरूप से हीन हो जाता है।

औचित्य

औचित्य नितान्त व्यापक सिद्धान्त है लोक-व्यवहार में तथा काव्य-कला में। आलोचना-शास्त्र के आरम्भिक काल में ही भरतमुनि ने 'औचित्य' का साहित्यिक मूल्यांकन किया तथा उसे नाटक का एक सर्वमान्य तत्त्व घोषित किया। काव्य-जगत् में औचित्य एक व्यापक तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित है जिसके अभाव में रस तथा ध्वनि से स्निग्ध भी काव्य फीका, नीरस तथा अरुचिकर होता है। भरत ने अपने नाट्य-शास्त्र में इसे नाट्यकला का प्राण माना है। उनकी महनीय उक्ति है—

वयोऽनुरूपः प्रथमस्तु वेषो,
वेषानुरूपश्च गति-प्रचारः।
गति-प्रचारानुगतं च पाठ्यं,
पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्यः॥

(नाट्यशास्त्र १४।६८)

इसका तात्पर्य है वय के अनुरूप उचित वेष होना चाहिए और वेष के अनुरूप होनी चाहिए गति तथा क्रिया। पाठ्य अर्थात् सम्वाद गतिप्रचार के अनुकूल ही होता है और पाठ्य के अनुरूप अभिनय करना चाहिए। नाटक के ये ही अङ्ग होते हैं और इनमें परस्पर औचित्य होना नितान्त आवश्यक होता है।

आनन्दवर्धन अनौचित्य को रसभंग का कारण मानते हैं तथा औचित्य को रस का गूढ़ रहस्य बतलाते हैं :—

अनौचित्यादृते नान्यत् रसभंगस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा॥

इस प्रकार काव्य तथा कला में, दृश्य तथा श्रव्य काव्य में, लोक तथा शास्त्र में औचित्य का महनीय तत्त्व सर्वदा जागरूकता के साथ अपनी सत्ता

प्रतिष्ठित किये रहता है। इस तत्त्व की अवहेलना किसी भी काव्य को उसके मान्यपद से गिराने के लिए पर्याप्त कारण होती है। 'औचित्य' भारतीय आलोचकों की सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा उन्मीलित मान्य काव्य-तत्त्व है जिसकी उपासना प्रत्येक साहित्य के लिए आवश्यक होती है। यूनानी आलोचक अरस्तू ने अपने आलोचना ग्रन्थों में 'प्रोप्रायटी' की चर्चा अवश्य की है परन्तु जो सूक्ष्मता तथा विशदता औचित्य के विवेचन में भारतीय आचार्यों ने दिखलाई है वह एकदम नवीन है, व्यापक है तथा तलस्पर्शी है।

वक्रोक्ति

संस्कृत आलोचना की दूसरी महत्त्वपूर्ण देन है—वक्रोक्ति। इस तत्त्व की मीमांसा संस्कृत के आचार्यों की सूक्ष्म विवेचक शक्ति का परिचायक है। काव्य में लोकातिक्रान्त-गोचर वचन का प्रयोग नितान्त आवश्यक है। जिन शब्दों को बहुत प्रचार के कारण जनसाधारण ने अत्यन्त परिचित अथच अत्यन्त धूमिल बना डाला है, उनके प्रयोग से काव्य कथमपि स्निग्ध तथा पेशल नहीं बन सकता। स्निग्धता तथा पेशलता के लिए काव्य में 'अतिशय' होना ही ही चाहिए। भामह जिसे अतिशयोक्ति के नाम से अभिहित करते हैं वही तो आचार्य कुन्तल की वक्रोक्ति है। संस्कृत का आलोचक काव्य के लिए भाषा की विशिष्टता को महत्त्व नहीं देता, वह उक्ति के चमत्कार को ही सर्वस्व मानता है। राजशेखर की यह उक्ति प्रख्यात है—

'उक्ति-विसोसो कव्वं भासा जा होइ सा होउ'

'उक्ति विशेष ही काव्य होता है। भाषा जो भी हो, सो हो।' काव्य को उक्ति में विशिष्टता इसी 'वक्रोक्ति' के समाश्रयण से आती है। संस्कृत आलोचना के इस तत्त्व की महत्ता सर्वत्र मान्य है और आजकल के कविजनों की भाषा इसीलिए वक्रोक्तिमयी होती है। काव्य में लाक्षणिक शब्दों का प्रयोग भाषा स्निग्ध तथा भाव को रसपेशल बनाता है और इसीलिए इसका प्रचुर प्रचार सर्वत्र दृष्टिगोचर हो रहा है। वक्रोक्ति का आदर भारतवर्ष में ही नहीं, प्रत्युत यूरोप में भी 'अभिव्यञ्जनावाद' के नाम से जिस काव्यतत्त्व का समीक्षण तथा प्रचारण हो रहा है वह भी वक्रोक्ति के बहुत कुछ पास पहुँचता है। इसलिए संस्कृत आलोचना का मर्मज्ञ अपने तत्त्व का उद्घाटन इस सरस सूक्ति के द्वारा करता है—

वक्रोक्तयो यत्र विभूषणानि,
वाक्यार्थबाधः परमः प्रकर्षः ।
अर्थेषु बोध्येष्वभिधैव दोषः,
सा काचिदन्या सरणिः कवीनाम् ॥

महाकवियों का मार्ग ही निराला होता है—जिसमें वक्र उक्तियाँ विभूषण होती हैं। वाक्य के अर्थ का बाध ही परम उत्कर्ष होता है तथा अर्थ के प्रकट करने के लिए अभिधा का प्रयोग दोष माना जाता है। सचमुच यह अद्भुत मार्ग है काव्य का ! ! ! वक्रो.क्त के कारण भाषा में लोच तथा लचीलापन ही नहीं आता, प्रत्युत एक ही अर्थ के अभिव्यञ्जक तथा द्योतक नाना शब्दों का रुचिर पुंज भी कवि के सामने प्रस्तुत हो जाता है। इसीलिए वक्रोक्ति भाषा को शक्ति तथा प्रौढ़ि देने में, भावों की नितान्त अभिनव ढंग से अभिव्यञ्जना करने में, एक अलौकिक साधन है; इस तथ्य की बहुशः व्याख्या कर संस्कृत के आलोचकों ने हमारे सामने एक अपूर्व काव्यतत्त्व की घोषणा की है।

ध्वनि

संस्कृत आलोचना की तीसरी देन है—ध्वनि का तत्त्व। हमारे आलोचकों ने काव्य की समीक्षा कर इस महनीय तत्त्व की उद्भावना की कि काव्य उतना ही नहीं प्रकट करता जितना हमारे कानों को प्रतीत हो रहा है। भाषा अलौकिक शक्ति से सम्पन्न रहती है और वह नितान्त गूढ़ अर्थों को भी हमारे हृदय तक पहुँचाने की क्षमता रखती है। इस गूढ़ शक्ति को हमारे संस्कृत के आलोचकों ने स्वयं समझा और अपनी मनोरम शैली में विस्तार तथा वैशद्य के साथ समझाया। यह तत्त्व बहुत से आलोचकों के लिऐ अनिर्वचनीय कोटि में बहुत दिनों तक पड़ा रहा, परन्तु आनन्दवर्धन ने इस अर्थ की स्वतन्त्रता तथा मनोरमता का विवरण बड़ी सुन्दरता के साथ अपने युगान्तरकारी ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' में सर्वप्रथम प्रस्तुत किया। लक्ष्य में इसकी सत्ता तो अत्यन्त प्राचीनकाल से ही थी, परन्तु लक्षण-ग्रन्थ में इसकी समीक्षा तथा विशद व्याख्या हमारे आलोचकों की तलस्पर्शिनी बुद्धि का परिचायक है। व्यञ्जना ही काव्य की कसौटी मानी गई। जिस काव्य में इस शक्ति का जितना ही अधिक आश्रयण विद्यमान रहता है, वह काव्य उतना ही मार्मिक, रोचक तथा हृदयावर्जक माना जाता है। शब्द की इस महनीय शक्ति को प्रतिष्ठा देने के लिए इन आलोचकों के न्याय तथा मीमांसा के अनुयायी आचार्यों से जो लोहा लिया

वह भी अपनी पैनी युक्तियों के कारण दार्शनिक संसार की एक आश्चर्यकारी घटना है। तात्पर्यवादी, अन्विताभिधानवादी तथा अभिहितान्वयवादी अचार्यों के मतों का युक्तियुक्त खण्डन कर संस्कृत आलोचना के आचार्यों ने एक नवीन युक्तिवाद की प्रतिष्ठा की।

यह कम महत्त्व की बात नहीं है कि पश्चिमी आलोचक भी आज समीक्षा के लिए व्यञ्जना शक्ति के महत्त्व को समझने लगे हैं। १८ शती के मान्य अंग्रेजी कवि ड्राइडन ने बड़े पते की बात कही थी--'मोर इज़ मेण्ट दैन मीट्स दी ईअर' अर्थात् कविता का तात्पर्य उससे अधिक होता है जो हमारे कान के साथ सम्पर्क में आता है। यह स्फुटतया ध्वन्यर्थ की ही काव्य स्वीकृति है। आजकल के अंग्रेजी आलोचक तो स्पष्टतः व्यञ्जना शक्ति के महत्त्व को काव्य में मानने लगे हैं। मान्य कवि तथा आलोचक 'एबर क्राम्बी' की स्पष्ट उक्ति है--"साहित्य-कला कुछ मात्रा तक सदैव व्यञ्जनात्मक होती है और इस कला का महनीय उत्कर्ष यह है कि यह व्यञ्जना शक्ति को ऐसी व्यापक, विशद तथा सूक्ष्म भाषा में प्रकट करे जितना सम्भव हो सकता है। अभिधाशक्ति के द्वारा जो अर्थ वाच्य होता है, उसकी पूर्ति भाषा की व्यञ्जना-शक्ति कर देती है।" रिचर्ड्स जैसे आधुनिक दार्शनिक आलोचक भी इसे काव्य में महनीय तत्त्व मानते हैं। उनके अनुसार काव्यगत अर्थ के चार प्रकार होते हैं—(१) सेन्स, (२) फीलिंग, (३) टोन, (४) इन्टेन्शन। 'सेन्स' का अर्थ है वक्ता के द्वारा कही गई वस्तु। 'फीलिंग' का अर्थ है हृदयगत भाव। 'टोन' का अर्थ है बोलने का सुर; वक्ता और बोधव्य के सम्पर्क का ज्ञान। वक्ता अपने श्रोताओं की ओर दृष्टि रख कर ही अपने वाक्यों का विन्यास करता है। श्रोताओं के भाव परिवर्तन के साथ-साथ वक्ता अपने कथन के सुर में भी परिवर्तन करता है। यह तीसरा प्रकार है। 'इन्टेन्शन' का अर्थ है अभिप्राय या तात्पर्य। लेखक बहुत-सी बातें कहता है, परन्तु वह शब्दों के द्वारा प्रकट नहीं कर सकता। उसे यह अपने पाठकों के लिए बोध्य या गम्य ही बनाकर छोड़ देता है। किसी ग्रन्थ की रचना में लेखक का जो तात्पर्य या व्यंग्य अर्थ होता है वही उसका 'इन्टेन्शन' होता है। यहाँ स्पष्टतः इस शब्द का तात्पर्य 'ध्वनि' से है जो इस आलोचक की सम्मति में काव्यगत अर्थ का सबसे महत्त्वपूर्ण अंश होता है।

जिस व्यञ्जना से गम्य अर्थ की ओर पश्चिमी आलोचना अभी मुड़ रही है और उसका महत्त्व समझ रही है उसका विशद प्रतिपादन संस्कृत आलोचना ने कम-से-कम डेढ़ हजार वर्षों से तो अवश्य ही किया है। यह उसके लिये गौरव की वस्तु है।

रस

हमारी आलोचना की चौथी देन है—रस का तत्त्व। हम निःसन्देह कह सकते है कि हमारी आलोचना ने रस तत्त्व का जो मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तथा विवरण प्रस्तुत किया है वह अन्यत्र एकान्त दुर्लभ है। रस के रूप का, उसकी साधक सामग्री का, उसके परस्पर सम्बन्ध का, उसके पारस्परिक उन्मीलन का, विरोध का तथा विरोधपरिहार का जो गम्भीर विवेचन भरत तथा उनके व्याख्याकारों ने किया है वह नितान्त सूक्ष्म, मार्मिक तथा तलस्पर्शी है। काव्य का यही हृदय है, यही उपनिषद् है। इसी अलौकिक आनन्द के उन्मीलन की ओर समग्र काव्य अग्रसर होते हैं चाहे वे दृश्य हों या श्रव्य। इसी की सिद्धि के तारतम्य से काव्य के उत्कर्ष तथा अपकर्ष का मूल्यांकन किया जाता है। काव्य का यही हृदयपक्ष है जो श्रोता तथा दर्शक के हृदय को अनुरंजित कर काव्य के श्रवण करने के लिए या नाटक के देखने के लिए बलात् खींचता है। काव्य का आकर्षण इसी तथ्य पर आश्रित रहता है। रसात्मकता काव्य की सबसे बड़ी कसौटी है। इस तथ्य का परिचय हमें महर्षि वाल्मीकि की प्रथम श्लोकात्मक रचना से होता है। व्याध के बाण से विंधे हुए क्रौञ्च के लिए विलाप करने वाली क्रौञ्ची के करुण क्रन्दन को सुनकर महर्षि वाल्मीकि के मुख से जो प्रथम उद्गार निकला था वही रसमयी कविता का प्रथम प्रतीक है। शोक तथा श्लोक का समीकरण आलोचनाशास्त्र का प्रथम मूल सूत्र है जिसके भाष्यरूप में अवान्तर ग्रन्थों की परम्परा चलती है। रामायण, कालिदास तथा आनन्दवर्धन एक स्वर से इस समीकरण के पक्षपाती हैं और इसके साक्षी हैं कि वाल्मीकि प्रथम कवि ही नहीं, प्रथम भावक भी हैं। काव्यसर्जन तथा काव्यालोचन का जन्म तथा उदय संस्कृत साहित्य में एक ही समय हुआ। वाल्मीकि ही हमारे आदि कवि हैं और वे ही हमारे आदिम आलोचक हैं—

काव्यस्यात्मा स एवार्थः तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥

(ध्वन्यालोक १।५)

कविता का मूलस्रोत भावों की अभिव्यक्ति है। कवि के हृदय में उद्वेलित होने-वाले भावों को शब्दों के द्वारा जो वस्तु प्रकट करती है उसी का नाम तो कविता', है। इसका मार्ग दर्शन महर्षि वाल्मीकि ने ही प्रथमतः किया। इस आदि कविभावक की आलोचना का यही मर्म है कि रस ही काव्य का मूलभूत महनीय तत्त्व है। इस रस का उदय तबतब नही हो सकता जब तक कवि उस भाव से स्वयं आप्लुत न हो। यदि कवि किसी भाव से बिलकुल आक्रान्त हो उठता है, उसके हृदय में भाव इतना भर जाता है कि वह छलकने लगता है तभी रसमयी कविता का जन्म होता है। भावानुभूति भावाभिव्यक्ति का प्रथम सोपान है। पहिले अनुभूति से सम्पन्न कवि ही उचित शब्दों में उस भाव की अभिव्यक्ति पाठकों के सामने करने बैठता है और तभी वह सफल होता है। स्वतः अनुभूति के बिना क्या कोई लेखक अपने पाठकों को उस रस का उन्मीलन कभी करा सकता है? उसका प्रयास निश्चय रूप से विफल होगा। रस का उन्मीलन ही काव्य का लक्ष्य है और उस रस का विश्लेषण आलोचना का तात्पर्य है। इसे कभी भुलाया नही जा सकता। इस प्रकार संस्कृत आलोचना ने विश्व साहित्य के सामने अपनी महती देन औचित्य, वक्रोक्ति, ध्वनि तथा रस के रूप में प्रस्तुत किया। तुलनात्मक समीक्षण का यह परम रहस्य है।

[illegible]

परिशिष्ट

(प्रश्नावली)

प्रथम परिच्छेद

1. "Sanskrit literature outside of Vedas is an artificial thing—a hot-house plant cultivated by poets and other writers who never used the language as their mother-tongue."

   Comment upon this statement, giving your own estimate of classical Sanskrit literature.

   (I. A. S. 1950)

2. "It has been suggested, with more or less clearness, that for profane as opposed to sacred literature, Sanskrit was originally not employed." Criticise this Statement, giving some account of the controversy as to the language in which secular literature was first composed in India.

   (I. C. S. 1936)

3. How far can it be maintained that Sanskrit language was thrown into the background by Pali and Prakrits during the period of foreign invasions in India ?

(Panjab, B. A. Hons. 1949)

4. How for can it be maintained with justice that ancient India had no historical sense and historical literature ? (Do)

द्वितीय परिच्छेद

5. What do you understand by "epic of growth" and "epic of art" ? Illustrate these two varieties of epic poetry, with special reference to the Ramayana of Valmiki and Raghuvansa of Kalidasa.

(Agra, B. A. 1952)

6. What do you know about the three stages of the development of the text of Mahabharata.

(B. H. U., B. A. 1963)

7. Make a note on the genuine and spurious portions of the Ramayana and state the ground for making this distinction.

(Do)

8. Discuss the age and social condition, literary peculiarities, merits and demerits of any one of उपजीव्य काव्य in Sanskrit literature.

(B. H. U., B. A. 1957)

9. Write a brief essay on the Mahabharata under the following headings :—

(a) Date, showing the three stages of its development.

(b) Nature of contents diverting from its epic kernel into an encyclopaedia of moral teaching in its final shape.

(c) Place in Sanskrit literature as a poem and as a record of history.

(I. A. S. 1952)

10. "The Mahabharata in its present shape contains an epic nucleus, having a historical background which must have undergone stages of development since the time it assumed definite shape." Explain and discuss the above statement.

(I. A. S. 1956)

11. Discuss the relative chronology of the Maha bharata and the Ramayana. Compare the two-epics in the matter of their poetic quality, the unity of their plot and authorship, and the ultimate aim that each seeks to attain.

(I. A. S. 1950)

12. Write an essay on the Mahabharata or the Ramayana, as a source of inspiration and example for later literature.

(Agra, B. A. 1956)

13. Describe the literary charms of the Sundara Kanda of Valmikiya Ramayana.

(Magadh, B. A. 1965)

14. "There is much more probability in the opinion of Jacobi that the Ramayana contains no allegory at all, but is based on Indian Mythology."—Macdonell.

Cleary comment upon the above, briefly discussing all the important theories, held about the authenticity of the Ramayana story.

(B. H. U., B. A., 1927)

15. Discuss the linguistic and literary peculiarities of the Mahabharata as distinguished from those of the Ramayana and their bearing upon the problem of priority of the one to the other.

(B. H. U., B. A. 1928)

16. Write a note on the Ramayana laying stress on the socio-political organization, family life and the relation of the diverse races and cultures as recorded therein.

(Magadh, M. A. 1967)

17. "The Ramayana and the Mahabharata are the main source of the plots of later epics, dramas and Champus."

Discuss the proposition with apt illustrations showing how far they conform to the original and their departure inspired by consideration of Rasa (रस).

(Magadh, M. A. 1967)

18. Describe the evidence for fixing the date of the Valmiki Ramayana and discuss which portions of the work may be looked upon as authentic and why.

(Agra, M. A. 1955)

19. "The Ramayana has come home to the business and bosoms of all men. Influence on life is the true test of real art, and that our poem has had in abundance."

Explain and verify this statenent.

(Delhi, M. A. 1931)

20. Justify or controvert—"The Mahabharata, in its final shape, is not an epic at all, but an encyclopaedia of moral teaching."

(Delhi, B. A. Hons. 1937)

21. "The Mahabharata helps us to give an insight into the deepest depths of the soul of the Indian people."—Substantiate.

(Delhi, M. A. 1939)

22. Contrast the picture of life as given in the Ramayana with that of Mahabharata.

(Agra, M. A. 1950)

तृतीय परिच्छेद

23. Make an estimate of Kalidasa as a national poet, with reference to his sublime thoughts and cultural ideals.

(B. H. U. M. A. 1956)

24. Compare and contrast Vipralambha Shringara as depicted in Meghaduta and Uttar-Rama-charita, supporting your remarks with apt quotations.

(Agra, M. A. 1950)

25. Discuss with apt illustrations and quotations whether Kalidasa's Meghaduta is easily the best among the Duta-kavyas of Sanskrit literature.

(Delhi, M. A. 1939)

26. "Works of Kalidasa are not only noteworthy for their aesthetic beauty and poetic appeal but

they are equally valuable for the ideals which they place before society"

Comment upon the above remark.

(Punjab, B. A. Hons. 1950)

27. "The history of the epic in fact, after Kalidasa is one of growing artificiality of form and decline in taste."

Discuss the above statement.

(Agra, B. A. 1955)

28. Write a critical appreciation of the Meghaduta as a lyric par excellence and give apt illustrations in support of your statement.

(B. H. U., M. A. 1955)

29. "The Meghaduta, loosely called a lyric or an elegy, is a much smaller monody of a little over a hundred stanzas in the stately and melodious Mandakranta metre, but it is no less characterstic of the vitality and versatility of Kalidasa's poetic powers."

Examine this estimate and give your own views on Meghaduta.

(B. H. U., M. A. 1967)

30. What are the different theories regarding the date of Kalidasa, and which of them appeals to you most ? Adduce reasons.

(B. H. U., B. A 1963)

31. Compare the Nature description of Kalidasa with that of Bhavabhuti.

(B. H. U., B. A. 1954)

32. Describe briefly the various imitations of Meghaduta of Kalidasa attempted in India and abroad.

(Agra, M. A. 1955)

33. Write a short dissertation on Kalidasa as a poet and dramatist, his age, the socio-political conditions depicted in his works and his conceptions of the ideal State and Society.

(Magadh, M. A. 1967)

34. Describe briefly but clearly the route followed by the cloud in the Meghaduta from Ramgiri mountain to Alaka, giving modern names for the ancient sites mentioned therein.

(Magadh, B. A. Hons. 1965)

35. "जिस कवि में प्राकृतिक दृश्य और प्रकृति के कौशल देखने और समझने का जितना ही अधिक ज्ञान होता है, वह उतना ही बड़ा कवि होता है।"

इस कथन की समीक्षा करते हुए कालिदास तथा भवभूति पर तुलनात्मक निबन्ध लिखिए।

(बनारस, एम० ए० १९६३)

36. 'रघुवंश द्वितीय सर्ग एवं कुमारसम्भव पंचम सर्ग-इन दोनों में नाटकीय तत्त्व अधिक मात्रा में हैं।'

इस कथन की छानबीन करते हुए एक समीक्षात्मक निबन्ध लिखिए।

(बनारस, एम० ए०, १९६२)

37. Write a critical estimate of the Saundarananda so as to test the validity of the observation— "But for want of art, the Saundarananda would have been equal to any of the best poems in Sanskrit."

(Agra, M. A. 1931)

38. "Sanskrit poetry is a helper towards the propogation of religion and philosophy among the common men."

Comment upon the statement with apt references and quotations from the poems of Ashwaghosha.

(Agra, M. A. 1950)

39. "Ashwaghosha is more of a zealous Buddhist missionary than an amiable Sanskrit poet."

Discuss the statement and adduce arguments in support of your views.

(Agra, M. A. 1950)

40. Compare and contrast Ashwaghosha with Kalidasa as regards the descripion of Nature, delineation of sentiments and expression of beautiful imagery.

(B. H. U., M. A. 1952)

41. What are the principal works of Ashwaghosha? How far can it be maintained that he was indebted to Kalidasa? (Do)

42. Discuss the sources of Kiratarjuniya or its distingnishing feature as an epic of "Conscious art."

(B. H. U., B. A. 1926)

43. "Bharavi sets a bad example in his fondness for showing his skill in grammar."

Justify or criticize the above remark.

(Punjab, B. A. Hons. 1941)

44. Comment on the remark—

"Bharavi, however, is guilty of errors of taste."

(B. H. U., B. A. 1942)

45. "Bharavi sets a bad example in his fondness for showing his skill in grammar and he is in many ways the beginner of mannerisms in the later poets."

Examine the statement.

(B. H. U., M. A. 1950)

46. Discuss fully the saying 'भारवेरर्थगौरवम्' and prove that he was full of worldly wisdom.

47. How do you justify Mallinatha's comparison of Bharavi's poem to a coconut fruit (नारिकेलफल-सम्मितं वचो भारवेः) ?

(B. H. U., M. A. 1950)

48. Discuss with suitable example the literary peculiarities of the Kiratarjuniya as one of the foremost epics in the Sanskrit literature.

(Magadh, B. A. Hons. 1965)

49. "तावद्भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः ।
उदिते च पुनर्माघे भारवेर्भा रवेरिव ॥"

The above is the opinion of some of our ancient critics. What is your verdict ? Give definite reasons for your answer.

(Delhi, M. A. 1931)

50. Describe how Balarama set forth various considerations of policy in support of his opinion for immediate commencement of hostilities and attack on Shishupala (in the second canto of Shishupalavadha).

(Agra, M. A. 1954)

51. Describe how Uddhava advised Shri Krishna to attend first the sacrifice which was soon

to be performed by Yudhishthira (in the second canto of Shishupalavadha). (Do)

52. "His vocabulary is copious and his command of the ornaments of style profound."—Substantiate this remark about Magha in relation to Shishupalavadha. (Agra, M. A. 1954)

53. "The history of the epic, in fact, is one of decline in taste and growing artificiality of form."—Comment on this statement in the light of evidence supplied by Meghaduta and Shishupalavadha. (Do)

54. Discuss the linguistic and literary peculiarities of the Shishupalavadha as "an epic of art" and support your statement with suitable illustrations from your text. (B. H. U., M. A. 1955)

55. "माघे सन्ति त्रयो गुणाः"
Write a critical appreciation of the Shishupalavadha kavya in support of the above statement and justify your remarks with apt illustrations and quotations from the text.
(Magadh, M. A. 1965)

56. Discuss that in Magha a great poetic genius was joined to deep learning and supreme literary attainment.
(Magadh, B. A. Hons. 1968)

57. Describe the message of Indra as conveyed by Narada in the first canto of Shishupalavadha.
(Magadh, B. A. Hons. 1969)

58. "Magha was well known for his knowledge of different sciences and arts."

Illustrate the statement with apt references from your text. (Do)

59. What reasons have we to think that the author of Naisadha is the same as that of the Khandana-khanda-khadya ? Discuss the influence of his predecessors on his style.

(Agra, M. A. 1950)

60. Discuss the following statement—
"Shri Harsha's Muse might well be described as a hastini (nayika) though capable of assuming the other forms also." (Do)

61. Analyse any five verses from the Naishadha in order to show what is distinctive in the poetry of Shri Harsha, not found in other writers.

(Agra, M. A. 1952)

62. "In fact, it would be appropriatc to characterize the Paka of Shri Harsha's poem as औषधपाक, as the oft-quoted stanza "नैषधं विद्वदौषधम्" indicates."

Comment and illustrate the above remark.

(Agra, M. A. 1952)

63. "Poetry should be simple, sensuous and passionate."

Estimate the value of Naishadhacharita as a kavya in the light of above statement.

(Agra, M. A. 1954)

64. Is the Naishadhiya only a learned poem or is it a repository of traditional learning and conventional technique ? Support your answer with apt illustrations. (B. H. U., M. A. 1967)

65. A western critic says that the Naishadhiya is a perfect masterpiece of bad taste and bad style. Is the criticism merited ? How would you meet it ? (Do)

66. Write a critical paragraph each on the following–

(a) ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात् ।

(b) Works of Shri Harsha.

(c) Sanskrit poetical conventions and their use by Shri Harsha.

(d) Metres employed in the Naishadhiya.

(e) The changes, if any, effected by Shri Harsha in the original epic story of Nala.

(f) Some noteworthy Sanskrit works on the Nala episode. (Do)

67. Write notes on the growth of historical kavyas in Sanskrit literature mentioning some important works with their authors and their chief characteristics of style.

(Punjab, B. A. 1944)

68. Write a note on Kalhana's Rajatarangini as a Source book of history. (Do)

69. Give an account of Bilhana's family, his country and its rulers, his wanderings and his literary adventures.

(Agra, M. A. 1955)

चतुर्थ परिच्छेद

70. Discuss the date and style of Jagaddhara, writing a short note on the class of poetry to which the Stuti-kusumanjali belongs.

(B. H. U., M. A. 1955)

71. What are the chief characteristics of a religious lyric in Sanskrit ? Analyse them and show their predominance in the Stuti-kusumanjali.

(Magadh. M. A. 1965)

72. What are the philosophical thoughts of the poet of the Stuti-kusumanjali ? Give suitable illustrations and quotations from the text in support of your contentions.

(Magadh, M. A. 1966)

73. Discuss the main features of the Sanskrit lyric and show how far it is successful in portrayal of human feelings par excellence, giving suitable examples in support of your statements.

74. Give a historical sketch of the Sanskrit lyrics with appreciation of at least five Sanskrit lyricists of eminence.

75. Write a short essay on the size and growth of the Stotra literature in Sanskrit.

पञ्चम परिच्छेद

76. Write a concise note on the Sanskrit Romance sketching its origin, development and general characteristics. Distinguish carefully the two

species known as कथा and आख्यायिका. How does Champu differ from these ?

(I. C. S. 1936)

77. Indicate the main type of prose literature in Sanskrit, giving one or more examples of each. How will you account for the paucity of such works and the relative failure of this type of literature in Sanskrit ?

(I. C. S. 1930)

78. Taking the classical literature as a whole, compare the achievements of the prose literature with those of literature in verse, and discuss the causes of disparity between the two.

(Agra, B. A. 1951)

79. In the light of Shukanasa's advice to Chandrapida, write a note in appreciation of Bana's scholarship and worldly wisdom.

(Delhi, B. A. Hons. 1937)

80. "Style is the man"—What is your verdict on Bana, judging him only by his style. (Do)

81. "Bana's prose is to be enjoyed without being imitated."—Comment on this opinion.

(Delhi, M. A. 1938)

82. "Indeed, the chief value of Bana's unique romance lies not in its narrative, not in its characterization nor in its presentation, but in its sentiment and poetry"

Justify with special reference to the Kadambari.

(Agra, M. A. 1955)

83. "Bana was both a poet and painter"

Can you examine and elucidate this statememt with literary evidence from his work?

(B. H. U., M. A. 1968)

84. 'Bana was a poet par excellence"

Write in detail the poetic depiction, with quotations. (Do)

85. Justify the following from the portion of Kadambari which you have read—

"Bana seems to have seen a great lover of Nature. He is never tired of using for poetic purposes the flora and fauna of India"

(B. H. U, M. A. 1967)

86. Mention the poets referred to by Bana in the introduction to the हर्षचरित and consider the appropriateness of Bana's estimate of the literary worth of any three of them.

(B. H. U., B., A. 1946)

87. Make a critical appreciation of Bana as the prince of Sanskrit prose with special reference to his poetical charm, style and diction, as illustrated in Kadambari.

(Magadh, B. A. Hons, 1969)

88. Support the following statement with apt illustrations from your text—

गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति । (Do)

89. "The Dasa-kumara-charita reveals to us the graces of the Kavya Style verified by the genius of the writer"

Analyse the above remark.

(Delhi, M. A. 1939)

90. Examine the following statement—"Dandin has portrayed himself in his romance--the Dasa-kumar-charita".

(Delhi, B. A. Hons 1937)

91. What light does Dasa-kumar-charita throw on the political and social conditions of Dandin's time.

(B. H. U., B. A. 1962)

षष्ठ परिच्छेद

92. Give the chief characteristics and a brief survey of the representative works of didactive fables in Sanskrit.

(B. H. U., B. A. 1954)

93. What part has been played in the world literature by Sanskrit Didactic fable ?

(B. H. U., B. A. 1925)

94. Trace the beginning and growth of the fable literature in India.

(Punjab, B. A. 1947)

95. What information do we gather about the बृहत्कथा from its Sanskrit renderings ?

(Agra, M. A. 1952)

96. Relate briefly the story of the migration of Indian fables and fairy tales. Give some illustrations to show the changes which tales have

undergone in the course of such wanderings from country to country.

(I. C. S. 1936)

97. Estimate India's contribution to the world in the field of fable literature.

(I. C. S. 1937)

98. Give an outline of the history of the fable literature represented by the Pancha-tantra including its passage into Europe.

(I. C. S. 1934)

सप्तम परिच्छेद

99. Give an account of the origin of the Sanskrit Drama discussing the genetic connection, if any, between the dramatic literature of India and that of Greece.

(Delhi, M. A. 1938; B. H. U., M. A. 1957)

100. State and criticize the different theories regarding the origin and evolution of ancient Indian drama, indicating your own preference. What are the main points of agreement and of difference between the Indian drama and the Greek drama and between the Indian drama and the Shakesperean drama ?

(I. C. S. 1940)

101. Trace the origin and development of the Sanskrit drama, and show how far it was governed by the Natyashastra of Bharata.

(I. C. S. 1940)

102. Compare and contrast the traditional account of the origin of the Sanskrit drama with the views held thereon by modern Indologists.

(B. H. U., B. A. 1946)

103. How far in your opinion has the discovery of Bhasa's plays especially that of his Urubhangam met the charge so frequently levelled against Indian literature that absence of any effort at tragedy is its striking characteristic ?

(Punjab, B. A. Hons. 1945)

104. Discuss fully the identity of Bhasa, and examine eritically the various theories with regard to it.

(B. H. U., M. A. 1955)

105. Give your own estimate of the dramatic and poetical excellences of Bhasa, as you find remarkably displayed in his Pancharatra.

(B. H. U., B. A. 1966)

106. Indicate the changes introduced by Bhasa in the plot of Pancharatra from the story in the Mahabharata.

107. What do you know about the different recensions of the Shakuntala ? Which of them is the most original ?

(Agra, M. A. 1939)

108. Describe the sources of the plot of the Abhigyana-Shakuntala and mention the changes made by Kalidasa in the original story.

(B. H. U., B. A. 1955)

109. Discuss critically the statement—

"काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र शाकुन्तलं वरम् ।"

(Agra, M. A. 1954)

110. Discuss the importance of the VI Act of Abhigyan Shakuntala.

(B. H. U., B. A. 1956)

111. "कालिदासस्य सर्वस्वमभिज्ञानशकुन्तलम्"

Substtantiate the truth or otherwise of the remark. (B. H. U., B. A. 1966)

112. Analyse the character of Dushyanta as a man and as a king with apt quotations from your text. (B. H. U., B. A. 1967)

113. Bring out the poetie and dramatic excellences of Kalidasa with illustrations from Abhigyana-Shakuntala. (Do)

114. Discuss the statement—

"The Shakuntala certainly represents the perfection of Kalidasa's art"

(B. H. U., B. A. 1957)

115. "Admirable as is Kalidasa's work, it would be unjust to ignore the fact that in his dramas as in his epics, he shows no interest in the great problems of life and destiny."

How far is the above observation justified ?

(Punjab, B. A. Hons. 1949)

116. What is the exact relation of Shudraka's Mricchakatika to the Daridra—Charudatta of Bhasa ? In the light of your couclusion on the point,

what dates will you assign to the two dramatists ? Give reasons.

(I. C. S. 1938; B. H. U, M. A. 1957)

117. "The author of Mrichhakatika is not merely admirable in characterization but also master of pathos".

Discuss the above statement.

(Punjab, B. A. Hons. 1938)

118. "Though composite in origin and in no sense a transcript from life, the merits of the Mriccha-katika are great and most aptly justify what else would have been an inexcusable plagiarism.

Comment on the above observation.

(Punjab, B. A. Hons 1949)

119. The Mricchakatika is one of the few Sanskrit plays which are not dramatic poems but possess distinctively dramatic qualities which would make a direct appeal to modern taste".

Discuss the above statement.

(Agra, M. A. 1931)

120. What light, if any, do the Prakrits in the Mricchakatika throw on the date of the book ? Write a short note on the principal features of such Prakrits as you find in the play.

(Agra, M. A. 1931)

121. Discuss how far the Mricchakatika may be regarded as a telling challege to social, poetic and dramaturgic conventions.

(Agra, M. A. 1939)

122. Discuss the linguistic and literary peculiarities of the Mricchakatika and give apt illustrations and quotations from your texts in justification of your remark.

(B. H. U., M. A. 1955)

123. "Sudraka is an unhistorical personage"
Criticize the statement. (Agra, M. A. 1951)

124. Write a critical note on the Vidusaka's part in the drama, Mricchakatika.

(Vishwa Bharati, M. A. 1960)

125. Elucidate the remark—

"Sudraka's characters are the citizens of the world" (Do)

126. Write a short note on the general state of society as depicted in the Mricchakatika. Is Mricchakatika a social comedy ?

(Agra, M. A. 1953)

127. Write a critical appreciation of the Mricchakatika with special reference to the development of plot.

(B. H. U., M. A. 1967)

128. Explain the meaning and significance of the title—Mricchakatika.

(Agra, M. A. 1955)

129. State your arguments in support of the remark– "The Ratnavali is a court comedy and not a social comedy like Mricchakatika."

(Agra, M. A. 1950)

130. Compare and contrast the heroes of Mricchakatika and Ratnavali. Whom do you prefer, and why ? Give apt quotations to illustrate your answer.

(Agra, M. A. 1952)

131. Write a short essay upon the Ratnavali under the following heads—

(a) Author and his time.
(b) Merits and demerits.
(c) Critical analysis of the plot.
(d) Character of Udayana.

(B. H. U., M. A. 1956)

132. Write a short critical essay on the dramatic peculiarities of Ratnavali and assess its value as a piece of "Love Comedy". Justify your remarks by apt illustrations. (Do)

133. Discuss, with special reference to Ratnavali, that this play was written specially to illustrate certain principles of dramaturgy.

(B. H. U., M. A. 1968)

134. Give a critical estimate of the role of the supernatural in Ratnavali.

(B. H. U., M. A. 1957)

135. "Ratnavali is an agreeable play with well drawn characters and many poetical beauties"—Explain and examine the statement.

(Vishwa Bharati, M. A. 1960)

136. Consider critically the treatment of the dominant Rasa in the Ratnavali, showing how

the subordinate Rasas used in the play help in the heightening of the dominant Rasa. (Do)

137. "Comparison with Kalidasa is doubtless the cause why Harsha has tended to receive less praise than is his due"

Discuss the above remark.

(Pnnjab, B. A. Hons 1950)

138. Comment fully with suitable illustrations upon–

"The मुद्राराक्षस is remarkable for its unity of action. It may be difficult to find in the whole range of dramatic literature a more successful illustration of this rule."

Consider if this statement is extravagant.

(B. H. U., B. A. 1946)

139. Discuss the uniqueness of the मुद्राराक्षस in the whole field of the Sanskrit Dramatic literature and show how far it has been equalled by a few but surpassed by none.

140. Explain the dramatic purpose of the Tempest scene in the II Act or the Rakhasa episode in the VI Act of the Venisamhara.

(B. H. U., B. A. 1946)

141. "The chief defect of the Venisamhara is its undramatic construction"

Discuss the statement fully, and give your own conclusions.

(Agra, M. A. 1950)

142. "Venisamhara is undramatic"—(Keith)

Examine this statement in view of the fact that the drama has provided largely illustrations to the dramatic canons

(Agra, M. A. 1951)

143. What are the merits and the defects of the Venisamhara as a play ?

(Agra, M. A. 1953)

144. Coment on the remark—

"The third act of the Venisamhara is the poet's master-piece"

(Agra, M. A. 1955)

145. Dr. Keith is of the opinion that the Venisamhara is on the whole undramatic. Indian critics, on the other hand, have praised it as one of the model plays in Sanskrit. Which, according to you, is the correct view and why ?

(Vishwa Bharati, M. A. 1960)

146. Compare and Contrast the characters of Duryodhana and Bhima as you find in the Venisamhara. (Do)

147. Describe the merits of Venisamhara as dramatic work and ascertain its importance among the principal Sanskrit dramas.

(B. H. U., M. A. 1968)

148. Whom do you consider to be the hero of the Venisamhara ? Support your view by suitable references to the text of the play.

(B. H. U., M. A. 1946)

149. Give an outline of the innovations introduced by Bhavabhuti in the plot of his Uttara-Ramacharita with the dramatic significance appearing to each.

(B. H. U., B. A. 1930)

150. Discuss the age of Bhavabhuti, and point out the evolution of his dramatic art in his dramas.

(Agra, B. A. 1931)

151. Compare Bhavabhuti's dramatic art with that of Kalidasa. Who in your opinion is greater? State your reason briefly. (Do)

152. "Bhavabhuti transmutes the tragedy of Valmiki's Ramayan into a tragic—comedy in Uttara—Ramacharita"

Comment on the above statement and set forth the reasons for this change.

(B. H. U., M. A. 1946)

153. With suitable illustrations show how far Bhavabhuti draws upon Nature for his imagery and sentiment. (Do)

154. How does Bhavabhuti prove pathos to be the only sentiment? Support your remarks with apt quotations.

(Agra, M. A. 1951)

155. Write a critical essay upon the dramatic peculiarities of the Uttara-Ramacharita and justify by apt illustrations and quotations the following remarks—

"उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते"

(B. H. U., M. A. 1955)

156. Discuss the dramatic appropriateness either of the Chitra-darshan scene in the I Act of the Uttara-Ramacharita or the Garbhanka in the VII Act of the same play. (Do)

157. "Bhavabhuti excels in the delineation of pathos"– To what extent is this coment applicaple to the drama Uttara-Ramacharita ? Support your answer with proper arguments and illustrations. (Vishwa Bharati, M. A. 1960)

158. Discuss the dramatic significance of the scene of छाया सीतादर्शन in the drama Uttara-Ramacharita. (Do)

159. Compare Bhavabhuti and Kalidasa, bringing out clearly their points of difference and similarity as regards the description of Nature, emotions and character - drawing and their achievement in production of dramatic effect. (I. A. S. 1951)

160. Comment on the view that the Uttara-Ramacharita is ratther a dramatic poem than a play. (Punjab, B. A. 1950)

161. What do you understand by the term 'allegory' ? Give in a short the origin and development of the allegorical plays in Samskrit.

162. Discuss the philosophical background of the Prabodha Chandrodaya and show its importance as a new type of drama in the history of the Samskrit literature.

अष्टम परिच्छेद

163. संस्कृत के आलोचना-शास्त्र के इतिहास में मुख्य सम्प्रदायों का संक्षिप्त परिचय दीजिये तथा इनके विकास का तुलनात्मक समीक्षण कीजिये।

164. संस्कृत का काव्य-शास्त्र पाश्चात्य आलोचना के रेटारिक्स तथा पोइटिक्स से विषय के वैशद्य तथा विस्तार के हेतु कहीं अधिक व्यापक तथा समीक्षात्मक है—इस कथन पर प्रकाश डालिये।

165. What main schools of Samskrit poetics were in vogue before Mammata? give a brief and critical account of them in their chronological order, and point out Mammata's contribution to Samskrit poetics.

(Agra, M. A. 1951)

166. Examine the contention of Mammata that the poet's function in to create a Superior world of reality in which the drawbacks and limitations of the empirical world are transcended.

(Delhi, M. A. 1962)

167. Make a critical estimate of either Mammata's or Anandavardhana's place in the history of Samskrit poeties and point out his main contribution to the subject.

(Aligarh, M. A. 1969)

आचार्य श्री बलदेव उपाध्याय द्वारा रचित ग्रन्थ

१—वैदिक साहित्य और संस्कृति	१५-००
२—आचार्य सायण और माधव	६-००
३—ज्ञान की गरिमा	२-५०
४—पुराण विमर्श	२०-००
५—भारतीय वाङ्मय में श्री राधा	१०-५०
६—भागवत सम्प्रदाय	७-५०
७—भारतीय दर्शन	१६-००
८—भारतीय दर्शन सार	५-५०
९—धर्म और दर्शन	४-००
१०—बौद्ध दर्शन मीमांसा	७-५०
११—शंकर दिग्विजय	१०-००
१२—आचार्य शंकर	१०-००
१३—भारतीय साहित्य शास्त्र (२ भाग)	३०-००
१४—संस्कृत आलोचना	५-५०
१५—संस्कृत साहित्य का इतिहास	१५-००
१६—संस्कृत सुकवि समीक्षा	२०-००
१७—काव्यानुशीलन	४-००
१८—संस्कृत वाङ्मय	६-००
१९—संस्कृत शास्त्रों का इतिहास	१६-००
२०—आर्य संस्कृति के आधार ग्रन्थ	८-००
२१—सूक्ति मंजरी	८-००

सम्पादित ग्रंथ

२२—वेदभाष्य भूमिका संग्रह	५-००
२३—भरत-नाट्यशास्त्र	३०-००